श्री उत्तराध्ययन सूत्र

का

हिन्दी अनुवाद

मूल अनुवादक

कविवर्य पंडित श्री नानचन्दजी स्वामी के

सुशिष्य

लघु शतावधानी पं० मुनि श्री सौभाग्यचंद्रजी म०

वीर संवत २४६१] 卐 [वि० स० १९९२

मूल्य एक रुपया

ॐ

समर्पण

वंदनीय गुरुदेव

कविवर्य श्री नानचंदजी स्वामिन् !

अभ्यास, चिन्तन तथा असाम्प्रदायिकता का इस सेवक में जो भी विकास हुआ है वह सब आपकी ही असीम कृपा का फल है। इस आभारवश यह पुस्तक आपके कर-कमलों में सादर समर्पण करते हुए मुझे परम हर्ष होता है।

मुनि सौभाग्य

आमुख

अजमेर अधिवेशन के समय अमरेली निवासी श्रीमान् सेठ हंसराज भाई लक्ष्मीचंदजी ने धार्मिक ज्ञान के प्रचार के लिये और आगमोद्धार के लिये अपनी कान्फरेन्स को १५०००) की रकम अर्पण की थी। इस फंड की योजना उसी समय जैन प्रकाश में प्रगट हो गई थी।

उस फंड में से यह प्रथम पुस्तक प्रकाशित की जाती है।

लघुशतावधानी पंडित श्री सौभाग्यचंदजी महाराज ने अपने आगमों का गुजराती अनुवाद प्रगट करने का शुभकार्य शुरु कर दिया है। और उसका प्रकाशन श्री महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद की तरफ से सुचारुरूप से हो रहा है। अपने आगमों का सरल एवं सुंदर गुजराती अनुवाद सस्ते साहित्य के रूप में निकाल कर धार्मिक ज्ञान के प्रचार की इस सुन्दर योजना का लाभ हिन्दुस्थान के अन्य जैनी बन्धुओं को मिले। इस शुभाशय से, इस योजना द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद श्री हंसराज जिनागम समिति ने प्रकाशित करने का निर्णय किया है।

इस हिन्दी अनुवाद को भी यथाशक्ति सरल और भाववाही बनाने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक की कीमत करीब लागत के बराबर ही रक्खी गई है।

इसके बाद श्री दशवैकालिक सूत्र का अनुवाद प्रकाशित किया जायगा। आशा है कि जिस धर्म भावना से श्री हंसराज भाई ने यह योजना की है, उसका पूर्ण सदुपयोग होगा।

सेवक

चीमनलाल चकुभाई

सहमन्त्री

श्री अ. भा. श्वे. स्था. जैन कान्फरेन्स

दानवीर श्रीमान् सेठ हंसराजभाई लक्ष्मीचन्द
अमरेली (काठियावाड़)

वक्तव्य

जब से उत्तराध्ययन सूत्र का वांचन किया था तभी से इस सूत्र के प्रति हृदय में एक विशेष आकर्षण पैदा हुआ था और ज्यों २ अन्य सूत्रों एवं ग्रंथों का अभ्यास होता गया त्यों २ वह आकर्षण भिन्न २ रूप में परिणत होता गया। उसके बाद तो इतर दर्शनों के, उसमें भी खास करके वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, वेदान्त इत्यादि दर्शनों के साहित्य के अभ्यास एवं निरीक्षण करने का समय मिलता गया तथा इनके सिवाय अन्य प्रचलित मत, मतान्तर, दर्शन, वाद इन सब का अवलोकन जो कुछ भी होता गया त्यों २ जैनदर्शन के प्रति कुछ विशेष मात्रा में अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई और ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

सबसे पीछे बौद्ध-दर्शन के मौलिक ग्रंथ पढ़ने को मिले। उनका जैन साहित्य के साथ तुलनात्मक अभ्यास करने में बड़ा ही रस आया। बौद्ध साहित्य पढ़ जाने के बाद जैन साहित्य के प्रति आदर-भाव विशेषतम हुआ ही, किन्तु उसकी परिणति पहिले की अपेक्षा किसी दूसरे ही रूप में हुई। परंपरागत संस्कार से, जैनदर्शन यह विश्वव्यापी दर्शन है—ऐसा मान रक्खा था उसके बदले जैनदर्शन की विश्वव्यापकता किस तरह और क्यों है इन प्रश्नों पर विशिष्ट चिन्तवन करने का जो अवसर मिला। वह तो बौद्ध धर्म के विशिष्ट वांचन के बाद ही और उसी वांचन का यह परिणाम है कि जैनधर्म पर पहिले की अपेक्षा और भी श्रद्धा भक्ति बढ़ गई; किन्तु इसकी दिशा कुछ दूसरी ही तरफ रही और तब से यह निश्चय होता गया कि इन सब को तुलनात्मक दृष्टि से विचार कर उन विशेषताओं को प्रकाश में लाना चाहिये।

वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और लोकोपयोगिता की दृष्टि से जैनदर्शन में क्या २ विशेषताएं हैं ? लोक मानस का निदान करने का उसके पास कौनसा रसायन है ? आदि सभी प्रश्नों के उत्तर हृदयमंथन होने पर उन २ दृष्टियों से जो २ बुद्धिग्राह्य लगा उसके गाढ़ संस्कारों का चित्र मानस पट पर अंकित होता गया।

वैसे तो भगवान महावीर के सभी सूत्रों में अमृत वचन भरे पड़े हैं, किन्तु उनमें से सबसे पहिले उत्तराध्ययन को बिल्कुल नये ढंग से संस्कारित करने की भावना उद्भव होने के दो कारण थे, (१) सरलता, और (२) सर्वव्यापकता। और इसीलिये सबसे पहिले उसको नवीनता देने की जिज्ञासा सतत बनी रहती थी। उसके साथ ही साथ भिन्न २ दृष्टि बिन्दुओं से जैन वाङ्मय को गुजराती भाषा में विकसित करने के मनोरथ भी हृदय में उठते रहते थे।

मानसशास्त्र का नियम है:–'जापर जाकर सत्य सनेहू सो तेहि मिले, न कछु सन्देहू।' जिसकी जैसी भावना होती है उसकी पूर्ति के लिये साधन भी वैसे ही मिल जाया करते हैं। मानों उन हार्दिक आन्दोलनों का ही यह परिणाम था कि कुछ ही समय बाद एक तत्त्वजिज्ञासु भाई भी मिल गये। "महावीर के अमोल सर्वतोग्राही अमृत वचन घर घर में क्यों न पहुँचे ?"—यह हार्दिक प्रेरणा उनके हृदय में द्वन्द्व मचा रही थी। उन भाई का नाम है श्री० चुधाभाई महासुखभाई। उनकी प्रेरणा से एक दूसरे सेवाभावी–बन्धु भी आ मिले और उनका नाम है श्री० जूठाभाई अमरशीभाई। उन तथा अन्य दूसरे सद्गृहस्थों ने मिल कर परस्पर विचार करने के बाद जुदी २ योजनाओं में से एक खास योजना निश्चित की।

उस योजना के फलस्वरूप 'महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर' नाम की संस्था स्थापित हुई। उसके जो २ विद्वान, सभ्य हुए उनने सेवावृत्ति को सामने रख कर लोकसेवा के लिये बिलकुल सस्ता साहित्य प्रकाशित करने का निश्चय किया।

इस प्रकार अपनी तीव्र हार्दिक इच्छा को तत्काल ही फलवती होते देखकर मुझे संतोष तो हुवा ही, परन्तु उसके साथ ही साथ मेरे संकल्प बल को भी सर्वोत्तम प्रोत्साहन मिला और इस दिशा में अधिकाधिक प्रयत्न करने का इस संस्था के द्वारा एक उत्तम सुअवसर मिला और उससे मुझे जो आल्हाद हुआ उसका वर्णन निर्जीव शब्दों द्वारा कैसे किया जा सकता है ?

जब से श्री उत्तराध्ययन सूत्र का गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है तब से केवल ३ मासों में इसकी दो आवृत्तियां हाथों हाथ बिक गई हैं। जैन एवं जैनेतर विद्वानों ने इस प्रकाशन की मुक्तकंठ से भूरि २ प्रशंसा की है और दिन पर दिन मांग हो रही है इससे सिद्ध होता है कि इस ग्रंथ को समाज ने खूब ही अपनाया है और इसी तरह की दूसरी उपयोगी आवृत्तियां यदि प्रकाशित की जांय तो वह समाज एवं धर्म, दोनों के लिये हितकर होगा—ऐसी आशा है।

हिन्दी भाषाभाषी जैन समाज भी इन प्रकाशनों का लाभ ले सके इस शुभ उद्देश्य से श्री स्थानकवासी जैन कान्फरेन्स के जनरल सेक्रेटरीज़ श्रीमान् सेठ वेलजी लखमशी नप्पु तथा श्रीमान् चिमनलाल चकूभाई सोलिसीटर ने महावीर साहित्य कार्यालय की अनुमति से "श्री हंसराज जिनागम विद्या प्रचारक फंड समिति" की तरफ से इस ग्रंथ को हिन्दी में अनुवादित कराकर प्रकाशित किया है और मुझे पूर्ण आशा है कि हिन्दी भाषी बन्धु इसका पूर्ण रूप से लाभ लेंगे।

आज हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन सूत्र की दीपिका, टीका, अवचूरी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, गुजराती तथा हिन्दी टीकाएं भिन्न २ संस्थाओं की तरफ से एक खासी संख्या में प्रकाशित हो चुकी हैं; तो फिर इस उत्तराध्ययन के अनुवाद में खास विशेषता क्या है ? इस प्रश्न का सीधा तथा सरल एक जवाब तो यही है कि उन सब के होने पर भी जैनवाङ्मय से जैनेतर वर्ग बिलकुल अजान ही बना हुआ है इतना ही नहीं, किन्तु स्वयं

जैन भी उस वस्तु से लगभग अपरिचित से हैं और यह बात अपनी आधुनिक धार्मिक अव्यवस्था से भलीभाँति प्रकट हो रही है।

ऐसा होने के तीन कारण हैं:—

[१] सूत्रों की मूल भाषा की अज्ञानता।
[२] अनुवाद शैली की दुर्बोधिता।
[३] मूल्य की अधिकता।

शिष्ट साहित्य के प्रचार की दृष्टि से की गई यह योजना उक्त तीनों कठिनाइयों को दूर करने में उपयोगी होगी ऐसी आशा है।

पद्धति

तुलनात्मक दृष्टि के संस्कारों की छाप मुझ पर कैसी एवं किस प्रकार की पड़ी है? और उसमें मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ? इन प्रश्नों का निर्णय तो स्वयं वाचक महानुभाव ही करेंगे किन्तु इस उत्तराध्ययन का सांगोपांग अनुवाद करते समय जो जो खास दृष्टियां लक्ष्य में रक्खी गई हैं उनके विषय में संक्षेप में अपना दृष्टिविन्दु उपस्थित करना मुझे आवश्यक जान पड़ता है।

(समाज-दृष्टि) जैनदर्शन यह दावा करता है कि वह विश्वव्यापी धर्म है और खुले आम इस बात की घोषणा करता है कि मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार प्रत्येक जीव को है, मात्र आवश्यकता है योग्यता की। इसीलिये साधु, साध्वी और श्रावक, श्राविका इन चारों अंगों को 'संघ' की संज्ञा दी गई है और उन सब को मोक्षप्राप्ति का समान अधिकार भी दिया गया है। विचारणीय विषय यह है कि ऐसे उदार शासन (धर्म) के सिद्धान्तों में केवल एक ही पक्ष को लागु कोई एकान्त वचन कैसे हो सकता है? इसलिये गृहस्थ जीवन में भी त्याग हो सकता है और इसीलिये भगवान महावीर ने अणगारी (साधु) एवं अगारी (गृहस्थ) ये दो प्रकार के स्पष्ट मार्ग बताए हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में एक जगह गृहस्थ के त्याग की महिमा का उल्लेख मिलता है:—

"सन्ति एगेहिं भिक्खुहिं गारत्था संजमुत्तरा"

अर्थ—"बहुत से कुसाधुओं की अपेक्षा संयमी गृहस्थ उत्तम होते हैं"। सारांश यह है कि गृहस्थ जीवन में भी मोक्ष की साधना की जा सकती है और मर्यादित संयम धारण किया जा सकता है। सूत्रकारों के इस उदार आशय को लक्ष्य में रखकर यहां उस शैली का उपयोग किया गया है जो साधु एवं गृहस्थ इन दोनों को समान रूप से लागु पड़ती है।

[भाषादृष्टि] भाषा की दृष्टि से तथा आसपास के संयोगों को देखते हुए वास्तविक मौलिकता के निर्वाह के लिये कुछ खास अर्थ किये गये हैं। यद्यपि उनमें परंपरा की मान्यता की अपेक्षा कुछ नवीनता अवश्य मालूम होती है किन्तु वह भिन्नता उचित है और सूत्रकारों के आशय के अनुकूल होने से उनकी तरफ वाचकवर्ग अपनी सहिष्णुता दिखायेंगे इसी आशा से उस भिन्नता को स्थान दिया गया है। भिन्नता के दो-चार दृष्टान्त यहां देने से विशेष स्पष्टीकरण हो जायगा। 'नीयवट्टी' यह प्राकृत शब्द है और इसका संस्कृत अर्थ 'नीचवर्ती' होता है। परंपरा के अनुसार इसका अर्थ गुरु से नीचे आसन पर बैठनेवाला, ऐसा प्रचलित है। किंतु थोड़ा शान्त एवं गहरा विचार करने से मालूम होगा कि यह अर्थ बहुत ही संकुचित है, इतना ही नहीं प्रसंगानुसार असंगत भी है। इस शब्द का असली रहस्य अत्यन्त नम्रता सूचक है और तथानुगत प्रसंग में 'मैं कुछ भी नहीं हूँ ऐसी नम्रतायुक्त भावनावाला, यह अर्थ विशेष प्रकरणसंगत एवं अर्थसंगत मालूम होता है। इसी तरह 'गुरुणामु-ववाय कारए' में भी गुरु के समीप रहने का भाव, व्यंजनाशक्ति से केवल यही हो सकता है कि 'गुरु के हृदय में रहने वाला'; और यही अर्थ अधिक युक्त एवं व्यापक हो सकता है। क्या भगवान महावीर के सभी शिष्य उनके पास ही रहते थे? इसीलिये वैसा अर्थ योग्य न लगने से दूसरा अर्थ संबंधी खुलासा टिप्पणी में किया है इसी तरह दूसरे खुलासे भी यथायोग्य रीति से जहां २ प्रसंग एवं आवश्यकता मालूम पड़ी हैं वहां २ किये हैं।

[अर्थदृष्टि] इसी प्रकार किन्हीं किन्हीं गाथाओं के अर्थ भी परंपरा से कुछ जुदे ही रूप में होते चले आ रहे हैं, जैसेः—

"सपूव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा एसोवमा सासयवाइयाणं
विसीयई सिढिले आयुयम्मि कालोवणीए सरीरस्स भेए।"

संस्कृत छाया

"सपूर्वमेवं न लभेत पश्चाद् एषोपमा शाश्वतवादिकानाम्
विषीदति शिथिले आयुषि कालोपनीते शरीरस्य भेदे।"

इसका अर्थ टब्बा की परंपरा के अनुसार इस प्रकार होता हैः—

"जो पहिले नहीं हुआ तो पीछे होगा"—ऐसा कहना ज्ञानी पुरुषों के लिये योग्य है, क्योंकि वे अपने भविष्यकाल को भी जानते हैं, किंतु यदि सामान्य मनुष्य भी वैसा ही मानने लगे और अपनी उन्नति के मार्ग का अनुशीलन किये बिना ही रहे तो मृत्यु समय उन्हें खेद करना पड़ता है।" ऐसा अर्थ करने से यहां २ प्रश्न उठते हैंः—(१) चालू प्रसंग में ज्ञानी के विषय में ऐसा कथन करना क्या उचित है? यदि कदाचित घटित भी हो तो भी शाश्वतवादी विशेषण ज्ञानीवाची कैसे हो सकता है? क्योंकि शाश्वतवादी एवं शाश्वतदर्शी इन दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है। हरेक वस्तु को नित्य (शाश्वत) कह देना यह तो सब किसी के लिये सुलभ है किन्तु नित्य दर्शन तो केवल ज्ञानी पुरुष ही कर सकते हैं? (२) ज्ञानी अर्थ करने पर भी क्या इन दोनों पदों का पूरा अर्थ बराबर घटित होता है? इन सब प्रश्नों का विचार करने पर जो अर्थ उचित मालुम देता है वह इस प्रकार हैः—

"जो पहिले प्राप्त नहीं होता वह पीछे भी प्राप्त नहीं होता" अर्थात् समस्त जगत की रचना निश्चित है। पहिले जो था वही आज है और वही सदा बना रहेगा। लोक भी शाश्वत है और आत्मा भी शाश्वत है, हम उसमें कुछ भी फेरफार नहीं कर सकते हैं? तो फिर आत्मविकास

की आवश्यकता ही क्या रही ? इस तरह की शाश्वतवादियों ('नियति-वादियों) की मान्यता होती है, किन्तु जब आयु शिथिल होती है तब उसकी भी वह मान्यता बदल जाती है और उस समय उसको खूब पश्चात्ताप होता है।"

[अनुवाद शैली] अनुवाद दो प्रकार के होते हैं:—(१) शब्दार्थ प्रधान अनुवाद, और (२) वाक्यार्थ प्रधान अनुवाद। शब्दार्थ प्रधान अनुवाद में शब्द पर जितना लक्ष्य दिया जाता है उतना लक्ष्य अर्थ-संकलना पर नहीं दिया जाता। इसमे शब्दार्थ तो स्पष्ट रीति से समझ में आ जाते हैं किन्तु भावार्थ समझने में बड़ी देर लगती है। और कई बार तो बड़ी कठिनता भी मालूम होती है। किन्तु वाक्यार्थ प्रधान अनुवाद में शब्दों के फुटकर अर्थ गौण कर दिये जाते हैं परन्तु वाक्य रचना एवं शैली इतनी सुन्दर तथा रोचक होती है कि वांचक के हृदय पट पर उसको पढ़ते पढ़ते उसके गंभीर रहस्य क्रमशः अंकित होते चले जाते हैं और ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के उद्देश्य इस शैली से भली प्रकार संपन्न होते हैं। इस ग्रंथ के अनुवाद में यद्यपि मुख्यतया इसी शैली का अनुसरण किया गया है फिर भी मूलगत शब्दों के अर्थों को कहीं नहीं छोड़ा है और साथ ही साथ इसका भी यथाशक्य ध्यान रखा है कि भाषा कहीं टूटने न पाये और सबकी समझ में सरलता के साथ आसके ऐसी सुबोध एवं सुगम्य हो।

[टिप्पणी] जैन तथा जैनेतर इनमें से प्रत्येक वर्ग को समझने में सरलता हो इस उद्देश्य से उचित आवश्यक प्रसंगों पर टिप्पणियां भी दी गई हैं। ये टिप्पणियां यद्यपि छोटी हैं किन्तु अपने श्लोक के अर्थ को विशेष स्पष्ट करती हैं। इसके साथ ही साथ प्रत्येक अध्ययन का रहस्य समझाने के लिये प्रायः सभी अध्ययनों के आदि तथा अन्त में छोटी २ टिप्पणियां दी गई हैं। पद्य शैली कितनी ही सुन्दर एवं विस्तृत क्यों न हो किन्तु उसमें कुछ न कुछ विषय अकथ्य—अवर्णित—अध्याहार

रूप में रह ही जाता है, इन टिप्पणियों द्वारा यथाशक्य उस कमी की पूर्ति की है ।

[संस्कार]—अर्थ करते समय सरल से सरल शब्द और केवल बोलचाल की भाषा ही व्यवहृत करने का बहुत अधिक ध्यान रक्खा है। बहुत से पारिभाषिक शब्दों में सुन्दरता लाने के लिये उनके मूल रहस्य की रक्षा करते हुए कहीं २ पर भाषा संस्कार भी किया है, जैसे 'निग्गंथ' अर्थात् निर्ग्रंथार्थी, मोक्षार्थी। इस शब्द का जैन परिभाषा में प्रायः इन्हीं अर्थों में उपयोग होता है किन्तु यदि इसी शब्द का मुमुक्षु किंवा मोक्षार्थी अर्थ में व्यवहार करें तो वह और भी विशेष सुन्दर एवं व्यापक होगा। इसी तरह अन्य बहुत से शब्द, जैसे कि, संग, कामगुण, गृद्धि आदि सभी पारिभाषिक शब्दों को उचित प्रसंगों में प्रकरण संबंध तथा भाषा संबंधी आधुनिक संस्कारिता तथा शैली को निभाते हुए संस्कारित किया है। फिर भी सूत्र के मूल आशय में किंचिन्मात्र भी फेरबदल न हो, इसका सर्वत्र एवं सर्वदा ध्यान रक्खा है।

[सूत्र की जीवन व्यापकता] अहिंसा के सिद्धान्त का गंभीर प्रतिपादन, त्यागाश्रम की योग्यता, विश्वव्यापी प्रेम, स्त्री पुरुषों के समानाधिकार, संयम की महत्ता, कर्मावलंबी वर्ण व्यवस्था, जातिवाद का घोर खंडन, गृहस्थ श्रावक के कर्त्तव्य, आदि आदि इतने उत्तम पदार्थ पाठ भगवान महावीर के प्रतिपादित प्रवचनों में स्पष्ट रूप से मिल जाते हैं कि आज के वर्तमान युग को धार्मिक दिशा की तरफ लेजाने में बहुत ही प्रेरणा-जनक सिद्ध होंगे। सूत्र की यह जीवनव्यापी दृष्टि स्पष्ट करने की तरफ इस तमाम अनुवाद में सविशेष ध्यान रक्खा गया है।

(असाम्प्रदायिकता)—सामान्यतः केवल एक ही प्रकार की साम्प्रदायिकता अथवा मान्यता को पुष्ट न करते हुये केवल तात्त्विक बुद्धि पूर्वक ही कार्य करने के उद्देश को अन्त तक मध्ये नज़र रक्खा है। इन सब दृष्टि बिन्दुओं को लक्ष्य में रखने का एक ही कारण है और वह

यह है कि इस ग्रन्थ में अन्तर्भूत भगवान महावीर की प्रेरणात्मक वाणी का लाभ जैन, जैनेतर सब कोई ले सकें।

सहायक

इस अनुवाद में जो कुछ भी असाम्प्रदायिकता आ सकी है वह सब मेरे पूज्य गुरुदेव श्री नानचन्दजी महाराज की संस्कृति का ही अनुग्रह है, इतना ही नहीं किन्तु इस अनुवाद को सांगोपांग देख जाने तथा यथास्थान संशोधन कर अपने विशाल अवलोकन का लाभ उनने दिया है उस अनुपम एवं अतुल्य उपकार को हृदय से मान कर अपने कथन को समाप्त करता हूँ।

'सन्तबाल'
घाटकोपर—मुंबई
चातुर्मास्य निवास–सं० १९९१

उपोद्घात

भगवान महावीर के उपलब्ध सूत्रों को दो विभागों में बाँटा है (१) अंगप्रविष्ट, और (२) अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट सूत्रों का गुंथन गणधरों (भगवान महावीर के पट्टशिष्यों) ने किया है और अंगबाह्य सूत्रों का गुंथन गणधरों ने तथा पूर्वाचार्यों ने किया है। किन्तु उन दोनों में उपदिष्ट तात्त्विक सूत्र भगवान महावोर एवं उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के आत्मानुभव के ही प्रसाद हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र का समावेश अंगबाह्य सूत्रों में होता है फिर भी यह संपूर्ण सूत्र सुधर्मस्वामी (भगवान महावीर के ११ गणधरों में से पाँचवें, जिनका गोत्र अग्नि वैश्यायन था उन) ने जंबूस्वामी (सुधर्म स्वामी के शिष्य) को संबोधन करके कहा है; और उसमें जगह जगह "समयं गोयम मा पमायए", "कासवेण महावीरेण एवमक्खायं" इत्यादि आये हुए सूत्र इस बात की साक्षी देते हैं कि भगवान महावीर ने अपने जीवन काल में इन सूत्रों को गौतम के प्रति कहा था।

* जैन परम्परा के अनुसार उत्तराध्ययन का कालनिर्णय

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तथा श्वेताम्बर स्थानकवासी इन दोनों सम्प्रदायों को मान्य बत्तीस सूत्रों में यह एक उत्तम सूत्र है और अंग उपांग,

---

* "उत्तराध्ययन नी ओलखाण" नामक निबंध प्रोफेसर मिस्टर दवे महाशय ने लिखा है जो ज्यों का त्यों आगे दिया गया है। यहां तो मात्र जैन परम्परा की मान्यतानुसार विचार किया गया है।

मूल और छेद इन चार विभागों में से मूल विभाग में इसकी गणना की जाती है।

भगवान महावीर के मोक्ष जाने के बाद (बारह वर्ष पीछे गौतम स्वामी मुक्त हुए थे) उनके पाट पर ब्राह्मणकुलजात श्री सुधर्मस्वामी आये और वीर निर्वाण के २० वर्ष पीछे वे भी मुक्त हुए। उनके बाद उनके पाटपर श्री जंबूस्वामी विराजमान हुए—'(वीर वंशावलि, जैन साहित्य संशोधक)"

इस कथन पर से उत्तराध्ययन की प्राचीनता तथ अद्भुतता स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है।

पूर्वकालीन भारत—धार्मिक युग

भगवान महावीर का युग—एक धार्मिक युग तरीके माना जाता है। उस युग में तीन धर्म मुख्य थे; जिनके नाम वेद, जैन और बौद्ध धर्म हैं।

उस समय वेद और जैन ये दो धर्म प्राचीन थे, बौद्ध धर्म अर्वाचीन था। एक स्थान पर डाक्टर हर्मन जैकोबी आचारांग सूत्र की प्रस्तावना में लिखते हैं:—

"It is now admitted by all that Nataputta (gnatiputra), who is commonly called Mahavir or Vardhamana, was a contemporary of Buddh; and that the Niganthas (Nigranthas) now better known under the name of Jains or Arhats, already existed as an important sect at the time when the Buddhist church was being founded."

यह बात अब सर्वमान्य हो चुकी है कि नातपुत्र (ज्ञातिपुत्र) जो महावीर अथवा वर्धमान के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं, वे बुद्ध के समकालीन थे और निगंथ (निर्ग्रंथ) जो आजकल जैन अथवा आर्हत नाम से

विशेष प्रसिद्ध हैं, वे उस समय एक प्रभावशाली संघ के रूप में विद्यमान थे जब कि बौद्धधर्म की स्थापना की जा रही थी।

इससे यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्य विद्वान, जो पहिले बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म को अर्वाचीन मानते थे,वे अब पुष्ट प्रमाण मिलने पर उसकी प्राचीनता को पूर्ण रूप से स्वीकार करने लगे हैं। इसके पहिले डॉ० वेबर, डॉ० लेसन प्रभृति कुछ उद्भट विद्वानों ने ऐसी भूल कैसे कर डाली—ऐसी यदि किसी को शंका हो तो उसका समाधान डॉ० हर्मन जेकोबी ने जैन सूत्रों की प्रस्तावना में इस प्रकार किया हैः—

प्रो० लेसन ने इन दोनों धर्मों को एक ही माना है और वैसा मानने में निम्नलिखित चार कारण दिये हैं:—

(१) भाषादृष्टिः—बुद्ध का संपूर्ण मौलिक साहित्य पाली भाषा में है किन्तु भगवान महावीर का साहित्य अर्ध मागधी भाषा में है। इन दोनों साहित्यों में उन्हें बहुत अंशों में भाषा की समानता दिखाई दी।

(२) कई एक पारिभाषिक शब्द दोनों में एक ही हैं, जैसे कि जिन, अर्हत, सर्वज्ञ, सिद्ध, बुद्ध, परिनिवृत्त, मुक्त आदि २।

(३) अतीत तीर्थङ्करों की प्रायः बिलकुल मिलती हुई गुण पूजा।

(४) अहिंसा आदि कई एक सिद्धान्तों की स्थूल समानता।

किन्तु डॉ० हर्मन जैकोबी ने अपनी जैनसूत्रों की प्रस्तावना में इन चारों कारणों पर खूब ही विस्तृत विश्लेपण कर वेद तथा बौद्ध धर्मों के सिद्धान्तों से जैन धर्म के सिद्धान्त बिलकुल भिन्न हैं, इतना ही नहीं किन्तु अनेक विषयों में तो जैनधर्म की बहुत सी विशेषताएं हैं इन बातों को अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध कर दिखाई हैं।

जैन धर्म का प्रचार

यहां पर एक शंका यह की जा सकती है कि जैन धर्म के विश्वव्यापी सिद्धांत होने पर भी बौद्ध धर्म के प्रचार के समान उसका प्रचार भारतवर्ष

के सिवाय इतर देशों में क्यों नहीं हुआ? इसके अनेक कारण हैं जिनमें निम्न लिखित कारण भी हैं:—

(१) भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्वनाथ की परंपरा की अपेक्षा अधिक कठोर विधिविधानों की स्थापना की थी जिससे जैन धर्म के प्रचारकों में मुख्य श्रमणवर्ग भारतवर्ष के बाहर नहीं जा सका था।

(२) प्रचार करने की अपेक्षा धर्म के संगठन पर तत्कालीन जैन-संस्कृति का विशेष लक्ष्य रहा होगा।

इतना प्रसंगोचित विवेचन करने के बाद अब हम उत्तराध्ययन की विशेषता पर विचार करते हैं।

जैन धर्म के विशिष्ट सिद्धान्त

(१) आत्मा का नित्यत्वः—आत्मा को परिणामी नित्य माननी चाहिये अर्थात्—एकान्त कूटस्थ नित्य अथवा केवल अनित्य—नहीं माननी चाहिये।

आत्मा अखंड नित्य होने पर भी कर्मवशात् उसका परिणमन तो हुआ ही करता है जैसा कि कहा भी है:—

> नो इंदियगेज्झो अमुत्तभावा,
> अमुत्तभावा वि अ होइ निच्चो
> अज्झत्थहेउं निययस्स बंधा,
> संसारहेउं च वयंति बंधं।

अर्थात्—आत्मा अमूर्तिक है और इसी कारण से वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष देखी नहीं जा सकती, उसको छुई नहीं जा सकती। और वह अमूर्त होने से नित्य है किन्तु अज्ञानवशात् वह कर्मबंधनों में जकड़ी हुई है और वही बंधन तो यह संसार है।

सांख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है और बौद्ध धर्म इसे एकांत अनित्य मानता है। गहरा विचार करने पर ये दोनों ही सिद्धांत

अपूर्ण मालूम होते हैं क्योंकि यदि कूटस्थ नित्य मानेंगे तो इसमें परिणमन नहीं हो सकेगा, जब परिणमन ही नहीं होगा तो बन्धन भी नहीं हो सकता और जहां बन्धन ही नहीं है वहां मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न ही कोई क्यों करेगा? उसकी भी कुछ आवश्यकता नहीं रहेगी।

किन्तु हमें तो क्षण-क्षण में दुःख का संवेदन होता है, शरीर के अच्छे बुरे प्रत्येक प्रसंग में आत्मा शुभाशुभ भावों का अनुभव करती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा स्वयं नित्य होने पर भी कर्म-बन्धनों से बंधी हुई है।

दूसरी तरफ यदि आत्मा केवल अनित्य ही होती, तो फिर पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि किसी बात की भी संभावना हो ही नहीं सकती और कर्म करनेवाली आत्मा ही जब नष्ट हो जाती है तो उसके किये हुए कर्मों का फल कौन भोगेगा? इत्यादि प्रकार की अनेक असंबद्धताएं दिखाई देती हैं। यही कारण है कि जैनदर्शन ने आत्मा को परिणामी नित्य मानी है।

(२) संसार का अनादित्वः—जैनदर्शन यह मानता है कि इस सृष्टि का उत्पन्न करनेवाला ईश्वर नहीं है। यह सृष्टि अनादि एवं अनंत है अर्थात् इसका कभी भी न तो प्रारंभ ही हुआ था और न कभी इसका अन्त ही होगा। बहुत से धर्म यह मानते हैं कि प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है और कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। जैसे एक घड़ा है, यह एक कार्य है तो उसका कारण (कर्ता) भी कुंभार है। कुंभार के बिना घड़ा नहीं बन सकता। इसी तरह छोटे बड़े प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कर्ता अथवा प्रेरक अवश्य होता है। यह संसार (सृष्टि) भी एक कार्य है इसलिये इसका भी एक कर्ता है और उसीका नाम ईश्वर अथवा प्रकृतिशक्ति है।

यदि इन दलीलों को मान लिया जाय तो निम्नलिखित शंकाएं पैदा होती हैं:—

(अ) यदि यावन्मात्र कार्यों का संचालक ईश्वर को मान लें तो जीवों को सुख दुःख देने में उसके ऊपर पक्षपाती होने का दोष आता है (अर्थात् जो जीव सुखी हैं उन पर उसका प्रेम है और जो दुःखी हैं उन पर उसकी अवकृपा है) क्योंकि संसार में यह नियम है कि बिना इच्छा के कोई काम नहीं किया जाता और यह इच्छा होना इसीका अपर नाम राग-द्वेष है। और जो आत्मा राग-द्वेष से मलीन है वह सर्वज्ञ या परमात्मा ही कैसे हो सकती है ?

(ब) यदि सृष्टि उत्पन्न करनेवाली कोई शक्तिविशेष मानी जाय तो उसका कर्ता अथवा उसका स्वामी भी उसके अतिरिक्त किसी दूसरे को मानना ही पड़ेगा और फिर इसका स्वामी, इस तरह स्वामियों की एक के बाद एक ऐसी परम्परा सी लग जायगी, जिसका कभी अन्त ही न होगा और इस तरह से अनवस्था दोष आ जायगा।

(क) ईश्वर अथवा उस अकल्प्य शक्ति पर आधार रखने से पुरुषार्थ के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता है। जब पुरुषार्थ ही कोई चीज़ नहीं तो जीवन भी व्यर्थ है और जब जीवन ही व्यर्थ है तो फिर जगत का कुछ कारण ही नहीं है। इसीलिये जैनधर्म कहता है:—

"अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य"

अर्थात् आत्मा ही अपने कर्मों की कर्त्री है और वही सुख-दुःख की भोक्त्री है। यदि मैं किसी दूसरे के कर्मों के कारण दंडित किया जाऊं अथवा करूं मैं, और भोगे कोई दूसरा, तो यह बात बिलकुल हास्यास्पद एवं अघटित मालूम होगी। इसीसे यह बात सिद्ध होती है कि इस सृष्टि को किसी ईश्वर अथवा शक्ति ने नहीं बनाया है, और न इसका कोई प्रेरक ही है क्योंकि राग-द्वेष से रहित सिद्ध आत्मा का संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

(३) आत्मसंग्राम—संसार में कहीं भी नजर फैलाओ, कहीं भी और किसी भी काल में देखो, सभी जगह 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का

मामला दिखाई दे रहा है। छोटे जन्तुओं को बड़े जन्तु, और उनसे बड़े उनको खाकर अपना निर्वाह कर रहे हैं। और इस तरह स्वार्थों के पारस्परिक द्वन्द्व—युद्ध भिन्न २ क्षेत्रों में भिन्न २ रीति से चल रहे हैं। जहाँ कहीं भी देखो, जबर्दस्त खेंचातान, छीनाझपटी, मारामारी, काटाकाटी आदि के भीषण संघर्षण चलते नज़र आते हैं।

किन्तु जैनधर्म कहता है कि "इन बाह्य लड़ाइयों की अपेक्षा अन्दर की लड़ाई लड़ो। बाह्य लड़ाइयों को बन्द करो, तुम्हारा सच्चा कल्याण, तुम्हारा सच्चा हित, तुम्हारा सच्चा साध्य यह सब कुछ तुम में ही है। बाहर तुम जिस वस्तु की शोध कर रहे हो वह बिलकुल मिथ्या है। अपने किसी भी सुख के लिये दूसरों पर अत्याचार हिंसा अथवा युद्ध करना आदि सभी व्यर्थ है" जैसा कि कहा भी हैः—

अप्पाणमेव जुज्झाहि किंते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥ १ ॥

तथा

वर मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहिं वहेहि य ॥ २ ॥

अर्थः—(१) बाहर के युद्धों से क्या होनेवाला है? (कुछ भी आत्मसिद्धि नहीं होती), इसलिये आन्तरिक युद्ध करो। आत्मा के संग्राम से ही सुख प्राप्त कर सकोगे।

(२) बाह्य बंध अथवा बन्धन से दमित होने की अपेक्षा संयम तथा तप के द्वारा अपना आत्मदमन करना यही उत्तम है।

(४) कर्म के अचल कायदे से पुनर्जन्म का स्वीकारः—

जड़, माया अथवा कर्मों से लिप्त चैतन्य जिस २ प्रकार की क्रिया करता है उसका फल उसको स्वयं भोगना पड़ता है। जैनदर्शन कहता है:—

"कड़ाण कम्माण न मोक्ख अत्थि" "किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता।" कर्म का नियम ही ऐसा है कि जब तक

उसका बीजसहित नाश न होगा तब तक शुभ अथवा अशुभ रूप से परंपरागत परिणमन होता ही रहेगा और जब तक कर्म से सम्बन्ध रहता है तब तक उस जीवात्मा को भिन्न भिन्न स्थानों में योजित करने के निमित्त मिलते ही रहेंगे और इस तरह पुनरागमन का चक्र चलना ही रहेगा।

मुमुक्षु तथा तत्वज्ञान के जिज्ञासु को चार बातें जानने की खास जरूरत है। वे चार बातें ये हैं:—(१) आत्मा का स्वरूप, (२) संसार का कारण, (३) जन्म-जन्मांतर का कारण, और (४) उसका निवारण इन चारों बातों का ज्ञान जो यथार्थ रीति से हो जाय तो उसे अपने ऐहिक जन्म की सफलता के साधन उपलब्ध होते हैं, यह बात दूसरी है कि इन साधनों को प्राप्त कर वह अपने जन्म को सफल बनाने के प्रयत्न में लगे या न लगे। परन्तु जगत समस्त के प्रत्येक महान धर्म संस्थापक तथा तत्ववेत्ता ने इन मुख्य वस्तुओं को दृष्टि के समीप रख कर ही पृथक् पृथक् सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है तथा मुमुक्षुओं के लिये विविध प्रकार के कर्तव्य कर्मों का उपदेश किया है।

भगवान् महावीर के समय में वेद धर्म प्रचलित था यद्यपि उसके विधिविधानों में बहुत अधिक मात्रा में संकरता फैल गई थी। परन्तु इस धर्म के प्रचारकों तथा तत्व संशोधकों की दृष्टि ता उपर्युक्त चार बातों ही की तरफ थी। एक स्मृति में यह लिखा है:—"किं कारणं ब्रह्म। कुतः स्म जाता जीवामः केन क्व च सम्प्रतिष्ठिताः। केन सुखेतरेषु वर्तामिह इति"॥

अर्थात्—क्या इस विश्व का कारण ब्रह्म है? (२) हम कहां से उत्पन्न हुए? किससे हम जीवित हैं? और कहां पर हम रह रहे हैं? तथा (३) दुःख-सुख में हम क्यों प्रवृत्त हैं?—इन तीनों प्रश्नात्मक स्मृति वाक्यों में विश्व का कारण, आत्मा का स्वरूप (पहिचान), पूर्व जन्म-वर्तमान जन्म-पुनर्जन्म का कारण और उसके निवारण के लिये सुख दुःख के कारण के संशोधन द्वारा कर्तव्य कर्म का विधान ये चारों ही प्रश्न समाविष्ट हैं। वेदधर्म ने इन चारों प्रश्नों का निराकरण किस तरह किया है और उसमें

कौनसी न्यूनता विशेषता है उसके सविस्तर विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है। उसका विचार तो सूत्र ग्रन्थों में इतर महात्माओं के साथ जैन महात्माओं ने बड़ी अच्छी तरह से किया है।

महावीर स्वामी के समकालीन बुद्ध ने भी इसी श्रेणी का अनुसरण कर मुमुक्षु धर्म का विधान किया है। जिस तरह तत्वविचारणा की दृष्टि से जैनधर्म एवं वेदधर्म में मतभेद है उसी तरह बुद्ध के निर्णय तथा विधानों में भी मतभेद है। परन्तु यहां तो तत्वश्रेणी के साम्य पर ही हमें विचार करना है। ब्रह्म, आत्मा, पूर्व जन्म, पुनर्जन्म, और उसके कारण की निवृत्ति की विचारणा अर्थात् इहलोक का कर्तव्य कर्म-ये सभी बातें बुद्ध तत्वदर्शन की श्रेणियां हैं। (१-२) भगवान्, ब्रह्म तथा आत्मा के अस्तित्व को ही मानने से इन्कार करते हैं अर्थात् विश्व को अनादि और आत्मा को अवास्तविक मानते हैं किन्तु (३) कर्म विपाक से नाम रूपात्मक इस शरीर को नाशवन्त जगतमें पुनः पुनः जन्म धारण करने पड़ते हैं—ऐसा अवश्य मानते हैं, और (४) इन जन्मों के पुनरावर्तन का कारण समझ कर जिसके द्वारा इस कारण का नाश हो उस मार्ग को स्वीकार करने का भी विधान करते है।

इन्हीं चारों बातों का निराकरण भगवान महावीर उत्तराध्ययन सूत्र में जिस प्रकार से करते हैं तथा जो सारांश सामने उपस्थित करते हैं वह इस उपोद्‌घात के पूर्वार्ध में इस सूत्र के ही प्रमाण देकर जो निष्कर्ष निकाल कर बताया है उसके ऊपर से देखा जा-सकता है। भारत के प्राचीन तत्त्वज्ञान की उपर्युक्त तीन मुख्य शाखाओं में से जैनधर्म की शाखा मुख्य तत्वों के विषय में क्या निर्णय करती है उसके जानने के इच्छुक जैन तथा जैनेतर महानुभावों को संतुष्ट करनेके समीचीन उद्देश्य से ही इस सूत्र को सब से पहिली पसंदगी देकर प्रकाशित किया है।

मंगल प्रभात, ता० २२-१०-३४
चातुर्मास निवास,
शांति निवास, अहमदाबाद.

संतवाल–

उत्तराध्ययन सूत्र का परिचय

जैन धार्मिक ग्रन्थों में उत्तराध्ययन का स्थान अनोखा है। उत्तराध्ययन आवश्यक, दशवैकालिक और पिंडनिर्युक्ति—इन चार सूत्रग्रन्थों को, जैन-जनता मूल सूत्र तरीके मानती है। ये मूल सूत्र क्यों कहे जाते हैं यह भी जानने योग्य बात है। शार्पेन्टीयर नामक जर्मन विद्वान् की यह कल्पना है कि इन ग्रन्थों को मूलसूत्र कहने का कारण यही मालूम होता है कि ये ग्रन्थ "Mahavira's own words" (Utt. Su. Introd. p. 32) अर्थात् स्वयं महावीर स्वामी के उपदेश (शब्द) इनमें गुंथे हुए हैं। उनका यह विधान दशवैकालिक को प्रत्यक्षरूप से लागू नहीं पड़ सकता, ऐसा कहकर मूलसूत्र का एक जुदा ही अर्थ Dr. Schubring (डा० शूब्रिंग) करते हैं। वे कहते हैं कि "साधु-जीवन के प्रारम्भ में जो यमनियम आवश्यक हैं उनका इन ग्रन्थों में उपदेश होने से इन ग्रन्थों को 'मूलसूत्र' कहा जाता है— (Work plahaviras p. 1 Prof. Guerinot (प्रो० गेरीनो की यह मान्यता है कि ये ग्रंथ " Traites Originaux"*अर्थात् मूल ग्रंथ है, जिनके ऊपर अनेक टीकाएं, और निर्युक्तियां हुई हैं। टीका ग्रंथ का अभ्यास करते हुए हम देखते हैं कि जिस ग्रन्थ की टीका की जाती है, उसे सामान्यतः 'मूल-ग्रंथ' कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि जैन-धार्मिक ग्रन्थों में इन ग्रन्थों के ऊपर सबसे अधिक टीका ग्रंथ लिखे गये हैं; इन्हीं कारणों से इन ग्रंथों को टीकाओं की अपेक्षा से मूल ग्रन्थ अथवा 'मूल-सूत्र' कहने की प्रथा पड़ी होगी ऐसी कल्पना होती है।

---

* La Religion Jaina, p. 79

उत्तराध्ययन सूत्र का यह नाम क्यों पड़ा 'इस विषय में भी थोड़ा मतभेद है। Leumann (ल्युमन) इसको "Later Readings" अथवा पीछे से रचे हुए ग्रन्थ मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में दलील देते हैं कि ये ग्रन्थ अंग ग्रन्थों की अपेक्षा पीछे से रचे गये होने से इसको 'उत्तर'—अर्थात् बाद का ग्रंथ कहा है। परन्तु उत्तराध्ययन के ऊपर जो टीका-ग्रन्थ लिखे गये हैं उनसे हमें यह बात मालूम होती है कि महावीर स्वामी ने अपने अन्तिम चौमासे में ३६ बिना पूंछे हुए प्रश्नों के 'उत्तर' अर्थात् 'जवाब' दिये थे और वे हीं इस ग्रंथ रूप में संग्रहित हैं। यह दलील सत्य मानने के हमारे सामने सबल प्रमाण मौजूद हैं और 'उत्तर' शब्द का अर्थ उसमें और भी पूर्ति करता है, इसलिये इस मत को अधिक प्रमाणिक मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र की निम्नलिखित आवृत्तियां सुप्रसिद्ध हैं

१. Charpentier की आवृत्ति, उपोद्घात, टीका, टिप्पणी सहित (१९२२) (यह आवृत्ति उत्तम में उत्तम मानी जाती है)। Achievesd' Eludes Orientales माला का १८ वाँ पृष्ठ
२. जैन पुस्तकोद्धार माला का पुष्प नं० ३३, ३६, ४१
३. उत्तराध्ययन सूत्र,—विजय-धर्मसूरिजी के शिष्य मुनि श्री जयन्तविजयजी (आगरा, १९२३–२७, ३ भागों में)।
उक्त ग्रन्थ में खरतरगच्छीय उपाध्याय कमल संयम की टीका भी दी है।
४. अंग्रेज़ी भाषान्तर—Jacobi, Sacred Books of the East माला का पुष्प नं० ४५ वां—
५. इनके सिवाय भावनगर, लींबड़ी आदि स्थानों में प्रसिद्ध हुईं आवृत्तियां। इन सब की अपेक्षा यह गुजराती अनुवाद सबसे उत्कृष्ट है। टिप्पणी, प्राक्कथन, उपसंहार, एवं वाक्यार्थ प्रधान भाषांतर

पद्धति ये बातें इस आवृत्ति की उपयोगिता में एवं मौलिकता में वृद्धि करती हैं इसकी भाषा भी इतनी सरल दीखती है कि सभी कोई इसे बड़ी आसानी से समझ सकते हैं।

इस ग्रंथ में ३६ अध्ययन हैं जो पद्य में हैं और उसमें यमनियमों का मुख्यता से निरूपण किया गया है। शिक्षा के रूप में सूत्रात्मक शिक्षा-वाक्य, साधुओं में तितिक्षाभाव की तरफ प्रेरित करनेवाले प्रेरणाशील भावपूर्ण कथन तथा मोक्षप्राप्ति में जन्म, धर्म-शिक्षा, श्रद्धा तथा संयम रूपी लाभचतुष्टय की उपयोगिता, सच्चे और झूठे साधु का अन्तर, आदि २ विषय विशदता के साथ निरूपित किये गये हैं। इसके सिवाय विषय को स्पष्ट एवं सरल करने के लिये जगह २ छोटे २ सुंदर उदाहरण भी दिये गये हैं। चोर का उदाहरण, रथ हांकनेवाले (गाड़ीवान) का उदाहरण, (अध्य० ६—श्लोक ३), तीन व्यापारियों का दृष्टांत (अध्य० ७-श्लोक १४-१६) आदि छोटे २ दृष्टांत कुंदन में जड़े हुए हीरे की तरह जगमगा रहे हैं। नमिनाथ स्वामी की कथा यहां पहिली ही वार कही गई है। इनके सिवाय, संवादों की बहुसंख्या इस ग्रंथ की एक खास विशेषता है। नमिनाथ का संवाद हमें बुद्ध-ग्रंथ सुत्र निपात की 'प्रत्येक बुद्ध' की कथा की याद दिलाता है। हरिकेश तथा ब्राह्मण का संवाद, धार्मिक क्रिया एवं धार्मिक वृत्ति के वलावल की तरफ इशारा करता है। पुरोहित और उसके पुत्रों का संवाद साधु-जीवन की अपेक्षा गृहस्थ जीवन कितने अंशों में न्यून है इस बात का प्रतिपादन करता है। यह संवाद महाभारत तथा बौद्ध जातक में भी थोड़े से फेरफार के साथ दिखाई देता है, इससे सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन सूत्र के कुछ पुराने भागों में से यह भी एक है। इस ग्रंथ का आठवां अध्ययन कापिलीय (संस्कृत—कापिलीयम अर्थात् कपिल * सम्बन्धी) है और शांतिसूरि की टीका में कश्यपल कपिल की भी कथा दीगई है जो

* सांख्य दर्शनकार कपिल के साथ इस कपिल का कोई सम्बन्ध नहीं है।

ब्राह्मण ग्रंथों के कपिल के इतिहास से बहुशों में मिलती जुलती है। बाइसवें अध्ययन में श्रीकृष्ण की कथा आई है वह भी अनेक दृष्टियों की अपेक्षा में आकर्षक है। किंतु जैन-धर्म के इतिहास के लिये उपयोगी वस्तु तो तेइसवें अध्ययन में है-पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यों के संवाद का यह प्रसंग है और उस संवाद में से मूल पार्श्वप्रवृत्त जैन-प्रचार कैसा था और उसमें महावीर ने क्या २ सुधार किये उसका कुछ थोड़ासा ख्याल आता है। उत्तराध्ययन (अध्ययन २५) का वस्तु तत्व) धर्म्म-पद के १म सर्ग (उदान) के साथ बहुत कुछ मिलता जुलता है। सच्चा ब्राह्मण किसे कहते हैं इस विषय के ऊपर इस अध्ययन में कई एक बहुत ही सुंदर सूत्र कहे गये हैं। इस ग्रन्थ का ऐसा विषय संग्रह है।

जैसा कि पहिले लिखा है, इस ग्रन्थ की अनेकानेक टीकाएं होचुकी हैं। और प्राचीन में प्राचीन टीकाएं भी इन मूलसूत्रों पर ही पाई जाती हैं इस परिस्थिति में उत्तराध्ययन की उक्त टीकाओं के विषय में कुछ लिखना आवश्यक दिखाई देता है।

सबसे प्राचीन टीका भद्रबाहु की है जो 'निर्जुक्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका अन्य टीकाओं की अपेक्षा उपयोगी मानी जाती है क्योंकि उसमें जैन-धर्म सम्बन्धी प्राचीन जानकार की प्रभूतमात्रा में मिलती हैं। बाद की टीकाएं दसवीं शताब्दी में लिखी गई हैं, जिसमें शांतिसुरिका भाव विजय तथा देवेन्द्रगणि (सन् १०७३) की टीका मुख्य गिनी जाता हैं। ये दोनों व्यक्ति जैन-शासन के अलंकाररूप थे और अपने समय के प्रखर के विद्वान् थे यही कारण है कि इनकी टीकाओं में जगह जगह शास्त्रार्थ एवं खंडन मन्डन की झलक दिखाई देती है।

भाषा शास्त्रकी दृष्टि से देखने पर उत्तराध्ययन सूत्र की भाषा अति प्राचीन ढंग की है। और जैनग्रामों के जिन सूत्रों में सब से प्राचीन

भापा संग्रह कीगई हैं उन्हीं में से यह ग्रंथ भी एक है। जैन-शासन में सबसे प्राचीन भापा आयारांग (आचारांग) की है। उसके बाद की प्राचीन भापा सूत्रगडांग (सूत्र कृतांग) की है और उसके बाद तीसरा स्थान उत्तराध्ययन सूत्र की भापा का है ऐसा भापा शास्त्रियों का मत है।

इस तरह उत्तराध्ययन की समालोचना स्थूल रूप से करने का यह प्रयत्न किया है। उसमें यदि विद्वानों को कोई त्रुटि मालूम पड़े तो वे उसे क्षमा करें। यही प्रार्थना है।

त्र्यं. नं. दवे, एम. ए., बी. टी.,
पी. एच. डी. (लंदन)
प्रोफेसर, गुजरात कालेज, अहमदाबाद.

अनुक्रमणिका

(१)

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, सजमम्मि य वीरियं ॥

उ० ३—१

कुसग्गे जह ओसबिन्दुएं, थोवं चिट्ठई लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १०—२

(२)

जो सहस्सं सहस्साणं,
मासे मासे गवं दए ।
तस्स वि संजमो सेओ,
अदिन्तस्स विकिंचण ॥

उ० ९—४०

प्रारम्भ

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं य मोहप्पभवं वदन्ति ।
कम्मं च जादमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाइमरणं वयन्ति ॥

उ० ३२—७

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

उ० २५—३३

पाणिवहमुसावाया, अदत्त मेहुण परिग्गहा विरओ ।
राई भोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥

उ० ३०—२

विनय-श्रुत

१

विनय का अर्थ यहां अर्पणता है। जैनदर्शन के सिद्धान्तानुसार, जब वह अर्पणता परमात्मा के प्रति दिखाई जाती है तब उसे भक्ति कहते हैं किन्तु जब वह गुरुजनों के प्रति दिखाई जाती है तब उसकी गणना स्वधर्म अथवा स्वकर्तव्य में की जाती है। इस अध्ययन में गुरु को लक्ष्य कर के, शिष्य तथा गुरु के पारस्परिक धर्मों का निरूपण किया गया है।

अर्पणता-भाव के उदय होने से अहंकार का नाश होता है। जब तक अहंकार का नाश न होगा तब तक आत्मशोधन नहीं हो सकता और आत्मशोधन के मार्ग का अनुसरण किये बिना सच्ची शान्ति एवं सुख की प्राप्ति नहीं होती। सभी जिज्ञासुओं को अवलंबन (सत्संग) की आवश्यकता तो है ही।

भगवान बोले:—

(१) संयोग (आसक्तिमय ममत्व भाव) से विशेष रूप से

रहित, तथा घरबार के बन्धनों से मुक्त ऐसे भिक्षु की विनय का उपदेश करता हूँ; उसे तुम क्रमपूर्वक सुनो।

टिप्पणी:—यहां 'संयोग' का अर्थ आसक्ति है। आसक्ति के छूट जाने पर ही जिज्ञासा जागृत होती है। जिज्ञासा जागृत होने पर ही घरबार का ममत्व दूर होता है। क्या ऐसी भावना का हम अपने जीवन में कभी २ अनुभव नहीं करते?

(२) जो गुरु की आज्ञा का पालन करनेवाला हो, गुरु के निकट रहता (अन्तेवासी) हो, तथा अपने गुरु के इंगित तथा आकार (मनोभाव तथा आकार) का जानकार हो उसे 'विनीत' कहते हैं।

टिप्पणी:—आज्ञापालन, प्रीति और चतुरता—ये तीनों गुण अर्पणता में होने चाहिये। निकट रहने का अर्थ पास रहना इतना ही नहीं है किन्तु गुरु के हृदय में अपने गुणों द्वारा स्थान कर लेना है।

(३) आज्ञा का उल्लंघन करने वाले, गुरुजनों के हृदय से दूर रहने वाले, शत्रु समान (विरोधी) तथा विवेकहीन साधक को 'अविनीत' कहते हैं।

(४) जिस तरह सड़ी कुतिया सब जगह दुत्कारी जाती है उसी तरह शत्रु समान, वाचाल (बहुत बोलने वाला) तथा दुराचारी (स्वच्छंदी) शिष्य सर्वत्र अपमानित होता है।

(५) जिस तरह शूकर स्वादिष्ट अन्न के पौधे को छोड़कर विष्ठा खाना पसन्द करता है उसी तरह स्वच्छंदी मूर्ख (शिष्य) सदाचार छोड़कर स्वच्छन्द विचरने में ही आनन्द मानता है।

(६) कुत्ता, शूकर और मनुष्य इन तीनों दृष्टान्तों के भाव

(आशय) को सुनकर अपने कल्याण का इच्छुक (शिष्य) विनय मार्ग में अपना मन लगावे।

(७) इसलिये मोक्ष के इच्छुक और सत्यशोधक को विवेक-पूर्वक विनय की आराधना करनी चाहिये और सदाचार को बढ़ाते रहना चाहिये। ऐसा करने से उसको कहीं भी अपमानित अथवा निराश नहीं होना पड़ेगा।

(८) अति शान्त बनो और मित्रभाव से ज्ञानी पुरुषों से उपयोगी साधन सीखो। निरर्थक वस्तुओं को तो छोड़ ही देना चाहिये।

(९) महापुरुषों की शिक्षा से क्रुद्ध होना मूर्ख मनुष्य का काम है। चतुर होकर सहनशीलता रक्खो। नीच वृत्ति के मनुष्यों की संगति न करो। हँसी मजाक और खेल-कूद भी छोड़ देने चाहियें।

टिप्पणी—महापुरुष जब शिक्षा देते हों तब कैसा आचरण करना चाहिये उसका लक्षण उपरोक्त गाथा में दिया है।

(१०) कोप करना यह चांडाल कर्म है, यह न करना चाहिये। व्यर्थ बकवाद मत करो। समय की अनुकूलता के अनुसार उपदेश श्रवण कर फिर उसका एकान्त में चिन्तन-मनन करना चाहिए।

(११) भूल में यदि कदाचित चांडाल कर्म (क्रोध) हो जाय तो उसे कभी मत छुपाओ। जो दोष हो जाय उसे गुरुजनों के समक्ष स्वीकार करो। यदि अपना दोष न हो तो विनयपूर्वक उसका खुलासा कर देना चाहिये।

टिप्पणी—चांडाल कर्म का आशय दुष्ट (निंद्य) कर्म से है। उसमें अधर्म, अकर्त्तव्य, क्रोध, कपट और लंपटता का समावेश होता है।

(१२) जैसे अडियल टट्टू (अथवा गरियार बैल) को हमेशा चाबुक लगाने की जरूरत होती है उसी तरह मुमुक्षु पुरुष को महापुरुषों द्वारा ताड़ना की अपेक्षा न करनी चाहिये। चालाक घोड़ा जिस तरह चाबुक देखते ही ठीक मार्ग पर आजाता है, वैसे ही मुमुक्षु साधक को अपने पाप कर्म का भान होते ही उसे छोड़ देना चाहिये।

(१३) सत्पुरुषों की आज्ञा की अवज्ञा करने वाला और कठोर वचन कहने वाला दुराचारी शिष्य कोमल गुरु को भी क्रुद्ध कर देता है। उसी तरह, गुरु के मनोभाव को जान कर तदनुसार आचरण करने वाला विनीत शिष्य सचमुच क्रुद्ध गुरु को भी शान्त कर देता है।

टिप्पणी—साधक दशा में होने के कारण गुरु तथा शिष्य दोनों ही के द्वारा भूल हो जाना सम्भव है किन्तु यहां पर शिष्य सम्बन्धी प्रकरण होने से शिष्य कर्त्तव्य ही बताया गया है।

(१४) पूंछे बिना उत्तर न दे। पूंछने पर असत्य उत्तर न दे, क्रोध को शांत कर, अप्रिय बात को भी प्रिय बना कर बोले।

(१५) अपनी आत्मा का ही दमन करना चाहिये क्योंकि यह आत्मा ही दुर्दम्य है। आत्मदमन करने से इस लोक तथा परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है।

(१६) तप और संयम द्वारा अपनी आत्मा का दमन करना यही

उत्तम है ! अन्यथा (कर्म जन्य) मार अथवा दूसरे बन्धन मुझे दमन करेंगे ही ?

टिप्पणी—उक्त सूत्र को अपने आप पर घटाना चाहिये। संयम और तप से शरीर का दमन होता है। यह दमन स्वतन्त्र होता है, किन्तु जो दमन असंयम तथा उच्छृङ्खल वृत्ति से होता है परतन्त्र होता है और इसी कारण वह आत्मा को विशेष दुःखदायी होता है।

(१७) वाणी अथवा कर्म से, गुप्त अथवा प्रकट रूप में गुरुजनों से कभी वैर नहीं करना चाहिये।

महापुरुषों के पास किस तरह बैठना चाहिये ?

(१८) गुरुजनों की पीठ के पास अथवा आगे पीछे नहीं बैठना चाहिये। इतना पास भी न बैठना चाहिये कि जिससे अपने पैरों का उनके पैरों से स्पर्श हो। शय्या पर लेटे लेटे अथवा अपनी जगह पर बैठे २ ही प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिये।

(१९) गुरुजनों के समक्ष पैर पर पैर चढ़ाकर, अथवा घुटने छाती से सटाकर, अथवा पैर फैलाकर नहीं बैठना चाहिये।

(२०) यदि आचार्य बुलावें तो कभी भी मौन (चुपचाप) न रहना चाहिये। मुमुक्षु एवं गुरुकृपेच्छु शिष्य को तत्काल ही उनके पास जाकर उपस्थित होना चाहिये।

(२१) जब कभी भी आचार्य धीमे अथवा जोर से बुलावें तब चुपचाप बैठे न रहना चाहिये किन्तु विवेक पूर्वक अपना आसन छोड़कर धीरता के साथ निकट जाकर उनकी आज्ञा सुननी चाहिये।

(२२) बिछौने पर लेटे २ अथवा अपने आसन पर बैठे २ गुरु जी से प्रश्नोत्तर नहीं करने चाहिये। गुरुजी के पास जाकर, हाथ जोड़कर और नम्रता पूर्वक बैठकर अथवा खड़े होकर समाधान करना चाहिये।

(२३) (गुरु को चाहिये कि) ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र वचन और उसका भावार्थ, उसकी योग्यता (पात्रता) अनुसार समझावे।

भिक्षुओं का व्यवहार कैसा होना चाहिये?

(२४) भिक्षु कभी असत्य भाषण न करे। कभी भी निश्चयात्मक (अमुक बात ऐसी ही है अथवा अन्य रूप में हो ही नहीं सकती इत्यादि प्रकार के) बचन नहीं कहने चाहिये। भाषा के दोष (द्व्यर्थी शब्द प्रयोग, जिससे दूसरे को भ्रम या धोखा हो) से बचे और न मन में कपट भाव ही रक्खे।

(२५) पूंछने पर सावद्य (दूषित) न कहे। अपने स्वार्थ के लिये अथवा अन्य किसी भी कारण से ऐसे वचन न बोले जो निरर्थक (अर्थशून्य) हों अथवा जो सुनने वाले के हृदय में चुभें।

(२६) ब्रह्मचारी को एकान्त के घर के पास, लुहार की दुकान अथवा अन्य अयोग्य स्थान में अथवा दो घरों के बीच की तंग जगह में अथवा सरियाम मार्ग में अकेली स्त्री के पास न तो खड़ा ही होना चाहिये और न उससे संभाषण (बातचीत) ही करनी चाहिये।

टिप्पणीः—ब्रह्मचर्य यह तो मुमुक्षु का जीवन व्रत है। ब्रह्मचारी का आचरण कैसा होना चाहिये उसका यहां निर्देश किया है।

(२७) (यह मेरा परम सौभाग्य है कि) महापुरुष मुझे मीठा उपालंभ अथवा कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हैं। इससे मेरा परम कल्याण होगा ऐसा मानकर उसका विवेकपूर्वक पालन करे।

(२८) गुरुजन की शिक्षा (दण्ड) कठोर तथा कठिन होने पर भी दुष्कृत की नाशक होती है इसलिये चतुर साधक उसको अपना हितकारी मानता है किन्तु असाधु जन उसको द्वेष जनक तथा क्रोधकारी मानता है।

(२९) निर्भय एवं दूरदर्शी पुरुष, कठोर दण्ड को भी उत्तम मानते हैं किन्तु मूढ़ पुरुषों को क्षमा एवं शुद्धि करने वाला हित-वाक्य भी द्वेष का कारण हो जाता है।

(३०) गुरुजी के आसन से जो अधिक ऊँचा न हो और जो चरचराता न हो ऐसे स्थिर आसन पर (शिष्य) बैठे। खास कारण सिवाय वहां से न उठे और चंचलता छोड़-कर बैठे।

(३१) समय होने पर, भिक्षुको (अपने) स्थान के बाहर आहार-निहारादि क्रियाओं के लिये जाना चाहिये और यथासमय वापिस आजाना चाहिये। अकाल को छोड़कर, सर्वदा कालधर्म के अनुकूल ही सब काम करने चाहिये।

टिप्पणीः—खास कारण के बिना भिक्षु को अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहिये और समय २ पर कालधर्म की ~~लक्ष्य में रखकर~~ अनुकूलता से काम करना चाहिये।

भिक्षार्थ जाने वाले भिक्षु का धर्म

(३२) जहाँ बहुत से आदमी पंक्ति भोज में जीम रहे हों वहां भिक्षुको नहीं जाना चाहिये। वह प्रेम पूर्वक दी हुई भिक्षा ही ग्रहण करे। (ऐसी) कठिनता से प्राप्त अन्न भी केवल नियत समय पर केवल परिमित मात्रा में ही ग्रहण करे।

(३३) दाता के घर (भोजनालय) से विशेष दूर भी न हो और न अति पास ही हो और जहाँ दूसरे श्रमण उसको देख न सकें तथा जहां जाने में दूसरों को लांघना न पड़े ऐसे स्थान में भिक्षु को भिक्षा के लिये खड़ा होना चाहिये।

टिप्पणी:—यदि दूसरे भिक्षु उसे देखेंगे तो संभव है कि उसको खेद हो अथवा दाता के मन पर असर हो—इसलिये ऐसा न करने का विधान किया गया है।

(३४) (दाता से) ऊँचे चबूतरे पर खड़े होकर किंवा नीचे खड़े होकर अथवा अतिदूर किंवा अति निकट खड़े होकर भिक्षा ग्रहण न करे। भिक्षु उसी निर्दोष अन्न को ग्रहण करे जो दूसरे के निमित्त बनाया गया हो।

टिप्पणी:—दूसरे के निमित्त से यह आशय है कि वह भोजन खास भिक्षु के लिये तैयार न किया गया हो।

भिक्षु कैसे स्थान में और किस तरह आहार करे?

(३५) जहां बहुत जीवजन्तु (कीड़े मकौड़े) न हों, बीज न फैले हों, तथा जो चारों तरफ से ढंका (बन्द) हो—ऐसे स्थान में संयमी पुरुष, विवेक पूर्वक तथा जमीन पर

उच्छिष्ट भोजन न पड़े इसकी संभाल के साथ, समभाव (स्वाद का विचार न करते हुए) भोजन करे।

(३६) क्या ही अच्छा बना है, क्या ही अच्छी रीति से बनाया गया है, क्या ही अच्छी तरह से संभारा गया है, क्या ही बारीक कटा है, क्या खूब बना है, क्या कहना है, कैसा अच्छा संस्कार (छोंक बघार आदि) हुआ है, आज कैसा स्वादिष्ट भोजन मिला है—इत्यादि प्रकार की इंद्रिय लोलुपता जन्य दूषित मनोदशा मुनि को त्याग देनी चाहिये।

गुरु तथा शिष्य के क्या कर्तव्य हैं?

(३७) अच्छा घोड़ा चलाने में जैसे सारथी को आनन्द आता है वैसे ही चतुर साधक को विद्यादान करने में गुरु को आनंद प्राप्त होता है। जिस तरह अड़ियल टट्टू को चलाते २ सारथी थक जाता है वैसे ही मूर्ख को सिखाते २ गुरु भी थक (हतोत्साह हो) जाते हैं।

(३८) पापदृष्टि वाला शिष्य (पुरुष) कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतों और भर्त्सनाओं (झिड़कियों) को वध तथा आक्रोश (गाली) मानता है।

(३९) साधु पुरुष तो यह समझ कर कि गुरुजी मुझको अपने पुत्र, लघुभ्राता, अथवा स्वजन के समान मान कर ऐसा कर रहे हैं इसलिये वह गुरुजी की शिक्षा (दण्ड) को अपना कल्याणकारी मानता है किन्तु पापदृष्टि वाला शिष्य उस दशा में अपने को गुलाम मान कर दुःखी होता है।

टिप्पणी—एक ही शिक्षा के, दृष्टि भेद से दो स्वरूप हो जाते हैं।

(४०) विद्येच्छु भिक्षु का कर्तव्य है कि वह ऐसा व्यवहार न करे जिससे आचार्य को अथवा अपनी आत्मा को क्रुद्ध होना पड़े। ऐसा कोई कृत्य न करे जिससे ज्ञानीजनों की छोटी सी भी क्षति हो। वह दूसरों के दोष भी न देखे।

(४१) यदि कदाचित् आचार्य्य क्रुद्ध हो जाँय तो अपने प्रेम से उनको प्रसन्न करे। हाथ जोड़कर उनकी विनय करे तथा (क्षमा मांगते हुए) उनको विश्वास दिलावे कि भविष्य में वैसा दोष फिर कभी न करूँगा।

(४२) ज्ञानवान पुरुषों ने जैसा धार्मिक व्यवहार किया है वैसा ही वह करे। धार्मिक व्यवहार करता हुआ पुरुप कभी भी निंदा को प्राप्त नहीं होता।

टिप्पणी—यहां व्यवहार का विधान कर भगवान महावीर ने यह समझाया है कि आध्यात्मिकता केवल व्यवहार शून्य शुष्क दशा नहीं है।

(४३) आचार्य के मन का भाव जान कर अथवा उनका वचन सुनकर सुशिष्य को उसे वाणी द्वारा स्वीकार कर, कार्य द्वारा उसे आचरण में ले आना चाहिये।

टिप्पणी—वचन की अपेक्षा आचरण का मूल्य अधिक है।

(४४) विनीत साधक प्रेरणा बिना ही प्रेरित होता है। 'उधर आज्ञा हुई और इधर काम पूरा हुआ'—ऐसी तत्परता के साथ वह अपने कर्तव्य हमेशा करता रहता है।

(४५) इस तरह (उपरोक्त स्वरूप को) जान कर जो बुद्धिमान शिष्य विनय धारण करता है उसका यश लोक में फैलता

है और जैसे यह पृथ्वी प्राणिमात्र की आधार है वैसे ही वह विनयी शिष्य आचार्यों का आधारभूत होकर रहता है।

ज्ञानी पुरुष क्या देता है?

(४६) सच्चे ज्ञानी और शास्त्रज्ञ पूज्य पुरुष जब शिष्य पर प्रसन्न होते हैं तब उसे शास्त्र के गंभीर रहस्य समझाते हैं।

(४७) (और) शास्त्रज्ञ शिष्य संदेह रहित होकर कर्म संपत्ति में मन लगाकर स्थितप्रज्ञ होता है और तप, आचार तथा समाधि इनकी क्रमशः प्राप्ति करता हुआ दिव्य ज्योति धारण करता है तथा बाद में पाँच व्रतों का पालन करता है।

(४८) देव, गंधर्व तथा मनुष्यों द्वारा पूजित वह मुमुक्षु मुनि इस मलिन शरीर को छोड़कर इसी जन्म में सिद्ध हो जाता है अथवा (दूसरे जन्म में) महान ऋद्धिधारी देव होता है।

टिप्पणी—इन तीन श्लोकों में साधक की क्रमिक श्रेणी बताकर उसका फल दिखाया है। विनय अर्थात् विशिष्ट नीति और यह नीति ही धर्म का मूल है। गुरुजन की विनय से सत्संग होता है, तत्व का रहस्य समझ में आता है और रहस्य समझने के बाद विकास पंथ में अग्रसर हुआ जाता है। इसी विकास से देवगति अथवा मोक्षगति प्राप्त होती है।

ऐसा मैं कहता हूँ

इस तरह 'विनयश्रुत' नामका प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ।

परिषह

२

विनय के बाद दूसरा अध्ययन परिषहों का आता है। परिषह अर्थात् अनेक प्रकार से (शारीरिक कष्ट) सहन करना—इसका नाम परिषह है। इन अनेक प्रकारों में से यहां केवल २२ (बाईस) का वर्णन किया है। तपश्चर्या तथा परिषहों में यह अन्तर है कि उपवासादि तपश्चर्या में भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी आदि कष्ट स्वेच्छा से सहे जाते हैं किंतु भोजन की इच्छा होने पर भी अथवा थाली में भोजन रहने पर भी किसी आकस्मिक कारण से वह न मिले अथवा खाया न जा सके, फिर भी मन में विकार न लाकर अथवा प्रतिकार भाव न लाते हुए समभावपूर्वक उस कष्ट को सहन करना उसको परिषह (परिषहजय) कहते हैं। इस अध्ययन में, यद्यपि संयमी को लक्ष्य करके वर्णन किया गया है किन्तु गृहस्थ साधक को भी ऐसे अनेक प्रसंगों का सामना करना पड़ता है। सहनशीलता के विना संयम नहीं हो सकता, संयम के विना त्याग नहीं, त्याग के बिना आत्मविकाश नहीं और जहां आत्मविकाश नहीं है वहां मानवजीवन के अंतिम उद्देश्य की सिद्धि भी नहीं है।

गुरुदेव बोले—

"मैंने सुना है।" आयुष्यमान भगवान सुधर्मस्वामी ने इस तरह कहा, यहां पर वस्तुतः श्रमण भगवान काश्यप महावीर ने २२ परिषहों का वर्णन किया है। साधक भिक्षु (उनको) सुनकर, (उनका स्वरूप) जानकर (उनको) जीतकर, (उनका) पराभव करके भिक्षाचरी में जाते हुए यदि परिषहों से घिर जाय तो भी कायर नहीं बनता।

शिष्यः—भगवन्! वे बाईस परिषह कौन से हैं जिनका वर्णन श्रमण भगवान काश्यप महावीर ने किया है और (जिनको) सुनकर, जानकर, जीतकर तथा (उनको) तिरस्कृत करके भिक्षाचरी में जाता हुआ भिक्षु, परिषहों से घिर जाने पर भी कायर नहीं बनता?

आचार्यः—हे शिष्य! वे यही २२ परिषह हैं जिनका वर्णन श्रमण भगवान काश्यप महावीर ने किया है, जिनको सुनकर, जानकर, जीतकर और पराभव करके भिक्षाचरी में जाता हुआ भिक्षु, परिषहों से घिर जाने पर भी कायर नहीं बनता।

उनके नाम ये हैं:—(१) क्षुधा (भूख) परिषह, (२) पिपासा (प्यास) परिषह, (३) शीत (ठंडी) परिषह, (४) उष्ण (गर्मी) परिषह, (५) दंशमशक (डांस मच्छर) परिषह, (६) अवस्त्र परिषह, (७) अरति (अप्रीति) परिषह, (८) स्त्री परिषह, (९) चर्या (गमन) परिषह, (१०) निषद्या (बैठनी) परिषह, (११) आक्रोश (कठोर वचन) परिषह, (१२) वध (मारपीट) परिषह, (१३) शय्या (शयन) परिषह (१४) याचना (मांगना) परिषह (१५) अलाभ (न मिलना) परिषह, (१६) रोग (बीमारी) परिषह, (१७) तृणस्पर्श परिषह, (१८)

मल (मैलापन) परिषह, (१६) सत्कार पुरस्कार (मानापमान) परिषह, (२०) प्रज्ञा (बुद्धि संबन्धी) परिषह, (२१) अज्ञान परिषह, (२२) अदर्शन परिषह।

(१) हे जम्बू ! परिषहों के जिस विभाग का भगवान काश्यप ने वर्णन किया है, वह मैं तुम्हें क्रम से कहता हूँ। तुम उसे ध्यान से सुनो।

(२) अत्यंत उग्र भूख से शरीर के पीड़ित होने पर भी आत्म, शक्तिधारी तपस्वी भिक्षु किसी भी वनस्पति सरीखी वस्तु को स्वयं न तोड़े और न (दूसरों से) तुड़वावे; स्वयं न पकावे और न दूसरों से पकवावे।

टिप्पणी—जैन दर्शन में सूक्ष्माति सूक्ष्म हिंसा का विचार किया गया है। इसलिये जैन भिक्षु को अचित्त (जीवरहित) और वह भी अन्य के निमित्त तैयार किये गये और प्रसन्नता पूर्वक दिये गये आहार ग्रहण करने का विधान किया गया है। इसके बड़े ही कड़े नियम हैं। इसीलिये यहाँ उल्लेख किया गया है कि कैसी भी कड़ी भूख क्यों न लगी हो फिर भी भिक्षु किसी भी वनस्पति कायजीव की भी हिंसा न करे और न दूसरों से करावे।

धमनी की तरह श्वासोच्छ्वास क्यों न चलने लगे, (भोजन न मिलने से भले ही शरीर की नसें दिखाई देने लगें), शरीर सूख कर कांटा क्यों न हो जाय, और शरीर के सभी अंग कौए की टांग जैसे पतले क्यों न हो जाँय फिर भी अन्नपान में नियम पूर्वक वर्तनेवाला साधु प्रसन्नचित्त से गमन करे।

टिप्पणी—उग्र भूख लगने पर भी यदि भोजन न मिले तो भी संयमी भिक्षु ऐसा ही मानेः—'चलो, ठीक हुआ; यह अनायास तपश्चर्या होगई'।

(४) कड़ी प्यास लगी हो फिर भी इन्द्रियनिग्रही, अनाचार से भयभीत और संयम की लज्जा रखने वाला भिक्षु ठंडा (सचित्त) पानी न पिये किन्तु मिल सके तो अचित्त (जीव रहित उष्ण) पानी की ही शोध करे।

(५) लोगों की आवजाव से रहित मार्ग में यदि प्यास से बेचैन हो गया हो, मुँह सूख गया हो फिर भी साधु मन में दैन्य भाव न लाकर उस परिषह को प्रसन्नतासे सहन करे।

टिप्पणी—आवजाव रहित एकांत मार्ग में यदि कोई जलाशय हो तो 'यहां तो कोई है नहीं' ऐसा समझ कर सचित्त पानी पीने की इच्छा हो आना संभव है। इसीलिये उक्त स्थान का यहां खास निर्देश किया है।

(६) गाम गाम विचरनेवाले और हिंसादि व्यापारों के पूर्ण त्यागी, रूक्ष (सूखा) शरीर धारी ऐसे भिक्षु को यदि कदाचित शीत (ठंड) लगे तो वह जैनशासन के नियमों को याद करके कालातिक्रम (व्यर्थ समय यापन) न करे।

टिप्पणी—शीत से बचने के उपाय की चिन्ता में निद्राधीन होकर समय न बितावे अथवा नियम विरुद्ध दूसरे उपचार न करे।

(७) शीत से रक्षा कर सके ऐसी अपनी जगह नहीं है अथवा कोई वस्त्र (कंबल आदि) भी अपने पास नहीं है, इसलिए आग से ताप लूं ऐसा विचार भिक्षु कभी न करे।

( ) ग्रीष्म ऋतु के उग्र ताप से अथवा अन्य ऋतु में सूर्य की कड़ी गर्मी से तमाम शरीर बैचैन होता हो अथवा पसीने से तरबतर हो तो फिर भी संयमी साधु सुख की परिदेवना (हाय, यह ताप कब शांत होगा! ऐसा क्लांत वचन) न कहे।

(९८) गर्मी से बेचैन तत्वज्ञ मुनि स्नान करने की इच्छा तक न करे और न अपने शरीर पर पानी छिड़के। उस परिषहसे छुटकारा पाने के लिये वह अपने ऊपर पंखा भी न करे।

टिप्पणी—कष्ट का प्रतिकार (उपाय) करने से मन में निर्बलता आती है इससे साधक को हमेशा सावधान रहना चाहिये।

(१०) वर्षाऋतु में डांस मच्छरों के काटने से मुनि को कितना भी कष्ट क्यों न हो, फिर भी वह समभाव रखे और युद्ध में सब से आगे स्थित हाथी की तरह, शत्रु (क्रोध) को मारे।

(११) ध्यानावस्था में (अपना) रक्त और मांस खाने वाले उन क्षुद्र जन्तुओं को साधु न मारे, उन्हें न उड़ावे और न उन्हें त्रास ही दे। इतना ही नहीं उनके प्रति अपना मन भी दूषित न करे (अर्थात् उनकी तरफ से उपेक्षा भाव रक्खे)।

टिप्पणी—यदि चित्त पूर्ण रूप से समाधि में लगा हो तो शरीर सम्बन्धी ध्यान बिलकुल हो ही नहीं सकता।

(१२) वस्त्रों के बहुत पुराने अथवा फटे होने से "अब मेरे पास कोई कपड़ा नहीं रहा" अथवा इन फटे-पुराने वस्त्रों को देख कर कोई मुझे नये वस्त्र देवे तो मेरे पास वस्त्र हों ऐसी चिन्तना साधु कभी न करे।

(१३) किसी अवस्था में वस्त्ररहित (अथवा फटे-पुराने वस्त्रों सहित) और किसी अवस्था में वस्त्र सहित हो तो ये दोनों ही दशाऐं संयम धर्म के लिये हितकारी हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी मुनि खेद न करे।

टिप्पणी—प्रथम की 'किसी अवस्था' अर्थात् 'जिनकल्पी अवस्था'।

(१४) गांव गांव में विचरने वाले और किसी एक स्थान में न रहने वाले तथा परिग्रह से रहित (ऐसे) मुनि को यदि कभी संयम से अरुचि हो तो वह उसे सहन करे (मन में अरुचि का भाव न होने दे)।

(१५) वैराग्यवान्, आत्मरक्षा में क्रोधादि कषाय से शांत और आरंभ का त्यागी (ऐसा) मुनि, धर्मरूपी बगीचे में विचरे।

टिप्पणीः—संयम में ही मन को लगाए रक्खे।

(१६) इस संसार में स्त्रियाँ, पुरुषों की आसक्ति का महान् कारण है। जिस त्यागी ने इतना जान लिया उसका साधुत्व सफल हुआ समझना चाहिये।

टिप्पणीः—स्त्रियों के संग (सहवास) करने से विकार पैदा होता है। विकार से काम, काम से क्रोध, क्रोध से संमोह और अन्त में पतन होता है। मुमुक्षु को इस सत्य को पूर्ण रूप से जानकर स्त्री संग छोड़ देना चाहिये। इस तरह मुमुक्षु स्त्रियों को भी पुरुषों के विषय में समझना चाहिये।

(१७) इस तरह समझ कर कुशल साधु स्त्रियों के संग को कीचड़ जैसा मलिन मान कर उस में न फंसे। आत्म-विकास का मार्ग ढूंढ कर संयम में ही गमन करे।

(१८) संयमी साधु परिषहों से पीडित होता हुआ भी गांव में, नगर में, व्यापारी वस्ती वाले प्रदेश में अथवा राजधानी में भी अकेले ही (परिषहों को) सहन करता हुआ विचरण करे।

टिप्पणीः—अपने दुःख में दूसरों को भागीदार न बनावे और अपने मन को वश करके विचरे।

(१९) किसी के साथ होड (वाद) न करके भिक्षु एकाकी (राग द्वेष रहित होकर) विहार करे। किसी स्थान में ममता न करे। गृहस्थों से अनासक्त रह कर किसी भी खास स्थान की मर्यादा (भेदभाव) रक्खे बिना विहार करे।

टिप्पणीः—संयमी समस्त पृथ्वी को कुटुंब मानकर ममत्व किंवा भेद भाव रक्खे बिना, सभी स्थानों में विहार करे।

(२०) स्मशान, शून्य (निर्जन) घर अथवा वृक्ष के मूल में एकाकी साधु शांत चित्त से (स्थिर आसन से) बैठे और दूसरों को थोड़ा सा भी दुःख न दे।

(२१) वहां पर बैठे हुए यदि उस पर उपसर्ग (किसी के द्वारा जान बूझ कर दिये गये कष्ट) आवें तो वह उन्हें दृढ़ मन से सहन करे, किन्तु शंकित अथवा भयभीत हो कर वह दूसरी जगह न जाय।

टिप्पणीः—एकांत में कहाँ और किस तरह मुनि बैठे उसका इसमें विधान किया गया है।

(२२) सामर्थ्यवान तपस्वी (भिक्षु) को यदि अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपाश्रय (रहने के लिये प्राप्त स्थान) मिले तो

वह कालातिक्रम (काल धर्म की मर्यादा का भंग) न करे; क्योंकि 'यह अच्छा है, यह खराब है'—ऐसी पाप-दृष्टि रखने वाला साधु अन्त में आचार में शिथिल हो जाता है।

(२३) स्त्री, पशु, नपुंसक इत्यादि से रहित, अच्छा अथवा खराब कैसा भी उपाश्रय पाकर "इस एक रात के उपयोग से भला मुझे क्या दुःख पहुँच सकता है"—ऐसी भावना साधु रक्खे।

टिप्पणी—स्त्री अथवा पशुरहित स्थान का विधान इसलिये किया गया है जिससे निर्जन स्थान में भिक्षु समाधि में अच्छी तरह से स्थिर रहे। उसका मन चलायमान न हो।

(२४) यदि कोई भिक्षु को आक्रोश (कठोर शब्द) कहे तो साधु बदले में कठोर शब्द न कहे अथवा कठोर वर्त्तन तथा क्रोध न करे क्योंकि वैसा करने से वह भी मूर्खों की कोटि में आ जायगा। इसलिये विज्ञ भिक्षु कोप न करे।

टिप्पणी—आक्रोश अर्थात् (कठोर अथवा तिरस्कार व्यंजक शब्द)

(२५) श्रवण (कान) आदि इन्द्रियों को कंटकतुल्य तथा संयम के धैर्य का नाश करनेवाली भयंकर तथा कठोर वाणी को सुनकर भिक्षु चुपचाप (मौन धारण करके) उसकी उपेक्षा करे और उसको मनमें स्थान न दे।

(२६) कोई उसको मारे पीटे तो भी भिक्षु मनमें क्रोध न करे और न मारने वाले के प्रति द्वेष ही रक्खे किन्तु तितिक्षा (सहनशीलता) को उत्तम धर्म मानकर दूसरे धर्म को आचरे।

(२७) संयमी और दान्त (इन्द्रियों को दमन करने वाला) ऐसे साधु को कोई कहीं मारे या वध करे तो भी वह मनमें 'इस आत्मा का तो कभी नाश नहीं होता'—ऐसी भावना रक्खे।

टिप्पणी—अपने ऊपर आये हुए मृत्यु संकट को भी मन में लाये बिना समभाव से सहन करना उसे 'क्षमाधर्म' कहते है। क्षमावान किसी भी तरह की प्रतिक्रिया (बदला लेने की क्रिया) न करे और न मन में खेद ही माने।

(२८) "अरे रे! गृहत्यागी भिक्षु का तो जीवन बड़ा ही दुष्कर होता है" क्योंकि वह मांगकर ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है। उसको बिना मांगे कुछ भी प्राप्त ही नहीं सकता।

(२९) भिक्षा के लिये गृहस्थ के घर जाकर भिक्षु को अपना हाथ फैलाना पड़ता है और यह रुचिकर काम नहीं है। इसलिये साधुपनेसे गृहस्थवास ही उत्तम है—ऐसा भिक्षु कभी न सोचे।

टिप्पणी—सच्चे भिक्षु को मांगना कई बार अरुचिकर लगता है किन्तु मांगना उनके लिये धार्म है। इसी से इसे परिषह माना है।

(३०) गृहस्थों के यहां (जुदी जुदी जगह) भोजन तैयार हो उसी समय साधु भिक्षाचारी के लिये जाय। वहाँ भिक्षा मिले या न मिले तो भी बुद्धिमान भिक्षु खेदखिन्न न हो।

(३१) "आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, न सही, कल भिक्षा मिल जायगी! एक दिन न मिलने से क्या हुआ?" साधु यदि ऐसा पक्का विचार रक्खे तो उसे भिक्षा न मिलने का कभी दुःख न हो।

टिप्पणी—साधक के संकट में उच्च भावना या विचार ही बड़े साथी हैं।

(३२) (कहीं की) वेदना (दुःख) से पीडित भिक्षु, उत्पन्न दुःख को जान कर मनमें थोड़ी सी भी दीनता न लावे किन्तु तज्जन्य दुःख को समभाव से सहन करे।

(३३) भिक्षु औषधि (रोग के इलाज) की इच्छा न करे किन्तु आत्मशोधक होकर शान्त रहे। स्वयं चिकित्सा (प्रति-उपाय) न करे और न करावे इसी में उसका सच्चा साधुत्व है।

टिप्पणी—देहाध्यास (शरीर का ममत्व) के त्यागी उच्च योगी की कक्षा की यह बात है। यहां आसपास के संयोग, बल का विवेक करना उचित है।

(३४) वस्त्र बिना रहने वाले तथा रूक्ष (रूखे) शरीर वाले तपस्वी साधु को तृण (दर्भ आदि) पर सोने से (शरीर को) पीड़ा होती है—

(३५) या अतिताप पड़ने से अतुल वेदना होती है—ऐसा जान-कर भी तृणों के चुभने से पीड़ित साधु वस्त्र का सेवन न करे।

टिप्पणी—उच्च श्रेणी के जो भिक्षु शरीर पर वस्त्र धारण नहीं करते उनको यदि दर्भशय्या (शरीर) में चुभे तो भी वे उस कष्ट को सहन करें किन्तु वस्त्र काम में न लें।

(३६) ग्रीष्म अथवा अन्य किसी ऋतु में पसीना से, धूल या मैल से मलिन शरीर वाला बुद्धिमान भिक्षु सुख के लिये

व्यग्र न बने (यह मैल कैसे दूर हो—ऐसी इच्छा न करे)

(३७) अपने कर्मक्षय का इच्छुक भिक्षु अपने उचित धर्म को समझ कर जबतक शरीर का नाश न हो तब (मृत्युपर्यंत) तक शरीर पर मैल धारण करे।

टिप्पणी—यद्यपि ऊपर के श्लोक देहाध्यास रहित उच्च (श्रेणी) के साधुओं के लिये ही हैं फिर भी सामान्य दृष्टि से शरीर सत्कार करना भिक्षु धर्म के लिये दूषण है अतः इस दूषण को त्यागना और शरीर को आत्मसिद्धि का साधन मानकर उसका विवेक पूर्वक उपयोग करना यही उचित है।

(३८) राजादिक या श्रीमंत हमारा अभिवादन (वन्दन) करें, सामने आकर हमारा सन्मान करें अथवा भोजनादिक का निमन्त्रण करें—इत्यादि प्रकार की इच्छाएं न करे।

टिप्पणी—सन्मान प्राप्ति की स्वयं इच्छा न करे और न दूसरों को वैसा करते देखकर मन में यह माने कि वे ठीक कर रहे हैं।

(३९) अल्पकषाय (क्रोधादि) वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात गृहस्थों के यहाँ ही गोचरी के लिये जाने वाला तथा स्वादिष्ट पकान्नों की लोलुपता से रहित तत्त्वज्ञ भिक्षु रसों में आसक्त न बने और (उनके न मिलने से) न ही खेद करे। (अन्य किसी भिक्षु) का उत्कर्ष देखकर वह ईर्ष्यालु न बने।

(४०) "मैंने अवश्य ही अज्ञान फल वाले (ज्ञान न प्रकटे ऐसे) कर्म किये हैं जिससे यदि कोई मुझे कुछ पूंछता है तो मैं कुछ समझ नहीं पाता हूँ। अथवा उसका उत्तर नहीं दे पाता—

(४१) परन्तु अब "पीछे ज्ञानफल वाले कर्मों का उदय होगा"—
इस तरह कर्म के विपाक का चिन्तन कर भिक्षु ऐसे समय
में इस तरह मनको आश्वासन दे।

टिप्पणी—पुरुषार्थ करते हुए भी अल्पबुद्धि/तर्कबुद्धि पैदा न हो तो
उससे हताश न होते हुए पुरुषार्थ में लगा रहे।

(४२) "मैं व्यर्थ ही मैथुन से निवृत्त हुआ (गृहस्थाश्रम छोड़कर
ब्रह्मचर्य धारण किया), व्यर्थ ही इन्द्रियों का दमन
किया क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या अकल्याणकारी ?
यह प्रत्यक्ष रूप में तो कुछ दिखाई नहीं देता (अर्थात्
जब धर्म का फल प्रत्यक्ष नहीं दीखता है तो क्यों मैं
कष्ट सहूँ ?)

(४३) (अथवा) तपश्चर्या, आयंबिल इत्यादि ग्रहण करके तथा
साधु की प्रतिमा (साधुओं के १२ अभिग्रहों की क्रिया),
धारण करके विचरते हुए भी मेरा संसार भ्रमण क्यों नहीं
छूटता ?

(४४) इसलिये परलोक ही नहीं है या तपस्वी की ऋद्धि
(अणिमा, गरिमा आदि) भी कोई चीज नहीं है, मैं
साधुपन लेकर सचमुच ठगा गया इत्यादि इत्यादि प्रकार
के विचार साधु मन में कभी न लावे।

(४५) बहुत से तीर्थंकर (भगवान) हो गये/हो रहे हैं और
होंगे। उनने जो कहा है वह सब झूंठ है (अथवा
तीर्थंकर हुए थे, होते हैं अथवा होंगे ऐसा जो कहा जाता
है यह झूंठ है) ऐसा विचार भिक्षु कभी न करे।

टिप्पणी—मानवबुद्धि परिमित है किन्तु मानव-कल्पनाएं अपरिमित

(सीमारहित) हैं। संसार में इतनी वस्तुएं हैं कि जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते—देखना तो दूर की बात है। ऐसी दशा में विवेक पूर्वक श्रद्धा रखकर आत्मविकास के मार्ग में आगे बढ़ते जाना यही कल्याणकारी है।

(४६) इन सब परिषहों को काश्यप भगवान महावीर ने कहा है। उनके स्वरूप को जान कर (अनुभव करके) भिक्षु किसी भी जगह उनमें से किसी से भी पीडित होने पर भी कायर नहीं बनता।

टिप्पणी—इनमें से बहुत से परिषह उच्च योगी को, कुछ मुनि को तथा कुछ साधक को लागू पड़ते हैं फिर भी इसमें से अपने जीवन में बहुत कुछ उतारा जा सकता है। अणगारी (साधु) मार्ग तथा गृहस्थमार्ग यद्यपि दोनों जुदे जुदे हैं किन्तु उनका पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा ही गाढ़ है। दोनों एक ही उद्देश्य की सिद्धि में लगे हुए हैं इसलिये श्रमणवर्ग के बहुत से विधान गृहस्थ को भी लागु पड़ते हैं। परिषह साधक के लिये अमृत हैं। सहनशीलता की पाठशाला साधक को आगे ही आगे बढ़ाती है।

ऐसा मैं कहता हूँ

इस तरह "परिषह" नामक दूसरा अध्ययन समाप्त हुआ।

चतुरंगीय

[चार अंग संबंधी]

३
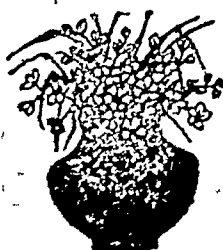
वृक्ष में पहिले जड़, शाखा प्रशाखा (छोटी २ डालियां) पुष्प और बाद में फल आते हैं अर्थात् क्रम से ये ४ बातें होती हैं। जिस तरह समस्त सृष्टि में यही नियम व्यापक है इसी तरह जीवन की उन्नति का भी यही क्रम है। जीवन विकास की भिन्न भिन्न भूमिकाएं (श्रेणियाँ), उसका क्रम कहलाती हैं। क्रम (श्रेणियां) बिना आगे नहीं बढ़ा जाता इसलिये इस जीवन विकास की अनुक्रम, जिन चार भूमिकाओं में भगवान महावीर ने बताया हैं उसका इस अध्ययन में वर्णन किया है।

भगवान बोलेः—

१) प्राणिमात्र को इन ४ उत्तम अंगों (जीवन विकास के विभागों) की प्राप्ति होना इस संसार में दुर्लभ है—(१) मनुष्यत्व; (२) श्रुति (सत्य श्रवण); (३) श्रद्धा (निश्चित विश्वास); और (४) संयम धारण करने की शक्ति।

टिप्पणीः—मनुष्यत्व अर्थात् मनुष्य जाति का वास्तविक धर्म। मनुष्य-देह मिलने पर भी मनुष्यत्व प्राप्त करना शेष रहता है। मनुष्यत्व के वास्तविक ४ लक्षण हैं:—(१) सहज सौम्यता, (२) सहज कोमलता, (३) अमत्सरता (निराभिमान), (४) दया। साारासार विचारों की इतनी योग्यता के बाद ही सद्वस्तुओं के श्रवण करने की पात्रता आती है। श्रवण होने के बाद ही सच्ची श्रद्धा, और सच्ची श्रद्धा होने पर ही अर्पणता और अर्पणता की भावना जागृत होने पर ही शुद्ध त्याग होता है।

(२) इस संसार में भिन्न भिन्न प्रकार के जुदे जुदे गोत्र कर्म के कारण जुदी जुदी जातियों में तथा भिन्न भिन्न स्थानों में प्रजाएं (जीव राशि) पैदा होतीं हैं और उनसे यह विश्व व्याप्त हो रहा है।

टिप्पणीः—कर्मवश से जीव संसार में जुदे जुदे स्थानों में पैदा होता है। उसको ईश्वर पैदा करता है अथवा यह सारी सृष्टि ईश्वर ने बनाई है ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं है।

(३) जिस तरह के कर्म होते हैं तदनुसार ये जीव कभी देवयोनि में, कभी नरक योनि में और कभी आसुरी योनि में गमन (जन्म धारण) करते हैं।

टिप्पणी—कर्मवशात् जीवात्मा की जैसी योग्यता स्वाभाविक रीति से होती है तदनुसार उसको उस गति में जाना पड़ता है।

(४) कभी क्षत्रिय होता है, कभी चांडाल होता है, कभी वुक्कस होता है तो कभी कीड़ा पतंग होता है। कभी कुंथु (क्षुद्र जंतु) या चींटी भी होता है।

टिप्पणी—जिसकी मां ब्राह्मणी और पिता चाण्डाल हो उसे 'वुक्कस' कहते हैं। किन्तु यहां 'मिश्र जाति' से आशय है।

(५) कर्मपिंड से लिपटे हुए प्राणी इस तरह से संसार चक्र में फिरते रहते हैं और जिस तरह से सब कुछ साधन रहने पर भी क्षत्रिय सर्वार्थों की प्रतीति नहीं करपाते उसी तरह संसार में रहते हुए भी उन्हें वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती।

टिप्पणी—चार वर्णों में क्षत्रियों को विशेष भोगी माना है और इसी लिये उनकी यहां उपमा दी गई है।

(६) कर्मों के फंदों में फंसे हुए और तज्जन्य क्लेश से दुःखी जीव अमानुषी (नरक या तिर्यंच) गति में चले जाते हैं।

(७) कर्मों का अधिक नाश होने पर शुद्धिप्राप्त जीवात्मा, अनुक्रम से मनुष्य योनि को प्राप्त होता है।

टिप्पणी—शास्त्रकारों ने मनुष्यभव को उत्तम माना है क्योंकि आत्मविकास के सभी साधन इस जन्म में प्राप्त होते हैं।

(८) मनुष्य शरीर पाकर भी उस सत्यधर्म का श्रवण दुर्लभ है जिस धर्म को श्रवण करने से जीव तपश्चर्या, क्षमा और अहिंसा को पासकें।

टिप्पणी—सत्संग, सत्य अथवा सद्धर्म की प्राप्ति तभी मानी जाय जब कि उपरोक्त सद्गुण प्रकट हों।

(९) कदाचित वैसा सत्य श्रवण मिलभी जाय फिर भी उस पर श्रद्धा होना (सत्यधर्म पर पूर्ण अडग प्रतीति होना) तो बहुत ही दुर्लभ है, क्योंकि न्यायमार्ग (मुक्तिमार्ग) को सुनने पर भी बहुत से जीव पतित होते हुए देखे जाते हैं।

टिप्पणी—शास्त्र को अथवा गुरुवचन को सत्यबुद्धि से निश्चयपूर्वक धारण करने की स्थिति (दशा) को 'श्रद्धा' कहते हैं। श्रद्धावान् मनुष्य उपदेश श्रवण के बाद अकर्मण्य बैठा नहीं रहता। (आत्मविकास के मार्ग में लग ही जाता है।)

(१०) मनुष्यत्व, सत्य श्रवण और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी संयम की शक्ति प्राप्त होना तो अति कठिन है। बहुत से जीव सत्य को रुचिपूर्वक सुनते तो हैं किन्तु उसको आचरण में नहीं ला सकते।

टिप्पणी—ऐसा होने का कारण अनिवार्य कर्म बन्धन बताया है अन्यथा सत्य की तरफ रुचि होने पर उसको आचरण में लाये बिना रहा नहीं जा सकता।

(११) मनुष्यत्व को प्राप्त कर जो जीव धर्म सुनकर श्रद्धालु बनता है वह पूर्व कर्म को रोककर शक्तिप्राप्त करता है और संयम धारण कर तपस्वी बनकर कर्म जाल का नाश कर डालता है।

(१२) सरल आत्मा की शुद्धि होती है और शुद्ध मनुष्य के अन्तःकरण में ही धर्म ठहर सकता है। ऐसा जीव घी से सिंचित अग्नि की तरह शुद्ध होकर क्रमशः श्रेष्ठ मुक्ति को प्राप्त करता है।

(१३) कर्म के हेतु (कारण) को ढूंढो। क्षमा से कीर्ति प्राप्तकरो ऐसा करने से पार्थिव (स्थूल) शरीर को छोड़कर तू ऊंची दिशा में जायगा।

टिप्पणी—अपनी अंतरात्मा को लक्ष्य करके यह कथन किया गया है। अथवा शिष्य को लक्ष्य करके गुरु ने कहा है।

(१४) अति उत्कृष्ट आचारों (संयमों) के पालने से [जीवात्मा] उत्तमोत्तम यक्ष (देव) होता है। वे देव अत्यंत शुक्ल (श्वेत) कांति वाले होते हैं और वे ऐसा मानते हैं कि मानों अब उनका वहां से कभी पतन ही नहीं होगा।

टिप्पणी—देवगति में एकांत सुख ही सुख है। वहां बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था नहीं होती। वे मृत्यु तक समान दशा में रहते हैं। इसी दृष्टि से उक्त कथन किया गया है।

(१५) दिव्य सुखों को प्राप्त और कामरूप (इच्छानुसार रूप) धारण करने वाले वे देव ऊंचे (कल्पादि) देवलोक में सैंकड़ों पूर्व (असंख्य काल) तक निवास करते हैं।

टिप्पणी—कल्पादि देवलोक की उच्च श्रेणियां हैं और 'पूर्व' एक अत्यंत विशाल काल प्रमाण को कहते हैं।

(१६) उस स्थान (देवलोक) में यथायोग्य स्थिति करके आयु के पूर्ण होने पर वहां से च्युत होकर वे देव मनुष्य योनि में उत्पन्न होते हैं और वहां उनको १० अंगों की (उत्तमोत्तम सामग्री की) प्राप्ति होती है।

(१७) क्षेत्र (ग्रामादि), वास्तु (घर), सुवर्ण (उत्तम धातुएं) पशु, दास (नौकर), ये ४ काय स्कन्ध जहां होते हैं वहां वे जन्म लेते हैं।

टिप्पणी—ये चारों विभाग मिलकर एक अंग बनता है।

(१८) (और वे) मित्रवान, ज्ञातिमान्, उच्चगोत्र वाले, कांतिमान्, अल्परोगी, महाबुद्धिमान्, कुलीन, यशस्वी तथा बलिष्ट होते हैं।

टिप्पणी—ये नौ अंग तथा ऊपर का एक मिलकर सब १० अंग हुए।

(१९) अनुपम मनुष्य योग्य भोगों को आयुपर्यन्त भोगते हुए भी पूर्व के विशुद्ध सत्यधर्म को पालन कर और शुद्ध सम्यक्त्व को प्राप्त कर—

टिप्पणी—जैनदर्शनानुसार मोक्ष मार्ग की १ ली सीढी का नाम सम्यक्त्व है।

(२०) (तथा) जो पुरुष ४ अंगों (जिनका वर्णन ऊपर किया है) को दुर्लभ जानकर संयम ग्रहण कर कर्मांशों (कर्म समूहों) को तपद्वारा दूर करता है वह अवश्य ही सिद्ध होता है (स्थिर मुक्ति को प्राप्त करता है)।

टिप्पणी—जैन दर्शन में आत्म विकास के पुण्य और निर्जरा ये दो अंग माने गये हैं। पुण्य से ही साधन मिलते हैं और सत्य धर्म को समझ कर उन साधनों द्वारा (पतित न होकर) आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होने को "निर्ज़रा" कहते हैं। सच्चे धर्म को नट की उपमा दी गई है। वह नाचता है फिर भी उसकी निगाह—दृष्टि रस्सी पर ही लगी रहती है। उसी तरह सद्धर्मी की दृष्टि तो, प्राप्त साधनों का उपयोग करते हुए भी मोक्ष की तरफ ही लगी रहती है।

ऐसा मैं कहता हूँ:—

इस तरह चतुरंगीय नामक तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ।

असंस्कृत

४

जीवन चंचल है। पूर्व संचित कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं। इन दोनों बातों का वर्णन इस अध्ययन में बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है।

भगवान बोले :—

(१) टूटा हुआ जीवन फिर जुड़ नहीं सकता, इसलिये (हे गौतम !) तू एक समय (काल का सबसे छोटा प्रमाण) का भी प्रमाद मत कर। सचमुच वृद्धावस्था से ग्रसित पुरुष का कोई शरणभूत नहीं होता ऐसा तू चिन्तन कर। प्रमादी और इसीलिये हिंसक बने हुए विवेकशून्य जीव किसकी शरण में जांयगे।

टिप्पणी—यद्यपि यह कथन गौतम को लक्ष्य करके कहा गया है फिर भी 'गोयम' शब्द का अर्थ इन्द्रियों का नियम करने वाला 'मन' भी हो सकता है। हम आत्माभिमुख होकर अपने मन के प्रति इस संबोधन का अवश्य उपयोग कर सकते हैं। दूसरी सभी वस्तुएं

टूटने पर फिर जोड़ी जा सकती हैं, किन्तु यह जीवन दोरी (जीवन रूपी रस्सी) एक वार टूट कर फिर कभी नहीं जुड़ती।

(२) कुबुद्धि वशात् (अज्ञान वशात्) पाप कृत्य करके जो मनुष्य धन प्राप्त करते हैं वे कर्म बन्ध में बन्धे हुए और वैर (की सांकलों में) फंसे हुए (मृत्यु समय) धन को यहीं छोड़ कर (परलोक में) नरक गति में जाते हैं।

(३) सेंध लगाते हुए पकड़ा गया चोर जिस तरह अपने कर्म से काटा जाता (पीड़ित होता) है उसी तरह ये जीव इसलोक और परलोक में अपने अपने कर्मों द्वारा पीड़ित होते हैं क्योंकि संचित कर्मों को भोगे विना छुटकारा नहीं होता।

टिप्पणी—जो जैसे कर्म करता है उनको वही भोगता है। कर्ता एक हो और भोक्ता कोई दूसरा हो ऐसा नहीं हो सकता। इसी न्याय से इस लोक में जिन कर्मों का फल भोगना बाकी रहता है उनको दूसरे भव में भोगने के लिये उस आत्मा को पुनर्जन्म धारण करना ही पड़ेगा इस तरह पुनर्भव (पुनर्जन्म) की सिद्धि स्वयमेव हो जाती है।

(४) संसार को प्राप्त जीव दूसरों के लिये (या अपने जीवन व्यवहार में) जो कर्म करता है वे सब कर्म उदय (परिणाम) काल में खुद उसको ही भोगने पड़ते हैं। उसके (धन में भागीदार होने वाले) बन्धु बान्धव कर्मों में भागीदार नहीं होते।

(५) प्रमादी जीवात्मा धन से भी इस लोक या परलोक में शरण प्राप्त नहीं कर सकता। जिस तरह (अन्धियारी रात में) दिया के बूझने पर गाढ़ अन्धकार फैल जाता

है उसी तरह ऐसा पुरुष न्याय मार्ग को देख कर भी मानों देखता ही न हो इसतरह व्यामोह में जा फंसता है।

टिप्पणी—कुछ लोगों की यह मान्यता है कि 'मरते समय धनसे यमदूत को समझा लेंगे'। किन्तु जीव के चलने के समय धनादि भी शरणरूप नहीं होते इस बात का इसमें इशारा किया है।

(६) इसलिये सुप्तों में जागृत (आसक्त पुरुषों में निरासक्त), बुद्धिमान और विवेकी ऐसा साधक (जीवन का) विश्वास न करे, क्योंकि क्षण भयंकर है और शरीर निर्बल है, इसलिये भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त होकर विचरे।

टिप्पणी—काल द्रव्य अखंड है किन्तु शरीर तो नाशवान है इस अपेक्षा से भयंकर बता कर क्षणमात्र का भी प्रमाद न करने का उपदेश दिया है। भारंड पक्षी के दो मुख होने पर भी शरीर एक ही होता है इस लिये वह चलते, बैठते, उठते हमेशा मन में ख्याल रखता है। इसी तरह साधक को भी सावधान रहना चाहिये।

(७) थोड़ीसी भी आसक्ति जाल के समान है, ऐसा मानकर डग डग पर सावधान होकर चले। जहां तक लाभ हो तहां तक संयमी जीवन को लम्बावे किन्तु अन्तकाल समीप आया देख इस मलिन शरीर का अन्त लावे।

टिप्पणी—अप्रमत्त साधक को जब अपनी आयुष्य की पूर्णता का पूरा २ विश्वास हो जाय तभी उसका समझ पूर्वक त्याग करे अन्यथा देह पर भले ही ममत्व न हो तो भी इसे आत्मविकास का साधन मान कर इसकी रक्षा करने के कर्तव्य को न भूले।

(८) जैसे सधा हुआ और कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है उसी तरह साधक मुनि स्वच्छन्द (अपनी वासनाओं) को रोकने से मुक्ति प्राप्त करता है और पूर्व

(असंख्य वर्षों का लम्बा काल प्रमाण) तक अप्रमत्त रह कर जो विचरता है वह मुनि उसी भव से शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है।

टिप्पणी—पतन के दो कारण हैं, (१) स्वच्छन्द, और (२) प्रमाद। मुमुक्षु को चाहिये कि प्रारंभ से ही इन्हें दूर करे तथा अर्पणता और सावधानता को प्राप्त करे।

(९) शाश्वत (नियति) वादी मतवादियों की यह मान्यता है कि जो वस्तु पहिले न मिली हो पीछे से भी वह नहीं मिल सकती। (यहां विवेक करना उचित है अन्यथा उस मनुष्य को) शरीर का विरह (जुदाई) होते समय अथवा आयुष्य के शिथिल होने पर उनकी भी मान्यता वदल जाती है (और खेद करना पड़ता है)।

टिप्पणी—जो हमने पहिले नहीं किया तो अब क्या कर सकेंगे ? ऐसा समझ कर भी पुरुषार्थ न छोड़े। सब कालों में और सभी परिस्थिति में पुरुषार्थ तो करते ही रहना चाहिये। यहां परंपरा के अनुसार ऐसा भी अर्थ होता है कि शाश्वतवादी (निश्चय से कह सकें ऐसे ज्ञानी जन) त्रिकालदर्शी होने से, अभी ऐसा ही होगा, फिर ऐसा नहीं होगा, अथवा अभी यह जीव प्राप्त कर सकेगा, बाद में नहीं आदि आदि निश्चय पूर्वक जानते हैं वे तो पीछे भी पुरुषार्थ कर सकते हैं परन्तु यह उपमा तो उन्हीं महापुरुषों को लागू पड़ती है, औरों को नहीं। जो उनकी तरह दूसरा साधारण जीवात्मा भी वैसा ही करने लगेतो अन्त समय में उसको पछताना ही पड़ेगा।

(१०) ऐसा शीघ्र विवेक (त्याग) करने की शक्ति किसी में नहीं है इसलिये महर्षि, कामों (भोगों) को छोड़ कर,

संसार स्वरूप को समभाव (सम दृष्टि) से समझ कर और आत्मरक्षक बनकर अप्रमत्त रूप से विचरे।

टिप्पणी—काम सेवन करते हुए भी जागृति या निरासक्ति रखना सरल नहीं है। इसलिये प्रथम काम (भोग विलासों) को ही छोड़ देना उत्तम है।

(११) वारम्वार मोह को जीतते हुए और संयम में विचरते हुए त्यागी को विषय अनेक स्वरूप में स्पर्श करते हैं किन्तु भिक्षु उनके विषय में अपना मन कलुषित न करे।

(१२) (ललचाने वाला) मन्द मन्द स्पर्श यद्यपि वहुत ही आकर्षक होता है किन्तु संयमी उसके प्रति अपने मन को आकृष्ट न होने देवे, क्रोध को दबावे, अभिमान को दूर करे, कपट (मायाचार) का सेवन न करे और लोभ को छोड़ देवे।

(१३) जो अपनी वाणी (विद्वत्ता) से ही संस्कारी गिने जाने पर भी तुच्छ और पर-निंदक होते हैं तथा राग द्वेप से जकड़े रहते हैं वे परतन्त्र और अधर्मी हैं ऐसा जान कर साधु उनसे अलग रह कर शरीर के अन्त तक (मृत्यु-पर्यंत) सद्गुणों की ही आकांक्षा करे।

ऐसा मैं कहता हूँ।

इस तरह "असंस्कृत" नामक चतुर्थ अध्ययन पूर्ण हुआ।

अकाम मरणीय
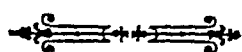
५

मृत्युकाल—यह जीवन कार्य का जोड़ है। जीवन में भी मरण तो अनेक बार होता है क्योंकि प्रमाद ही मरण है फिर भी इस अध्ययन में तो शरीर त्याग के समय की दशा का वर्णन किया है। उस स्थिति को पहिले से ही समझ कर आत्मा अप्रमत्त हो सके यही इस वर्णन का हेतु है।

(१) दुस्तर और महाप्रवाह वाले इस संसार समुद्र को अनेक पुरुष पार कर गये वहां महाबुद्धिमान एक जिज्ञासु ने यह प्रश्न पूंछा:—

(२) जीवों की मरण समय में दो स्थितियां होती हैं। (१) अकाम मरण; और (२) सकाम मरण।

टिप्पणी—जिस मरण के समय में अशांति हो उसे अथवा ध्येयशून्य मरण को 'अकाम मरण' और ध्येयपूर्वक मृत्यु को 'सकाम मरण' कहते हैं।

(३) बालकों का तो अकाम मरण होता है जो बारंबार हुआ करता है और पंडित पुरुषों का सकाम मरण होता है जो केवल एकही बार होता है।

टिप्पणी—जैनदर्शन में शुद्ध सम्यक्त्वी जीव के मरण को पंडित मरण माना है और ऐसी आत्मा अधिक से अधिक संसार में एक ही बार फिर से जन्म धारण करती है और सामान्य जीवों को अनेक बार जन्म मरण करने पड़ते हैं।

(४) इस पहिली स्थिति को भगवान महावीर ने इस प्रकार बताई है कि जो इन्द्रिय विषयों में आसक्त है वह बालक (मूर्ख) है और वह बहुत से क्रूर कृत्य करता रहता है।

टिप्पणी—जो कोई हिंसादि अत्यन्त क्रूर कर्म करता है वही अकाम-मरण का अनुभव करता है।

(५) जो कोई भोगोपभोगों में आसक्त होकर असत्य कर्मों को आचरता है उसीकी ऐसी मान्यता होती है कि 'मैंने परलोक देखा ही नहीं है और इन भोगोपभोगों का सुख तो प्रत्यक्ष है,।

(६) 'ये भोगोपभोग तो हाथ में आए हुए प्रत्यक्ष हैं और जो पीछे होने वाला है वह तो समय पाकर आगे होगा (इस-लिये उसकी चिन्ता क्या ?) परलोक किसने देखा है ? और कौन जानता है कि परलोक है या नहीं।

(७) 'जो दूसरों को होगा वही मुझे भी होगा',—इस तरह यह मूर्ख बड़बड़ाया करता है और इस तरह कामभोग की आसक्ति से अन्त में कष्ट भोगता है।

भोगों की आसक्ति का परिणाम ?

(८) इस कारण वह त्रस और स्थावर जीवों को दंडित करना शुरू करता है और अपने लिये केवल अनर्थ से (हेतु पूर्वक अथवा अहेतु से) प्राणि समूह की हत्या कर डालता है।

टिप्पणी—त्रस जीव वे हैं जो चलते फिरते दिखाई देते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों को जो आंखों से स्पष्ट रूप से न दिखाई दें, उन्हें स्थावर जीव कहते हैं यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक शोध से यह बात सर्वमान्य हो गई है कि जल, वायु वनस्पति आदि में सूक्ष्म जीव हैं।

(९) क्रमशः हिंसक, असत्यभाषी, मायाचारी, चुगलखोर, शठ और मूर्ख वह शराब और मांस खाता हुआ, ये वस्तुएं उत्तम हैं ऐसा मानता है।

(१०) काया और वचनों से मदान्ध बना हुआ तथा धन और स्त्रियों में आसक्त बना हुआ वह, जैसे केंचुआ मिट्टी को दो प्रकार से इकट्ठी करता है उसी तरह, दो तरह से कर्मरूपी मल को इकट्ठा करता है।

टिप्पणी—'दो तरह से यह इकट्ठा करना' इसका आशय यहां शरीर और आत्मा दोनों के अशुद्ध होने से है। शरीर के पतन होने के बाद उसको सुधारने का मार्ग बड़ी कठिनता से मिल भी जाता है किंतु आत्मपतन के उद्धार का मार्ग मिलना तो असंभव जैसा कठिन है।

(११) उसके बाद, परिणाम में रोगों द्वारा जर्जरित और उसके कारण अत्यन्त खिन्न हुआ वह जीव हमेशा पश्चात्ताप की अग्नि में तपा करता है। और अपने किये हुए दुष्कर्मों को याद कर करके वह परलोक से भी अधिकाधिक डरने लगता है।

(१२) "दुराचारियों की जहां गति होती है ऐसे नरकों के स्थानों को मैंने सुना है। वहां क्रूर कर्म करने वालों को असह्य वेदना होती है।

टिप्पणी—जैन शास्त्रों में ७ नरकों का विधान है जहां कृत कर्मों की भयंकरता के फलस्वरूप उत्तरोत्तर अकल्पनीय वेदनाएं नारकियों को भोगनी पड़ती हैं।

(१३) वहां औपपातिक (स्वयं कर्मवशात् उत्पत्ति होती है ऐसे नरक) स्थानों जिनके विषय में मैंने पहिले सुना है, वहां जाकर जीव कृत कर्मों का खूब ही पश्चात्ताप करते हैं।"

(१४) जैसे गाड़ीवान जान-बूझ कर सरियाम रास्ता को छोड़ कर विषम मार्ग में जाय और वहां गाड़ी की धुरी टूटने से शोक करता है।

(१५) उसी तरह धर्म को छोड़कर अधर्म को ग्रहण कर मृत्यु के मुंह में गया हुआ वह पापी जीव, मानों जीवन की धुरा टूट गई हो वैसे ही शोक करता है।

(१६) उसके बाद वह मूर्ख, मरण के अंत में भय से त्रस्त होकर कलि (जुए के दाव) से हारे हुए ठग की तरह अकाम मरण की मौत मरता है।

टिप्पणी—जुए में कभी २ जिस तरह धूर्त भी हार जाते हैं वैसे ही अकाममरण से ऐसा पापी-जीव जन्म की बाज़ी हार जाता है।

(१७) यह बालकों (मूर्ख प्राणियों) के अकाम मरण के विषय में कहा। अब पंडितों (पुण्यशील पुरुषों) के सकाम मरण के विषय में मैं कहता हूँ वह ध्यान पूर्वक सुनो—ऐसा भगवान सुधर्म स्वामी ने कहा:—

(१८) पुण्यशाली (सुपवित्र) पुरुषों, ब्रह्मचारियों और संयमी पुरुषों का व्याघातरहित और अति प्रसन्नता पूर्ण वह मरण, जैसा कि मैंने सुना है—

(१९) सब भिक्षुओं को या सब गृहस्थों को प्राप्त नहीं होता है किन्तु कठिन व्रत पालने वाले भिक्षुओं और भिन्न २ प्रकार के सदाचार सेवन करने वाले गृहस्थों को ही प्राप्त होता है।

(२०) बहुत से कुसाधुओं की अपेक्षा गृहस्थ भी अधिक संयमी होते हैं किन्तु साधुता की दृष्टि से तो सब गृहस्थों की अपेक्षा साधु ही अधिक संयमी होता है।

टिप्पणी—यह गाथा अत्यन्त गम्भीर और सच्चे संयम का प्रतिपादन करनेवाली है। वेश या अवस्था विशेष संयम के पोषक या बाधक हैं ही नहीं।

(२१) बहुत काल से धारण किया हुआ चर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटि (बौद्ध साधुओं का उत्तरीय वस्त्र), या मुंडन आदि सभी चिन्ह दुराचारी वेशधारी साधु की रक्षा नहीं कर सकते।

टिप्पणी—भिन्न भिन्न चिन्ह (तिलक, छापे, चर्म, जटा आदि) संयम के रक्षक नहीं हैं केवल सदाचार ही संयम का रक्षक है।

(२२) भिक्षाचरी करनेवाला भिक्षु भी यदि दुराचारी होगा तो वह नरक से नहीं छूट सकता। (सारांश यह है कि) चाहे भिक्षु हो या गृहस्थ, जो कोई भी सदाचारी होगा वही स्वर्ग में जा सकता है।

टिप्पणी—साधु नरक नहीं जाता या श्रावक नरक नहीं जाता ऐसा ठेका किसी ने नहीं लिया। जो कोई भी जिस किसी अवस्था में रह कर दुराचार करेगा वह अवश्य ही नरकगामी होगा और जो कोई सदाचार सेवन करेगा वह स्वर्ग प्राप्त करेगा।

गृहस्थी सुव्रती (सदाचारी) कैसे बने ?

(२३) गृहस्थ भी सामायिकादि अंगों को श्रद्धापूर्वक (अर्थात् मन, वचन और काया से) स्पर्श (गृहण) करे और महीने की दोनों पक्खिओं को पौषध धारण करे।

टिप्पणी—सामायिक—यह जैन दर्शन में आत्मचिंतन की क्रिया है। और इस क्रिया को श्रावक प्रायः हमेशा ही करते ही रहते हैं इन क्रियाओं को शुद्ध रीति से करते रहने से आत्म साक्षात्कार होकर मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु ये सामायिक मात्र दो घड़ी भर की क्रिया है और पौषध क्रिया एक पूरे दिन रात तक आत्मचिंतन करने की क्रिया है। पौषध के दिन उपवास करे और सौम्यासन से बैठ कर आत्मचिंतवन करता रहे ऐसा विधान है।

(२४) इस तरह विचारपूर्वक गृहस्थावास में भी उत्तम व्रत से (सदाचारी) रह सकने वाला जीव इस औदारिक (मलिन) शरीर को छोड़ कर देवलोक में जा सकता है।

टिप्पणी—जैन शास्त्रों में मनुष्यों तथा पशुओं के शरीर को औदारिक शरीर कहा है। औदारिक अर्थात् हड्डी, मांस, रुधिर, चमड़ा आदि बीभत्स (घृणित) वस्तुओं का पुञ्ज।

(२५) और जो संवर करने वाला (संसार से निवृत्त हुआ) भिक्षु होता है वह सब दुःखों का नाश करके मुक्त अथवा महा ऋद्धिमान देव (इन दोनों में से एक) होता है।

टिप्पणी—यहां एक शंका होती है कि मुनि को तो मुक्ति प्राप्ति होती है, गृहस्थ को क्यों नहीं होती ? परन्तु यह बात तो स्पष्ट है कि गृहस्थ जीवन में त्याग—यह एक अपवाद है। जो त्याग गृहस्थावस्था में दुःसाध्य लगता है वही साधु अवस्था में सुसाध्य होता है और वहां उसकी विशेषता भी है। इसीलिये गृहस्थ की अपेक्षा त्यागी अधिक

शीघ्रता और अधिक सरलता से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। वास्तविक रीति से तो जैन दर्शन में त्याग ही मुक्ति का अनुपम साधन माना गया है फिर भले वह साधु जीवन में हो और चाहे वह गृहस्थ जीवन में हो।

देवों के निवास स्थान कैसे होते हैं ?

(२६) देवों के स्थान अत्यंत उत्तम, अत्यंत आकर्षक, अनुक्रम से उत्तरोत्तर अधिक दिव्य कांतिमान्, यशस्वी होते हैं और वहां उच्च प्रकार के देव निवास करते हैं।

वहां विराजमान देव कैसे होते हैं ?

(२७) वहां के निवासी देव दीर्घ आयुष्यवान् , अत्यन्त समृद्धिमान् , काम-रूप (इच्छानुसार रूप धारण करने वाले) दिव्य ऋद्धिमान्, सूर्य के समान कान्तिमान्, और मानों अभी हाल ही पैदा हुए हैं ऐसे सुकुमार देदीप्यमान् होते हैं।

(२८) जो संसार की आसक्ति (ममत्व) से निवृत्त होकर संयम तथा तपश्चर्या का सेवन करता है वह चाहे साधु हो या गृहस्थ हो इन (उपरोक्त) स्थानों में अवश्य जाता है।

(२९) सच्चे पूजनीय, ब्रह्मचारी (जितेन्द्रिय) और संयमियों का (वृत्तान्त) सुनकर शीलवान् तथा बहु सूत्री (शास्त्र का यथार्थ ज्ञाता) साधक मरणांत काल में दुःख नहीं पाता है।

(३०) प्रज्ञावान् पुरुष दया धर्म और क्षमा द्वारा (बाल तथा पंडित मरणों का) तौल करके उसमें विशेष ध्यान देकर

(अर्थात् उस प्रकार की उत्तम आत्म-दशा को प्राप्त करके) विशेष प्रसन्न होता है।

(३१) और उसके बाद जब मृत्यु समीप आती है तब वह श्रद्धालु साधक उत्तम गुरु के पास जाकर लोमहर्ष (देहमूर्च्छा) को दूर कर इस देह के वियोग की इच्छा करे।

टिप्पणी—जिसने अपने जीवन को धर्म में ओतप्रोत कर दिया है वही अन्त समय में मृत्यु को आनन्द के साथ भेंट सकता है।

(३२) ऐसा मुनि मृत्यु प्राप्त होने पर इस शरीर को दूर कर तीन प्रकार के सकाममरणों में से (किसी) एक मरण द्वारा अवश्य मृत्यु पाता है।

टिप्पणी—यह सकाममरण तीन प्रकार का होता है, (१) भक्त प्रत्यख्यान मरण (मृत्यु समय आहार, जल, स्वाद्य, खाद्य, किसी भी प्रकार की वस्तु का ग्रहण न करना); (२) इंगित मरण (इसमें चार प्रकार के आहार के पच्चकखाण सिवाय क्षेत्र की भी मर्यादा बनाली जाती है); (३) पादोपगमन मरण (कंपिलि वृक्ष की शाखा की तरह एक ही करवट कर मृत्यु पर्यंत पड़े रहना) इस तरह तीन प्रकार के सकाममरण होते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ।

इस प्रकार 'अकाममरणीय' नामक पांचवां अध्ययन समाप्त हुआ।
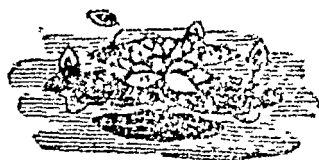
क्षुल्लक निर्ग्रंथ

अनाचारी भिक्षुओं का अध्ययन

६

अज्ञान या अविद्या ही इस संसार का मूल है। केवल शास्त्र पढ़जान से अथवा वाणी द्वारा मोक्ष की बात करने से उसका नाश नहीं हो सकता। अज्ञान का निवारण करने के लिये भी कठिन से कठिन पुरुषार्थ और विवेक संपादन करने चाहिये। इस जन्म में प्राप्त साधन, जैसे धन, परिवार आदि का मोह भी सरलता से नहीं छूट सकता। उसकी आसक्ति हटाने के लिये भी कठिन से कठिन तपश्चर्या करनी पड़ती है तो अनन्त जन्मों से वारसे (उत्तराधिकार) में प्राप्त और जीवन के प्रत्येक अणु के संस्कार में पैठे हुए अज्ञान को दूर करने के लिये बहुत भारी प्रयत्न करना पड़ेगा, यह बात स्पष्ट ही है।

केवल वेश परिवर्तन (भेष-बदलने) से विकास नहीं हो सकता। वेश परिवर्तन के साथ ही साथ हृदय का भी परिवर्तन होना चाहिये। यही कारण है कि जैनदर्शन में ज्ञान के साथ २ आचार (वर्तन) की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया गया है।

भगवान बोले:—

(१) जितने अज्ञानी पुरुष हैं वे सब दुःख उत्पन्न करने वाले हैं (दुःखी हैं,) वे मूढ पुरुष इस अनन्त संसार में बहुत बार नष्ट (दुःखी) होते हैं।

टिप्पणी—अज्ञान से मनुष्य स्वयं तो दुःखी होता ही है साथ ही अपने पड़ोसियों को भी वह दुःखदायी होता है।

(२) इसलिये ज्ञानी पुरुष, जन्म मरण को बढ़ाने वाले इस जाल को समझ कर (छोड़कर) अपनी आत्मा द्वारा सत्य की खोज करे और सत्यशोधन का पहिला साधन मैत्रीभाव है, इसलिये प्राणीमात्र के साथ मित्रभाव स्थापे।

(३) स्त्री, पुत्र, पौत्र, माता, पिता, भाई, पुत्र वधुएं आदि कोई भी अपने संचित कर्मों द्वारा पीड़ित तुम्हें लेशमात्र भी शरणभूत नहीं हो सकते।

(४) सम्यक् दृष्टि पुरुष को अपनी (शुद्ध दृष्टि से) बुद्धि से इस बात को विचारनी चाहिये और पूर्व परिचय (पूर्व वासना जन्य उद्रेक) की इच्छा न करनी चाहिये। उसे आसक्ति और स्नेह को तो सर्वथा दूर ही कर देना चाहिये।

टिप्पणी—सम्यक् दर्शन अर्थात् आत्मभान। ज्यों ज्यों आसक्ति और राग दूर होते जाते हैं त्यों त्यों आत्मदर्शन होता जाता है। इस अवस्था में, पूर्व में भोगे हुए भोगोपभोगों का मन में स्मरण न आने दे और आत्म जागृति में निरन्तर सावधान रहे, ऐसा विधान किया गया है।

(५) गाय, घोड़ा, आदि पशुधन को, मणिकुंडलों को, तथा दासी दास आदि सब को छोड़ कर तू कामरूपी (इच्छा-

नुसार रूप धारण करने वाला) देव बन सकेगा। (मन में ऐसा विचारना चाहिये)।

(६) (और) स्थावर अथवा जंगम किसी भी प्रकार की मिल-कत (धन संपत्ति), धान्य या आभूषण, कर्मों के फल से पीड़ित मनुष्य को दुःखों के पंजों से नहीं छुड़ा सकते ऐसा तू समझ।

(७) आत्मवत् सर्वत्र सब जीवों को मान कर (अर्थात् जिस तरह हमें अपने प्राण प्यारे हैं उसी तरह दूसरों को भी अपने अपने प्राण प्यारे हैं ऐसा जान कर) भय और वैर से विरक्त आत्मा किसी भी प्राणी के प्राणों को न हने (न मारे या न सतावे)।

टिप्पणी—भय क्रूरता से ही पैदा होता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक क्रूर होगा उतना ही वह भयभीत भी रहेगा। वैर यह शत्रुता की भावना है। इन दोनों से यदि विरक्त हो जाय तो फिर सर्व जीवों के प्रति प्रेमामृत बहता रहे। अपनी उपमा से (जैसा अपने लिये वैसा ही दूसरों के लिये) प्रत्येक जीव के साथ वर्ते तो प्राणीमात्र पर स्वाभाविक प्रेम पैदा हुए बिना न रहे।

(८) मालिक की आज्ञा बिना कोई भी वस्तु ग्रहण करना यह नरक गति का कारण है ऐसा मान कर घास का तिनका भी दिये बिना ग्रहण न करे। भिक्षु अपनी इन्द्रियों का निग्रह करके अपने पात्र में दाता द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिये गये भोजन को ही ग्रहण करे।

टिप्पणी—अदत्त की मनाई गृहस्थ के लिये भी है किन्तु इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि गृहस्थ पुरुषार्थ करके अपने हक्क की

वस्तु ले सकता है। यदि वह नीति का भंग कर, दी हुई वस्तु को वापिस ले ले तो वह भी अदत्त ही है।

(९) (यहाँ) बहुत से तो ऐसा ही मानते हैं कि पापकर्म त्याग किये विना भी आर्यधर्म को जानने मात्र से ही सर्व दुःखों से छूट सकते हैं (किन्तु यह ठीक नहीं है)।

टिप्पणी—इस श्लोक में ज्ञान की अपेक्षा वर्तन (आचरण) की महत्ता बताई है। आचार न हो तो वाणी निरर्थक है।

(१०) बंध और मोक्ष की बातें करने वाले, आचार का व्याख्यान देने पर भी स्वयं कुछ आचरण नहीं करते। वे मात्र वाग्शूरता (वाणी की बहादुरी) से ही अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं।

(११) भिन्न २ तरह की (विभिन्न) भाषाएं (इस जीवको) शरणभूत नहीं होती है तो फिर कोरी विद्या का अधीश्वर-पन (पंडितपन) क्या शरणभूत होगा? पाप कर्मों द्वारा पकड़े हुए मूर्ख कुछ न जानते हुए भी अपने को पंडित मानते हैं।

(१२) जो कोई बाल (अज्ञानी) जीव; शरीर में, रंग में, सौंदर्य में सर्व प्रकार से (अर्थात् मन, वचन और काया से) आसक्त होते हैं वे सब दुःख भोगी होते हैं।

(१३) वे इस अपार भवसागर में अनन्तकाल तक चक्कर लगाते रहेंगे, इस लिये मुनि का कर्तव्य है कि वह चारों तरफ देख भाल कर अप्रमत्त होकर विचरे।

(१४) बाह्य सुख को आगे करके (मुख्यता देकर) कभी किसी (वस्तु) की इच्छा न करे।

टिप्पणी—शरीर, धन, स्वजन आदि सामग्री मुख्य नहीं है, गौण है। उसका दुरुपयोग करने से ही सुख मिल सकता है। उसकी लालसा में यदि कोई जीवन खर्च करेगा तो वह सब कुछ खो बैठेगा।

(१५) कर्मों के मूल कारण (बीज) का विवेक पूर्वक विचार करके अवसर (योग्यता) देख कर (संयमी बनने के पीछे) निर्दोष भोजन और पानी को भी माप (परिमाण) से ग्रहणकरे।

टिप्पणी—योग्यता बिना संयम नहीं टिक सकता। इसी लिए 'अवसर देख कर' इस विशेषण का प्रयोग किया है। त्याग और तप के बिना पूर्व संचित कर्मों का नाश असंभव है इसी लिए त्याग को अनिवार्य बताया है।

(१६) त्यागी लेशमात्र भी संग्रह न करे। जैसे पक्षी अन्य वस्तुओं से निरपेक्ष रह कर केवल परों को अपने साथ लेकर विचरता है वैसे ही मुनि भी (सब वस्तुओं से) निरपेक्ष होकर विचरे।

(१७) लज्जावन्त (संयमी लज्जा रखने वाला) और ग्रहण करने में भी मर्यादा रखने वाला भिक्षु ग्राम, नगर इत्यादि स्थानों में, बन्धन रहित (निरासक्त) होकर विचरे और प्रमादियों (गृहस्थों) के संसर्ग में रहने पर भी अप्रमत्त रहकर भिक्षा की गवेषणा (शोध) करे।

"इस प्रकार से वे अनुत्तर ज्ञानी तथा अनुत्तर दर्शनधारी अर्हन्त भगवान ज्ञातपुत्र महावीर विशाली नगरी में व्याख्यान करते थे"—ऐसा जंबू स्वामी को सुधर्म स्वामी ने कहा।

ऐसा मैं कहता हूँ

इस तरह "क्षुल्लक निर्ग्रन्थ" नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

एलक

बकरे का अध्ययन

७

भोग में तृप्ति नहीं है और जड़ में कहीं भी सुख नहीं है। भोगों में जितनी आसक्ति होगी उतनी ही आत्मा अपने स्वरूप से दूर रहेगी। जितना ही अपने स्वरूप से दूर रहा जायगा उतनी ही पापपुंज की वृद्धि होगी और परिणाम में अधोगति में जाना पड़ेगा। इसलिये मनुष्य जन्म को सार्थक करना यही अपना परम कर्तव्य है।

(१) जैसे अतिथि (मेहमान) को लक्ष्य करके (निमित्त) कोई आदमी अपने आंगन में बकरे को पालकर चावल और जौ देकर पोषण करे।

(२) इसके बाद वह हृष्ट पुष्ट, बड़े पेट का, मोटा ताजा, खूब चर्बी वाला बकरा और भी विपुल देहधारी बनता है मानों अतिथि की ही राह देख रहा है !

(३) जब तक वह अतिथि घर नहीं आता तभी तक वह बिचारा (बकरा) जी सकेगा, परन्तु अतिथि के घर आते ही

वह और घरवाले उसका माथा काट डालते (वध कर डालते) हैं और उसे खाजाते हैं ।

(४) सचमुच जैसे वह बकरा केवल अतिथि के लिये ही पाला पोसा गया था उसी तरह अधर्मी बालक (मूर्ख) जीव भी (क्रूर कर्म करके) नरक गति का बंध करने के लिये ही भोगोपभोगों (काम) द्वारा पाप से पोसे जाते हैं ।

टिप्पणी—जिस तरह बकरा खाते समय खूब आनंद मग्न होता है उसी तरह भोग भोगते समय जीवात्मा क्षणिक सुख में मग्न हो जाता है किन्तु जब अतिथिरूपी काल (मृत्यु) आता है तब उसकी महा दुर्गति होती है और पहिले भोगा हुआ, किंचित क्षणिक सुख महा दुःखरूप हो जाता है ।

नरकगामी बाल जीव कैसे दोषों से घिरा रहता है ?

(५) बाल जीव हिंसक, असत्यभाषी, वटेमार, डाकू, मायाचारी, अधर्म की कमाई खाने वाले, शठ, और—

(६) स्त्रियों में आसक्त, इन्द्रियलोलुपी, महारंभी, महा परिग्रही, मद्यपी तथा मांसभक्षक, परापकारी, पाप करने में खूब पुष्ट (पापी),—

(७) बकरा आदि पशुओं के मांस को खाने वाले, बड़े पेट वाले (देयादेय भक्षक), कुपथ्य खाकर शरीर में रक्तवृद्धि करने वाले, ऐसे ये अधर्मी जीव, जैसे वह पुष्ट बकरा अतिथि की राह देखता है वैसे ही वे नरकगति की राह देखते हैं । (अर्थात् ऐसे पापी मरकर नरक में जाते हैं।)

टिप्पणी—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, और कान इन पांच इन्द्रियों के विषयों में जो आसक्त हैं उसे इन्द्रिय लोलुपी कहते हैं । महारंभी

अर्थात् महास्वार्थी हिंसक, और महापरिग्रही अर्थात् अत्यन्त (असंतोषी) आसक्ति वाला ।

(८) (गुदगुदे) कोमल आसन, शय्याएं, सवारियां (गाड़ी घोड़ा आदि), धन तथा भोगोपभोगों को क्षणभर भोग कर अन्त में, कष्टोपार्जित धन को, तथा अनन्त कर्ममल को इकट्ठा करके—

(९) इस तरह पाप के बोझ से दबा हुआ जीवात्मा केवल वर्तमान काल की ही चिन्ता में मग्न (भविष्य कैसा दुःखद होगा इसका विचार किये बिना) रहकर क्षणिक सुख भोगता है किन्तु जैसे अतिथि के आने पर वह पुष्ट बकरा महादुःख के साथ मृत्यु को प्राप्त होता है वैसे ही वह पापी भी मृत्यु के समय अत्यंत पश्चात्ताप करता है ।

टिप्पणी—प्रत्युत्पन्न परायण अर्थात् पीछे क्या होगा उसको नहीं विचारने वाला जीव। कार्य को प्रारंभ करते समय जो उसके परिणाम को नहीं विचारता है वह अन्त में खूब ही पछताता है किन्तु पिछला पश्चात्ताप बिलकुल व्यर्थ है ।

(१०) ऐसे घोर हिंसक आयु के अंत में इस शरीर को छोड़कर कर्म पाश में बंधकर आसुरी दशा को प्राप्त होते हैं अथवा नरकगति में जाते हैं ।

टिप्पणी—जैनधर्म में ऐसे घोर हिंसकों के लिये असुरगति किंवा नरकगति ये ही दो गतियां मानी हैं ।

(११) जैसे एक मनुष्य ने एक कानी कौड़ी के लिये लाखों सुवर्ण मुद्राएं (मोहरें) खर्च करदीं अथवा एक रोगमुक्त राजाने अपथ्य रूप केवल एक आम खाकर अपना सारा

राज्य गंवा दिया (वैसे ही जीवात्मा क्षणिक सुख के लिये अपना तमाम भव बिगाड़ लेता है)।

टिप्पणी—उक्त दोनों शास्त्रोक्त दृष्टांत हैं। तात्पर्य यह है कि अनुपम तथा अमूल्य आत्म सुख को छोड़कर जो कोई जड़ जन्य विषय भोगों की इच्छा करता है वह कानी कौड़ी के लिये लाखों सुवर्ण मोहरें गंवा देता है। रोगमुक्त करने वाले वैद्य ने राजा को पथ्य पालन के लिये आम न खाने को कहा था किन्तु ज़रा से स्वाद के लोभ से उसने आम खालिया जिससे उसकी मृत्यु हुई। इसी तरह ये संसारी जीव क्षणिक सुख के लिये अपने अनन्त आत्मिक सुख का नाश करके संसार में भ्रमण करते ही फिरते हैं।

देवगति के सुखों की मनुष्य-गति के सुखों से तुलना

(१२) (इस तरह से) मनुष्य-गति के भोगोपभोग देवगति के भोगों के सामने बिलकुल तुच्छ हैं। देवगति के भोग (मनुष्य-गति के भोगों की अपेक्षा) हजारों गुने अधिक और आयुपर्यंत दिव्य स्वरूप में रहने वाले होते हैं।

(१३) उन देवों की आयु भी अमर्यादित (जिसे संख्या द्वारा गिना न जासके) काल की होती है। ऐसा जानते हुए भी सौ से भी कम वर्षों की मनुष्य आयु में दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष विषय मार्ग में बुरी तरह फँस जाते हैं।

(१४) जैसे तीन व्यापारी मूडी लेकर व्यापार करने (परदेश) गये थे किन्तु उनमें से एक को लाभ हुआ, दूसरा अपनी मूडी ज्यों की त्यों लाया,

(१५) और तीसरा अपनी गांठ की मूडी भी गुमाकर पीछे लौटा

था। यह तो एक व्यावहारिक उपमा है। परन्तु इसी प्रकार धर्मार्जन के विषय में भी जानना चाहिये।

टिप्पणी—ये तीनों दृष्टांत शास्त्र में हैं। इस श्लोक में उनका निर्देश मात्र किया है।

(१६) जो साधक अपने में मनुष्यत्व प्रकटाता है वह अपनी मूडी को सुरक्षित रखता है (मनुष्य शरीर की प्राप्ति यह मूल मूडी ही है), जो देवगति पाता है वह नफा करने वाला व्यापारी है किन्तु जो जीव नरक तथा तिर्यंच गति में जाता है वह तो सचमुच अपनी मूड़ी को खोनेवाला व्यापारी है।

टिप्पणी—जो सत्कर्मों से देवगति प्राप्त करते हैं वे मनुष्य भव से कुछ विशेष पाते हैं और जो दुष्कर्म करते हैं वे अधोगति में जाते हैं।

(१७) जिन गतियों में महाक्लेश और वध भरे हुए हैं ऐसी दो गतियां (नरक गति और तिर्यंच गति) बालक (मूढ़) जीवों को प्राप्त होती हैं। आसक्ति के वश में पड़ा हुआ वह शठ जीव देवत्व तथा मनुष्यता को हार बैठता है।

(१८) विषयों ने उसे एक वार जीता (वह विषयासक्त हुआ) कि इससे उसकी दो तरह से दुर्गति होती है जहां से बहुत लंबे समय के बाद भी निकलना उसके लिये दुर्लभ हो जाता है।

टिप्पणी—विकास कठिन है परन्तु पतन तो सुलभ है। एक बार पतन हुआ फिर उच्च भूमिका को प्राप्त होना असंभव जैसा कठिन हो जाता है।

(१९) इस प्रकार विचार करके तथा बाल (अज्ञानी) और

पंडित की तुलना करके, जो अपनी मूल मूड़ी को भी कायम रखता है वह मनुष्य-योनि पाता है।

(२०) ऐसी भिन्न भिन्न प्रकार की शिक्षाओं द्वारा जो पुरुष गृहस्थाश्रम में रहकर भी सदाचारी रहता है वह अवश्यमेव सौम्य मनुष्य योनि को प्राप्त होता है क्योंकि प्राणियों को कर्म फल तो भोगना ही पड़ता है।

(२१) जो महाज्ञानी हैं वे तो अपनी मूड़ी को भी लांघकर (मनुष्य धर्म से भी आगे बढ़कर) शीलवान् तथा विशेष सदाचारी बनकर देवत्व प्राप्त करते है।

टिप्पणी—यदि मनुष्य, मनुष्य धर्म को पालन करता है तो यह तो उसका सामान्य कर्तव्य है; वहां तक तो उसने अपनी मूल मूड़ी ही कायम रक्खी ऐसा समझना चाहिये किन्तु मनुष्य धर्म से भी आगे बढ़ जाय अर्थात् विश्वमार्ग में प्रवेश करे तभी कुछ उसने विशेषता की ऐसा कहा जा सकता है।

(२२) इस प्रकार भिक्षु अदीनता (दीनहीनता, तेजस्विता) और अनासक्ति को जानकर (विचार कर) क्यों नहीं इसे जीते (प्राप्त करे) और इन्हें प्राप्त करके क्यों नहीं शांति संवेदन (अनुभव) करे? (अवश्य करे)

(२३) दाभड़े की नोक पर स्थित अत्यन्त क्षुद्र बिंदु की महासागर के साथ कैसे तुलना की जाय? उसी तरह देवों के भोगों के सामने मनुष्य भव के भोग अत्यन्त क्षुद्र हैं ऐसा समझ लेना चाहिये।

(२४) यदि मनुष्यभव के भोग दाभ की नोक पर स्थित जलबिंदु के समान हैं तो दिनप्रतिदिन होने वाली इस छोटी सी

आयु में कल्याण मार्ग को क्यों न जाना (साधा) जाय ?

(२५) यहां भोगों से अनिवृत्त (कामासक्त) हुए जीवका स्वार्थ (आत्मोन्नति) हना जाता है और ऐसा पुरुष न्याय (मोक्ष) मार्ग को सुन कर भी उस मार्ग से पतित हो जाता है।

टिप्पणी—कामासक्ति यह तमाम रोगों और आपत्तियों का मूल है। इससे हमेशा सावधान रहना चाहिये।

(२६) "जो कामभोगों से निवृत्त रहता है उसकी आत्मोन्नति हनी नहीं जाती, किन्तु इस अपवित्र शरीर को छोड़ कर वह देव स्वरूप को प्राप्त करता है—ऐसा मैंने सुना है"।

(२७) ऐसा जीव, जहां ऋद्धि, कीर्ति, कांति, विशाल आयु, तथा उत्तम सुख होते हैं ऐसे मनुष्यों के वातावरण में (मनुष्य-योनि में) जाकर पैदा होते हैं।

सब का सारांश यह है—

(२८) बालक (मूर्ख) का बालत्व (मूर्खपन) देखो जो धर्म को छोड़कर अधर्म को अंगीकार कर (अर्थात् अधर्मी बनकर) नरक में उत्पन्न होता है।

(२९) और सत्य धर्म पर चलने वाले धीरपुरुष का धीरपन देखो जो धर्मिष्ठ होकर, अधर्म से दूर रह कर, देवत्व प्राप्त करता (देवगति में उत्पन्न होता) है।

(३०) पंडित मुनि; इस प्रकार बाल तथा पंडित भावों की तुलना करे और बाल भाव को छोड़कर पंडित भाव का सेवन करे।

टिप्पणी—'बाल' शब्द केवल अज्ञानता या मूर्खता सूचक ही नहीं है किन्तु इससे 'अनाचार' अर्थ का भी बोध होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार ऐलक संबन्धी सातवां अध्ययन समाप्त हुआ।
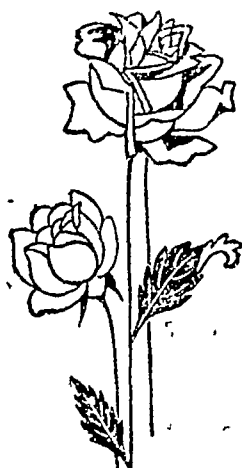
कापिलिक

कपिल मुनि सम्बन्धी अध्ययन

८

मन ही बंध तथा मोक्ष का कारण है। मन का दुष्ट वेग बंध का कारण है और उसकी निर्मलता मुमुक्षुभाव का कारण है। देखो, चित्त की अनियन्त्रितता (उच्छृंखलता) कहां तक घसीट ले जाती है! और अंतरात्मा की एक ही आवाज़, उसकी तरफ लक्ष्य देने से, किस तरह से इस आत्मा को अधःपतन से बचा लेती है! कपिल मुनीश्वर, जो अन्त में अनन्त सुख पाकर मोक्षगामी हुए, उनके पूर्व जीवन में से उक्त दोनों बातों का मूर्तिमान बोधपाठ मिलता है।

कपिल का जन्म कौशाम्बी नगरी में उत्तम ब्राह्मण कुल में हुआ था। युवावस्था में अपनी माता की आज्ञा से वे श्रावस्ती नगरी में जाकर एक दिग्गज पंडित के पास विद्याध्ययन में प्रवृत्त हुए थे। युवावस्था एक प्रकार का नशा है। इस नशे के झोंके में पड़ कर बहुत से युवान मार्ग से पतित हो जाते हैं। कपिल भी अपने मार्ग से च्युत हुए। विषयों की प्रबल

वासना ने उन पर अपना अधिकार जमाया। विषयों की आसक्ति से उन्हें स्त्रीसंग करने की उत्कट इच्छा हुई। स्त्री संग की तीव्रतर लालसा ने उन्हें अंधा बना दिया और उन्हें पात्र कुपात्र तक का भान न रहा। इस कृत्रिम स्नेह के गर्भ में अन्तर्हित विषय की विषमयी वासना को पुष्ट करने वाली अपने जैसी कामुक एक स्त्री भी उन्हें मिल गई और वे दोनों, संसार विलासी जीवों को परम सुख लगने वाले ऐसे काम भोगों को भोगने लगे। वारंवार भोगने पर भी कपिल को जिस रस की प्यास थी वह तो उन्हें नहीं मिला और वे अज्ञानता के वशीभूत होकर अधःपतन के गहरे गड्ढे में नीचे नीचे गिरते चले गये।

एक दिन कपिल लक्ष्मी तथा साधनों से हीन, अत्यन्त दीन होकर बैठे थे। उनकी स्त्री ने उन्हें राज दरबार में जाने की प्रेरणा की। उस राजा का यह नियम था कि जो कोई प्रातःकाल उसके दरबार में आता उसको वह सुवर्णमुद्राओं का दान करता। उसकी ऐसी कीर्ति सुनकर राज दरबार में जाने के लिये कपिल रात्रि के अन्तिम पहर में निकले किन्तु दुर्भाग्य उनके पीछे २ लगा था। ज्योंही वे नगर में घुसे कि सिपाहियों ने उन्हें चोर समझ कर गिरफ्तार कर लिया। अन्त में उनकी सच्ची बात जानकर राजा ने उन्हें दया करके छोड़ दिया और उन पर प्रसन्न होकर यथेच्छ वरदान मांगने को कहा।

कपिल विचार में पड़ गये। 'यह मांगूं वह मांगूं' उनकी लालसा इतने से भी तृप्त न हुई। अन्त में, तमाम राज्य मांगने का विचार किया और राज्य मांगने वाले ही थे कि यकायक अंतरात्मा का नाद सुनाई पड़ा हे कपिल! राज्य पाकर भी तृप्ति कहां है?

कपिल का हृदय स्फटिक के समान निर्मल था इसलिये तत्क्षण ही उनका विचार प्रवाह बदला और उसी समय उन्हें सत्य तत्त्व की झांखी हुई। उनने मन में कहा—'इन भोगों में कहीं भी तृप्ति नहीं है। लालसा के वशीभूत होकर केवल दो माशा (सुवर्णमुद्रा) सोना मांगने की इच्छा से आया हुआ मैं तमाम राज्य की विभूति मांगने को उद्यत हुआ; फिर भी उससे मेरी तृप्ति नहीं हुई! आशागर्त वहां भी कहां भरता है?

अन्त में, इन पूर्व योगीश्वर के पूर्व संस्कार जागृत हो गये। सच्चे सुख का मार्ग समझ में आया और उसी समय उनने बाह्य समस्त परिग्रह का मोह क्षण भर में त्याग दिया। अब उन्हें दो माशे सोने की भी जरूरत न रही। उनके इस विलक्षण वर्ताव ने राजा तथा समस्त दरबारी लोगों को महाश्चर्य में डाल दिया और उनकी सुप्त आत्मा को भी प्रबुद्ध (जागृत) कर दिया।

संतोष के समान कोई सुख नहीं है और तृष्णा ही समस्त दुःखों की जननी (माता) है तृष्णा के शांत पड़ने से कपिल के अनेक आवरण नष्ट हो गये। उनका अंतःकरण प्रफुल्लित हो गया। उत्तरोत्तर उत्तम चिंतन के कारण आत्मध्यान करते करते उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई।

(१) (एक जिज्ञासुने पूंछाः भगवन्!) अनित्य, क्षणभंगुर और दुःखों से भरे हुए इस संसार में ऐसा क्या काम करूँ कि जिससे दुर्गति न पाऊँ?

(२) आचार्य ने कहाः—पहिले की आसक्तियों को छोड़ कर, (नवीन) किसी भी वस्तु (स्थान) में रागबन्धन न बांधते हुए, विषयों से क्रम २ से बिलकुल विरक्त होता जाय तो उस भिक्षु के सभी दोष और महादोष छूट जाते हैं।

(३) (और) अनंत ज्ञान तथा दर्शन के धारक, सर्व जीवों के परम हितैषी, वीतमोह (वीतराग) मुनिवर महावीर भी जीवों की मुक्ति के लिये ऐसा ही कहते हैं।

(४) भिक्षु को सब प्रकार की गांठें (आसक्तियाँ) तथा कलह (वैर-भाव) छोड़ देने चाहिये। सब प्रकार के भोगोपभोगों को देखते हुए भी उनसे सावधान रहने वाला साधु उनमें कभी लिप्त नहीं होता है।

(५) किन्तु भोगोपभोग रूपी आमिष (भोग्य वस्तु) के दोषों से कलुषित, हितकारी मार्ग तथा मुमुक्षु बुद्धि से विमुख, ऐसा बाल (मूर्ख) मंद और मूढ़ जीवात्मा, बल्गम में फंसी हुई मक्खी की तरह, (संसार में) फंस जाता है।

(६) अधीर (आसक्त) पुरुष तो सचमुच बड़ी ही कठिनता से इन भोगों को छोड़ पाते हैं, उनसे भोग सुखपूर्वक सरलता से नहीं छूटते। (किन्तु) जो सदाचारी साधु होते हैं वे इस अपार दुस्तर संसार सागर को तैर कर पार कर जाते हैं।

(७) बहुत से दुष्टबुद्धि तथा अज्ञानी भिक्षु; ऐसा कहा करते हैं कि प्राणिवध हो इसमें क्या है ? ऐसा कहने वाले मृग (आसक्त) और मंदबुद्धि-धारी अज्ञानी, पापदृष्टि भिक्षु नरक गामी होते हैं।

टिप्पणी—कोई दूसरा (गृहस्थ आदि) प्राणिवध करके आहार बनावे तो ऐसा आहार साधु के लिए अकल्प्य (अग्राह्य) है।

(८) 'प्राणिवध में ही क्या दोष है ?' किन्तु ऐसे कथन को जो जीव (करना तो दूर ही रहा) अनुमोदन भी देता

है वह घोर दुःखों के जाल से नहीं छूटेगा—ऐसे सच्चे धर्म को निरूपण करने वाले समस्त आचार्यों ने कहा है।

टिप्पणी—किसी भी मत, वाद या दर्शन में अहिंसातत्व के बिना धर्म नहीं बताया है। जैनधर्म अहिंसा की सूक्ष्म से सूक्ष्म गंभीर समालोचना करता है। वह कहता है कि 'तुम दूसरों को दुःख न दो' इसी में अहिंसा समाप्त नहीं होती किन्तु तुम्हारे द्वारा किसी भी हिंसा के कार्य को उत्तेजन न मिले इस बात का भी विवेक रक्खो'।

(९) जो दूसरों के प्राणों का अतिपात (घात) नहीं करता, तथा समिति धारण कर सब जीवों का रक्षण करता है उसे 'अहिंसक' कहते हैं, ऐसा अहिंसक बनने से उनके पाप, जिस तरह (ऊंची) जमीन से पानी शीघ्र बह जाता है वैसे ही निकल जाते हैं।

टिप्पणी—जैनदर्शन में पांच समितियां मानी गई हैं। उनमें आहार भाषा, शोधन, व्यवस्था तथा प्रतिष्ठापन (कारणवशात् भिक्षादि बचने से उसे कहां डालना ?) विधि का समावेश होता है।

(१०) जगत में व्याप्त त्रस (चलते फिरते) और स्थावर (वृक्ष आदि स्थिर) जीवों पर मन, वचन और काय से दंड (प्रहार) न आरम्भे (करे)।

(११) शुद्ध भिक्षा (का स्वरूप) जानकर भिक्षु उसी में अपनी आत्मा को स्थापे। संयम यात्रा के लिये ही ग्रास (कौल) परिमाण से (मर्यादापूर्वक) भिक्षा ग्रहण करे और रस में आसक्त न बने।

टिप्पणी—साधु संयम निभाने के उद्देश्य से ही भोजन करे, रसनेन्द्रिय की तृप्ति के लिये भोजन न करे।

(१२) भिक्षु, गृहस्थों के बाकी बचे हुए ठंडे आहार और पुरानी उड़द के छिलकों, थूली, सक्तु, (पुलाक) या जौ आदि की भूसी का भी आहार करते हैं।

टिप्पणी—साधु का शरीर मात्र संयम के निमित्त है और शरीर को बनाये रखने के उद्देश्य से ही वह भोजन लेता है।

पतनकारी विद्याएं

(१३) जो (साधु) लक्षणविद्या (शरीर के अमुक चिन्हों से किसी का भविष्य जानने का शास्त्र), स्वप्नशास्त्र और अंगविद्या (अंग उपांगों से प्रकृति जानने का शास्त्र) का उपयोग करते हैं वे साधु नहीं हैं—ऐसी आचार्यों की आज्ञा है।

(१४) (संयम ग्रहण करने के बाद) जो अपने आचरण को नियमपूर्वक न रख कर समाधियोग से भ्रष्ट होते हैं वे काम भोगों में आसक्त होकर (कुकर्म करके) आसुरी गति में जन्म ग्रहण करते हैं।

(१५) फिर वहां से भी फिरते फिरते, संसार चक्र में चक्कर लगाते रहते हैं और कर्म परंपरा में खूब लिपट जाने के कारण उनको सम्यक्त्व (सद्बोध) प्राप्त होना दुर्लभ होता है।

इसलिये कल्याणकारी मार्ग बताते हैं

(१६) यदि कोई इस लोक को उसकी तमाम विभूतियों के साथ एक ही व्यक्ति को उसके उपभोग के लिये दे दे तो भी उसकी तृप्ति नहीं होगी क्योंकि यह आत्मा (बहिरात्मा—कर्मपाश में जकड़ा हुआ जीव) दुष्पूर्य (बड़ी कठिनता

से संतुष्ट होनेवाला) है। (सदा असन्तुष्ट ही रहती है) ।

(१७) ज्यों ज्यों लाभ होता जाता है त्यों त्यों लोभ बढ़ता जाता है। लाभ और लोभ दोनों एक साथ बढ़ते हैं। दो मासा (पहिले जमाने की एक मुद्रा का नाम है) मांगने की इच्छा अन्त में तमाम राज्य से भी पूरी न हुई !

टिप्पणी—ज्यों ज्यों लाभ होता जाता है त्यों त्यों तृष्णा कैसे बढ़ती जाती है उसका आबेहुब चित्र ऊपर दिया है

(१८) जिसका अनेक पुरुषों में चित्त (प्रेम) है ऐसी पीनस्तनी (ऊंचे स्तनवाली) और राक्षसी समान स्त्रियों में अनुरक्त मत बनो क्योंकि ये कुलटाएं प्रथम प्रलोभन देकर पीछे चाकर जैसा अपमानित वर्ताव करती हैं।

टिप्पणी—वेश्या या नीचवृत्ति की स्त्रियों के विषय में उपरोक्त उपदेश है। जिस तरह पुरुषों को स्त्रियों में आसक्त न होना चाहिये वैसे ही स्त्रियों को भी पुरुषों में आसक्त न होना चाहिए यह बात विवेकपूर्वक स्वीकार लेनी चाहिये। शिष्य को लक्ष्य करके कहा गया होने से इस कथन में स्त्री विषयक निर्देश हो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु सच बात तो यह है कि चाहे पुरुष हो अथवा स्त्री, विषय की अतिवासना सभी को अधोगति देने वाली है।

(१९) घर (गृहस्थाश्रम) का त्याग कर संयमी बना हुआ भिक्षु; स्त्रियों पर कभी भी आसक्त न हो। स्त्रीसंग (सहवास) को छोड़ कर उससे हमेशा दूर ही रहे। और अपने चारित्रधर्म को सुन्दर जानकर उसी में अपने मन को स्थिर रक्खे।

(२०) इस तरह विशुद्धमतिवाले कपिल मुनि ने इस धर्म का

वर्णन किया है इसको जो कोई आचरण में लायेंगे वे (भवसागर) पार करेंगे और ऐसे ही नरपुंगवों ने उभय-लोक (इस लोक तथा परलोक) की सच्ची सिद्धि की (ऐसा समझो)।

टिप्पणी—राग और लोभ के त्याग से मन स्थिर होता है। चित्त समाधि के बिना योग की साधना नहीं होती। योग साधना यह तो त्यागी का परम जीवन है। उसकी सिद्धि में कंचन और कामिनी के आसक्ति विषयक बंधन प्रति क्षण विघ्नरूप होते हैं। मुनि ने (बाह्यरूप से तो) वे त्यागे ही हैं फिर भी (अनन्तकालीन स्वभाव के कारण) आसक्ति बनी रहती है। उस आसक्ति से भी दूर रहने के लिये निरन्तर जागृत (सावधान) रहना यही संयमी के जीवन का एकतम अनिवार्य कार्य है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार कपिल मुनि संबंधी आठवां अध्ययन समाप्त हुआ।
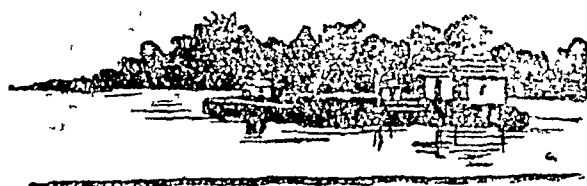
नमि प्रव्रज्या
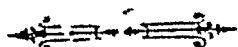
नमि राजर्षि का त्याग

६

मिथिला के महाराजा नमिराज दाघज्वर की दारुण वेदना से पीडित हो रहे थे। उस समय महारानियां तथा दासियां खूब चन्दन घिस रहीं थीं। हाथ में पहरी हुई चूडियों की परस्पर रगड़ से जो शब्द उत्पन्न होता था वह महाराज के कान पर टकरा कर महाराज की वेदना में वृद्धि करता था इससे महाराज ने प्रधान मन्त्री को बुला कर कहा "यह गड़बड़ सही नहीं जाती, इसे बन्द कराओ"। चन्दन घिसने वालियों ने हाथ में सौभाग्य चिन्ह स्वरूप केवल एक एक चूड़ी रख कर बाकी की सब उतार डालीं। चूडियों के उतरते ही शोर बन्द होगया।

थोड़ी देर बाद नमिराज ने पूंछा, "क्या कार्य पूरा होगया"?

मन्त्री—नहीं महाराज।

नमिराज—तो शोर कैसे बन्द हो गया?

मन्त्री ने ऊपर की हकीकत कह सुनाई। उसी समय पूर्व योगी के हृदय में एक आकस्मिक भाव उठा। उसने सोचा

कि जहां पर 'दो' हैं वहीं पर शोर होता है, जहां पर केवल एक होता है वहां शांति रहती है। इस गूढ चिंतन के परिणाम (निमित्त) से उन्हें अपने पूर्वजन्म का स्मरण हुआ और शांति की प्राप्ति के लिये बाह्य समस्त बन्धनों को छोड कर, एकाकी विचरने की उन्हें तीव्र इच्छा जागृत हुई। व्याधि शांत होते ही ये योगीराज सांप की कांचली की तरह राजपाट और राणियों के भोगविलासों को छोड कर त्यागी हो गये और तपश्चर्या के मार्ग के पथिक बने। उस अपूर्व त्यागी की कसौटी इन्द्र तक ने की। उन के प्रश्नोत्तर और त्याग के माहात्म्य से यह अध्ययन समृद्ध हुआ है।

(१) देवलोक से च्युत होकर (आकर), नमिराज मनुष्य लोक में उत्पन्न हुए और मोहनीय कर्म से उपशान्त ऐसे नमिराज को उपरोक्त निमित्त मिलने से अपने पूर्व जन्मों का स्मरण होता है।

(२) अपने पूर्व जन्मों के स्मरण करने से उन भगवान नमि-राजा को स्वयमेव बोध प्राप्त हुआ। वे अपने पुत्र को राज्य देकर श्रेष्ठधर्म (योगमार्ग) में अभिनिष्क्रमण (प्रवेश) करते हैं।

(३) उत्तम अन्तःपुर में रहते रहते उन नमिराजा ने देवोपम (देवभोग्य) ऊंचे प्रकार के भोग भोग कर अब ज्ञानी (उनकी असारता जानकर) बन कर सब को त्याग दिया।

(४) (वे) वे छोटे छोटे नगरों तथा प्रान्तों से जुडी हुई मिथिला नगरी, महारथियों से संयुक्त सेना, युवती रानियों तथा समस्त दासी दासों को छोड़ कर निकल गये और

योगमार्ग में प्रवृत्त हुए। उन भगवान ने जाकर एकान्त में अपना अधिष्ठान जमाया (किया)।

(५) जब नमिराजा जैसे महान राजर्षि का अभिनिष्क्रमण हुआ और प्रव्रज्या (गृह त्याग की दीक्षा) होने लगी तब तमाम मिथिला नगरी में हाहाकार फैल गया।

टिप्पणी—उस समय मिथिला एक महान नगरी थी। उस नगरी के आधिपत्य में अनेक प्रान्त, शहर, नगर और ग्राम थे। ऐसे राजर्षि को ऐसे देवोपम भोगों को भोगते हुए एकदम त्याग भावना जागृत हुई इसमें उनका पूर्व जन्म का योगबल ही कारण है। ऐसे व्यक्ति का सदाचार, प्रजाप्रेम, न्याय आदि अपूर्व हों और इससे उसके विरह में उसके स्नेहीवर्ग को आघात लगे यह स्वाभाविक ही है।

(६) उत्तम प्रव्रज्या स्थान में स्थित उन राजर्षि से ब्राह्मणरूप में उपस्थित इन्द्र ने इस प्रकार प्रश्न किया।

टिप्पणी—नमि राजर्षि की कसौटी करने के लिये इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप धारण किया था। उन में जो प्रश्नोत्तर हुए उनका इस प्रकरण में उल्लेख किया है।

(७) हे आर्य! आज मिथिला नगरी में कोलाहल से व्याप्त (हाहाकारमय) और चीत्कार शब्द घर घर में महल महल में क्यों सुनाई पड़ते हैं।

(८) इसके बाद उस बात को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को यों उत्तर दिया।

(९) मिथिला में शीतल छायावाला, मनोहर पत्र पुष्पों से

सुशोभित तथा वहां के मनुष्यों को सदा बहुत लाभ पहुँचाने वाला ऐसा एक चैत्यवृक्ष है।

(१०) रे भाई! यह मनोहर चैत्यवृक्ष आज प्रचन्ड आंधी से गिर रहा है जिससे अशरण होने से दुःखी बने हुए तथा व्याधि से पीडित ये पक्षी आक्रन्द (शोकाकुल कोलाहल) कर रहे हैं।

टिप्पणी:—मिथिला के नगर निवासियों को पक्षियों की तथा नमिराज को वृक्ष की उपमा दी गई है।

(११) इस अर्थ को सुन कर हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि को सम्बोधन कर यह प्रश्न पूंछा।

(१२) हे भगवन! यह अग्नि और उसकी सहायता करनेवाला वायु इस मन्दिर को भस्म कर रहे हैं और उससे (तुम्हारा) अन्तःपुर भी जल रहा है। तो आप उधर क्यों नहीं देखते?

(१३) इस अर्थ को सुन कर हेतु कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को ये वचन कहे :—

(१४) जिसका वहां (मिथिला में) कुछ भी नहीं है ऐसे हम यहां सुख से रहते हैं और सुख पूर्वक जीते हैं, (इसलिये हे ब्राह्मण!) मिथिला के जलते हुए भी हमारा कुछ भी नहीं जलता।

(१५) क्योंकि स्त्री पुत्रादि परिवार से मुक्त हुए और सांसारिक व्यापार से पर (दूर) हुए भिक्षु के लिये न तो कोई वस्तु प्रिय होती है और न कोई अप्रिय।

टिप्पणी—जहां आसक्ति होती है वहीं राग है और वहीं द्वेष है। जहां

द्वेष है वहां अप्रियता है। यदि राग की शांति हो जाय, तो द्वेष भी शांत हो जाय और जहां ये दोनों शांत हुए कि फिर दुःखमात्र न रहे क्योंकि दुःख का अनुभव रागद्वेष के कारण ही होता है।

(१६) गृहस्थाश्रम से पर (दूर) हुए ऐसे त्यागी और सर्व जंजाल से मुक्त होकर एकान्त (आत्म) भाव को ही अनुसरण करने वाले ऐसे भिक्षु को सचमुच सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है।

टिप्पणी—सारा राग हृदय में है। हृदय शुद्धि होकर जहां सन्तोष हुआ कि सब जगह फिर कल्याण तथा मङ्गल के ही दर्शन होते हैं।

(१७) इस अर्थ को सुनकर हेतु कारण से प्रेरित देवेन्द्र नमि-राजर्षि को लक्ष्य कर इस तरह बोला।

(१८) हे क्षत्रिय ! किला, गढ़ का दरवाजा, खाई और सैंकड़ों सुभटों को यम द्वार भेजने वाले ऐसे यंत्र (तोप बन्दूक आदि) बना कर फिर दीक्षा ग्रहण करो।

टिप्पणी—अर्थात् तुम अपने क्षात्रिय धर्म को प्रथम संभाल करके पीछे त्यागी के धर्म को स्वीकारो। जो पहिले धर्म को ही भूल जाओगे तो आगे कैसे बढ़ोगे।

(१९) उसके बाद इस अर्थ को सुन कर हेतु तथा कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार उत्तर दिया।

(२०—२१) श्रद्धा (सत्य पर अविचल विश्वास) रूपी नगर संवर (संयम) रूपी किला, क्षमा रूपी सुन्दर गढ़, तीन गुप्ति (मन वचन और काय का सुनियमन) रूपी दुःप्र-धर्ष (दुर्जय शतघ्नी शस्त्र विशेष), पुरुषार्थ रूपी धनुष ईर्या (विवेक पूर्वक गमन) रूपी प्रत्यंचा (धनुष की

डोरी) और धीरज रूपी तूणी बना कर सत्य के साथ परिमन्थन (सत्यचिन्तन) करना चाहिये ।

(२२) क्योंकि तपश्चर्या रूपी बाणों से सज्जित मुनि कर्मरूपी बख्तर को चीर कर संग्राम में विजयी होता है और संसार से मुक्त होता है ।

टिप्पणी—बाह्य युद्धों की विजय तो क्षणिक होती है और अन्त में परिताप (खेद) ही पैदा करती है। शत्रु का स्वयं शत्रु बन कर और दूसरे अनेकों को शत्रु बना कर यह शत्रुता की परंपरा खड़ी कर लेता है। इससे ऐसे युद्धों की परंपरा जन्म जन्म तक चालू रहती है और इसके कारण युद्ध से विराम कभी नहीं मिलता। इसी भावना के कारण अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। इसलिये बाहर के शत्रुओं को उत्पन्न करने वाले उस अन्तरंग शत्रु को, जो अपने हृदय में घुसा बैठा है, उसका नाश करने का प्रयास करना मुमुक्षु का कर्तव्य है।

उस संग्राम में किस २ तरह के शस्त्रों की जरूरत पड़ती है उसको गहरी शोध करके उपरोक्त साधन भगवान नमि ने कहे हैं। उस योगी के अनुभव की अपने जीवन संग्राम में प्रतिक्षण आवश्यकता होती है।

इस उत्तर को सुन कर इन्द्र आश्चर्य के साथ थोड़ी देर चुप रहा।

(२३) इस तत्व को सुन कर तथा हेतु, और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि से इस प्रकार प्रश्न किया:—

(२४) हे क्षत्रिय ! सुन्दर मनोहारी भवन, छज्जे वाले घर तथा बालाग्रपोतिका (क्रीड़ास्थान) करा कर बाद में दीक्षा ग्रहण करो ।

(२५) इस अर्थ को सुन कर हेतु, तथा कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया।

(२६) यदि कोई चलते चलते मार्ग में घर बनाता है तो यह सचमुच बड़ी ही संदेह-युक्त बात है। जहां जाने की इच्छा हो वहां (निर्दिष्ट स्थान में) पहुंच कर ही शाश्वत (स्थायी) घर बनाना चाहिये।

टिप्पणी—इस श्लोक का अर्थ बहुत गहरा है। शाश्वत स्थान अर्थात् मुक्ति। मुमुक्षु का उद्देश्य जो केवल मुक्ति है वह उसे प्राप्त किये बिना मार्ग में अर्थात् इस संसार में घरबार के बन्धन में क्यों पड़ेगा?

(२७) इस अर्थ को सुन कर हेतु तथा कारणों से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि से पुनः यह प्रश्न किया:—

(२८) हे क्षत्रिय! लोमहर, गँठकट, तस्कर, और डाकुओं का निवारण करके तथा नगर कल्याण करके बाद में दीक्षा ग्रहण करो।

टिप्पणी—लोमहर आदि चोरों के भिन्न २ प्रकार हैं।

(२९) इस अर्थ को सुनकर हेतु तथा कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया।

(३०) कई बार मनुष्य निरर्थक दंड (हिंसा) की योजना करते हैं। ऐसे स्थान में निर्दोष भी अपनी किसी भी भूल के विना ही वन्ध जाते हैं, और असली गुन्हेगार (कईवार) छूट जाते हैं।

टिप्पणी—विशेष रीति से, दुष्ट मन या दुष्ट वासना ही दोष कराती है, परन्तु उसको कोई दन्ड नहीं देता। उनके पाप का परिणाम इन्द्रियों

तथा शरीर को भोगना पड़ता है। यह निरर्थक दन्ड है। दुष्ट वासनाओं को दन्डित करना यही सच्चा दंड है और मुमुक्षु को उन्हीं को दन्डित करने का प्रयास करना चाहिये।

(३१) इस अर्थ को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि से पुनः प्रश्न किया:—

(३२) हे क्षत्रिय ! हे नराधिप ! जिन राजाओं ने तुम्हें नमस्कार (तुम्हारी आधीनता स्वीकार) नहीं किया उनको वश करके फिर जाओ।

(३३) इस अर्थ को सुनकर हेतु तथा कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया:—

(३४) दुर्जय युद्ध में दसलाख सुभटों को जीतने की अपेक्षा एक मात्र आत्मा को जीतना यह विशेष उत्तम है और यही सच्ची जीत है।

टिप्पणी—बाह्य युद्धों में अकेले ही लाखों वीरों को मारने वाले विजयी को जैनधर्म वीर नहीं मानता क्योंकि यह सच्ची जीत नहीं है किन्तु तात्विक दृष्टि से तो वह हार है। जो अपनी आत्मा को जीतता है वही सच्चा वीर है और वही सच्ची विजय है।

(३५) आत्मा के साथ ही युद्ध करो। बाहर के युद्धों से कुछ हाथ नहीं लगेगा। शुद्ध आत्मा द्वारा अशुद्ध आत्मा को जीत कर सच्चा सुख प्राप्त किया जा सकता है।

टिप्पणी—इस छोटे से श्लोक में बड़ी ही गम्भीर बात कही गई है। इस पर खूब विचार करना चाहिये।

(३६) पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा दुर्जय आत्मा को जीतना यही उत्तम है क्योंकि आत्मा के जीतने पर

फिर कुछ जीतना बाकी नहीं रहता। जिसने आत्मा जीत-ली उसने सब कुछ जीत लिया।

(३७) इस अर्थ को सुन कर हेतु, तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि से पुनः यों कहाः—

(३८) हे क्षत्रिय! बड़े २ यज्ञ करके, तापसों, श्रमणों और ब्राह्मणों को जिमा भोजन करा) कर, दान करके, भोग करके तथा भजन (पूजा अर्चा) करके फिर जाओ।

टिप्पणी—उस काल में क्षत्रिय राजाओं को बड़े २ यज्ञ करने को ब्राह्मण प्रेरणा किया करते थे और उनको जिमाने में ही धर्म बताया करते थे। गृहस्थाश्रम के सामान्य धर्म की अपेक्षा यह धर्म विशिष्ट माना जाता था। इसलिये क्षत्रिय कर्म बता कर यहाँ उसके लिये धर्म दिशा का सूचन किया है।

(३९) इस अर्थ को सुन कर, हेतु तथा कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दियाः—

(४०) जो प्रति मास १०-१० लाख गायों का दान करता है उसकी अपेक्षा कुछ भी न देने वाले संयमी का आत्म संयम अवश्यमेव बहुत उत्तम है।

टिप्पणी—अपरिग्रह वृत्ति यही उत्तम धर्म है। एक संयमी मनुष्य अव्यक्त रीति से सैकड़ों का पोषण कर सकता है। असंयमी होकर दान करने की अपेक्षा संयम पालना बहुत उत्तम है। इस श्लोक पर गहरा विचार करने से अपनी जीवन दशा की विडम्बना मिट कर उज्ज्वल मार्ग मिल जाता है।

(४१) इस अर्थ को सुन कर, हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि से पुनः यों कहा :—

(४२) (गृहस्थाश्रम कठिन है, इसीलिये) इस कठिन आश्रम को छोड़ कर तू दूसरे आश्रम (सन्यस्थाश्रम) की इच्छा करता मालूम होता है। हे मनुष्यों के पालक महाराज ! यहां ही (गृहस्थावस्था में ही) पौषध के अनुरागी बनो।

टिप्पणी—गृहस्थावस्था में भी धर्म नियमों का पालन कहां नहीं होता? इसलिये गृहस्थाश्रम में रह कर पौषध (उपवास करके केवल आत्मचिंतन में रात्रिदिवस व्यतीत करना) क्रिया में दत्तचित्त बनो। सन्यस्थाश्रम ग्रहण करने की क्या जरूरत है ?

(४३) इस अर्थ को सुन कर, हेतु तथा कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया :—

(४४) बाल (मूर्ख) जन यदि एक एक महीने में केवल कुश के अग्र भाग (अत्यंत थोड़ा) जितना भोजन ग्रहण करे तो उनका यह उग्र तप (त्याग) सच्चे धर्मी के त्याग का १६ वां भाग के बराबर भी नहीं है (कुछ भी नहीं है)।

टिप्पणी—जिसमें त्यागाश्रम की योग्यता न हो उसी को गृहस्थाश्रम धर्म ग्रहण करने की आज्ञा है। परन्तु सच्चे त्याग के आगे गृहस्थाश्रम का त्याग अत्यन्त न्यून (नहीं के बराबर) है। इस बात की सत्यता को हम अपने अनुभव से भी देखते हैं।

(४५) इस तत्व को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि को पुनः यों कहा:—

(४६) हे क्षत्रिय ! सोना, चांदी, मणि, मुक्ता, कांसा, वस्त्र, सवारियाँ, भंडार आदि बढ़ाकर फिर जाओ।

(४७) इस अर्थ को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया:—

(४८) कैलास पर्वत के समान (अति ऊंचे) सोने चाँदी के असंख्य पर्वत कदाचित किसी को दिये जांय तो भी एक लोभी के लिये पर्याप्त नहीं हैं क्योंकि सचमुच इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। आशा (तृष्णा) का अंत कभी नहीं हुआ। एक इच्छा पूरी होते ही उससे भी बड़ी दूसरी इच्छा जागृत होती है।

टिप्पणी—तृष्णा का गड्ढा ही ऐसा विचित्र है कि उसमें ज्यों ज्यों डालते जाओ त्यों २ वह और भी गहरा होता जाता है। तृष्णा जगी कि अपने सभी साधन, विभूति आदि अपूर्ण जैसे दिखाई देने लगते हैं संतोष होते ही दुःख का पहाड़ नष्ट हो जाता है और अपने अपूर्ण साधन भी आवश्यकता से अधिक जान पड़ते हैं।

(४९) समस्त पृथ्वी, शाली के चावल, जौ (पृथ्वी पर होने वाले सभी धान्य,) पशु, और सोना ये सब एक (असन्तुष्ट मनुष्य) के लिये भी पर्याप्त नहीं है ऐसा जानकर तपश्चर्या करना यही उत्तम है।

टिप्पणी—तपश्चर्या अर्थात् आशा (तृष्णा) का विरोध। जिसने आशा को जीता उसने संसार जीत लिया। सारा संसार ही आशाधारी है। सभी को तृष्णा लगी हुई है। आशामय प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम यह संसार है और आशारहित प्रवृत्ति उसी का नाम निवृत्ति है।

(५०) इस अर्थ को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमिराजर्षि को यों कहा:—

(५१) हे पृथ्वीपति! तू अद्‌भुत जैसे प्राप्त भोगों को छोड़ता है और अप्राप्त भोगों की इच्छा करता है। सचमुच तू कल्पनामय सुखों में भूल रहा है।

(५२) इस बात को सुन कर, हेतु तथा कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया:—

(५३) कामभोग शल्य फाँसें हैं जो बारीक होने पर भी बहुत कष्ट देती हैं। कामभोग विष हैं। कामभोग काले सर्प के समान हैं। काम (भोगोपभोग) की प्रार्थना करते २ यह बिचारा जीवात्मा उनको तो नहीं पाता है किन्तु दुर्गतिगामी जरूर हो जाता है।

टिप्पणी—संसार भर में कामभोगों में आसक्त ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है कि जिसकी आशा मृत्यु समय भी—भोगों से दूर होते होते भी—पूर्ण होसकी हो। आशा या वासना ही जन्म का कारण है।

चार कषायों के फल

(५४) क्रोध से अधोगति में जाना पड़ता है। मान करने से अधमगति प्राप्त होती है। माया करने से सद्गति प्राप्त नहीं होती, किन्तु लोभ से तो इस लोक और परलोक—दोनों का भय है। (दोनों ही नष्ट होते हैं)

टिप्पणी—शास्त्रकारों ने चारों कषायों के फल बहुत ही दुःखकर बताये हैं, परन्तु उन सब में भी लोभ तो सबसे अधिक हानिकर्त्ता कहा है। लोभी का वर्तमान जीवन भी अपकीर्तिमय होता है और पाप का दुर्धर बोझ बढ़ने से उसका परलोक भी बिगड़ता है। इसी लिये लोभ को 'पाप का बाप' कहा है।

(५५) उसी समय ब्राह्मण का रूप छोड़ कर और इन्द्र का रूप धारण कर मधुर वाणी से नमिराजर्षि की स्तुति करता हुआ देवेन्द्र इस तरह बोला:—

(५६) अहो! आपने क्रोध जीत लिया है, अभिमान को आपने दूर किया है, माया जाल को तोड़ डाला है और लोभ को वश किया है।

(५७) धन्य साधु महाराज! क्या ही अनुपम आपका सरलता भाव है। आपकी कोमलता कैसी अनोखी है! क्या ही अनुपम आपकी सहनशीलता है। क्या ही उत्तम आपका तप है। क्या ही अद्भुत आपकी निरासक्ति है।

(५८) हे भगवन्! यहां (इस लोक में) भी आप उत्तम हैं और पीछे भी (परलोक में भी) आप उत्तम ही होंगे। तीन लोक में सर्वोत्कृष्ट स्थान ऐसी मोक्ष को आप निष्कर्मी (कर्म रहित) होकर अवश्य पायेंगे।

(५९) इन्द्र इस प्रकार उत्तम श्रद्धाभक्ति पूर्वक नमिराजर्षि की स्तुति कर बार २ प्रदक्षिणा देने लगा और झुक २ कर वंदन करने लगा।

(६०) इसके बाद चक्र तथा अंकुश इत्यादि लक्षणों से अंकित उन मुनीश्वर के चरणों को पूजकर ललित तथा चपल कुण्डलों को धारण करने वाले इन्द्रराज आकाश में अंतर्धान हो गये।

(६१) विदेह (मिथिला) का राजा नमिमुनि, जो घरबार छोड़कर श्रमण-भाव में बराबर स्थिर रहा वह साक्षात इन्द्र द्वारा प्रेरित होकर अपनी आत्मा को और भी विशेष नम्र बनाता हुआ।

(६२) इस तरह विशेष सुज्ञ और बुद्धिमान साधक नमिराजर्षि की तरह स्वयं बोध पाकर भोगों से निवृत्त हो जाते हैं।

टिप्पणी—भोगों का त्याग ही सच्चा त्याग है; आसक्ति का त्याग ही त्याग है; कषायों का त्याग ही त्याग है और सच्चे त्याग बिना सच्चा आनन्द कहां ?

'ऐसा मैं कहता हूँ'—

इस तरह 'नमिप्रव्रज्या' नामक नवमां प्रकरण समाप्त हुआ ।

द्रुम पत्रक

वृक्ष का पत्ता

१०

जिस तरह वृक्ष का पका पीला पत्ता झड़ जाता है उसी तरह यह शरीर भी जीर्ण होकर खिर जाता है। अनंत संसार में श्रमपूर्वक उन्नति करते २ यह मानव देह मिलती है। उसको प्राप्त करने के बाद भी सुन्दर साधन, (अंगों की पूर्णता) आर्यभूमि, और सच्चा धर्म ये सब संयोग बड़ी ही कठिनता से मिलते हैं। भोग भोगने की अतृप्त वृत्ति तो प्रत्येक जन्म में प्राप्त शरीरद्वारा सब को रहा ही करती है। इसलिये इस छोटी सी आयु में, थोड़े से ही प्रयत्न करने से साध्य होने वाले सद्धर्म को क्यों न आराधें ?

प्रमाद यह रोग है। प्रमाद ही दुःख है। प्रमाद को छोड़कर पुरुषार्थ करना यही अमृत है, जिसको पीकर फिर मृत्यु नहीं आती। जन्ममरण की परंपरा का वहीं अन्त आता है और तभी सच्चा सुख मिलता है।

गौतम को लक्ष्य करके भगवान बोले—

(१) पीला जीर्ण (पका) पत्ता जिस तरह रात्रिसमूहों के व्य-

तीत होने (अवधि पूरी हो जाने) पर झड़ जाता है उसी तरह मनुष्यों का जीवन भी आयु के पूर्ण होते ही खिर जाता है। इसलिये हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद न कर

(२) कुश के अग्र भाग (नोंक) पर स्थित ओस की बूंद जैसे क्षणस्थायी है वैसे ही मनुष्यों के जीवन को (क्षणभंगुर) समझ कर, हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—संसार की असारता दिखाकर अप्रमत्त होने पर ज़ोर दिया है।

(३) (फिर) अनेक विघ्नों से भरपूर और क्षण क्षण घटती हुई (नाशवंत) आयु वाले इस जीवन में पूर्व-संचित कर्मों को जल्दी से दूर कर। हे गौतम ! इसमें एक समय का भी प्रमाद न कर।

(४) यह मनुष्यभव अत्यन्त दुष्प्राप्य है तथा यह जीवों को बड़े ही लंबे काल के बाद कभी मिलता है, क्योंकि कर्मों के फल गाढ़ (घोर) होते हैं। इसलिये हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—गाढ़ अर्थात् जो भोगे विना न छूटे ऐसे घट होते हैं।

मनुष्य जीवन के पहिले का क्रमविकास तथा वहां का कालप्रमाण.

(५) पृथ्वीकाय (भूमि रूप) के जीव की उत्कृष्ट स्थिति (पुनः पुनः पृथ्वीकाय में जन्म स्थिति प्रमाण) असंख्यात वर्षों की है। इस लिये हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—यदि इस विकास भूमि रूपी मनुष्य देह को पाकर भी अपना कर्तव्य न किया तो जीव को अधोगति में जाना पड़ेगा जहां उसे असंख्यात काल तक अव्यक्त स्थिति में ही रहना पड़ेगा।

(६) यदि कदाचित् जलकाय (जलयोनि) में जाय तो वहां पर भी उसी योनि में पुनः पुनः जन्म लेकर रहने की उत्कृष्ट अवधि असंख्यात काल की है, इसलिये हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—प्रमाद अर्थात् आत्मस्खलना और आत्मस्खलना को ही पतन कहते हैं। हम सब की प्रत्येक इच्छा विकास (उन्नति) के लिये ही होती है। आत्म विकास के लिये ही हम मनुष्य देह पाकर गौरव ले रहे हैं अपना सारा प्रयत्न इस विकास के लिये ही है। इसलिए आत्मविकास में जागृत (सावधान) रहना यही अपना कर्तव्य होना चाहिये और इसी का नाम अप्रमत्तता है।

जैनधर्म में आत्मस्खलन के ५ प्रकार बताए हैं:—(१) मद (साधनों के मिलने का घमंड); (२) विषय (इन्द्रियों के भोगोपभोगों में आसक्त होना); (३) क्रोध, कपट और रागद्वेष करना; (४) निंदा; और (५) विकथा (आत्मोपयोग रहित विषयों को बढ़ाने वाला कथा प्रलाप) ये पाँचों ही प्रमाद विष समान हैं और आत्मा को अधोगति में ले जाने वाले ठग हैं। इसलिये पांचों विषों से अलग रहकर पुरुषार्थ करना यही अप्रमत्तता है और यही अमृत है।

(७) यदि यह जीव अग्निकाय में जाय तो वहाँ भी उत्कृष्ट आयुष्य असंख्यात काल तक भोगता है। इसलिये हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

(८) वायुकाय में उत्पन्न हुआ जीव असंख्यात काल तक की

उत्कृष्ट आयु भोगता है और दुःख से अंत आवे ऐसी रीति से भोगता है। इसलिये हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

(९) वनस्पति काय में गया हुआ जीव अनन्तकाल तक दुःख-पूर्ण आयु भोगता रहता है जिसका अन्त बड़ी कठिनता से होता है। इसलिये हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव होता है। अब तो आधुनिक विज्ञान से भी उक्त सत्य की सिद्धि हो गई है। इस स्थिति में जो चेतन रहता है उसमें स्थूल मानस (विचार शक्ति) अथवा बुद्धिविकास नहीं होता है और उस स्थिति में रह कर जो विकास होता है वह अव्यक्त होता है। यह सब बताकर शास्त्रकार यह कहना चाहते हैं कि यह मनुष्य देह ही पुरुषार्थ का परम स्थान है। इसलिये यदि यहां भी प्रमाद किया तो यह पूरी न जा सके ऐसी गंभीर भूल होगी।

(१०) द्वीन्द्रिय (स्पर्श तथा रसना वाला) जीव की उत्कृष्ट आयु संख्यातकाल प्रमाण तक की है। इसलिये हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—काल का भिन्न २ प्रमाण भिन्न २ ठाणांगादि शास्त्रों में वर्णित है। गणितशास्त्र के अनुसार परार्ध (शंख) तक की संख्या संख्यात काल प्रमाण है; किन्तु जैनशास्त्र तो उससे भी आगे इकाई, दहाई, सैकड़ा से लेकर उत्तरोत्तर २८ अंकों तक की संख्या का संख्यात काल मानता है। असंख्यात काल का अर्थ यह नहीं है कि जो गिना न जाय, बल्कि असंख्यात के लिये भी एक अमुक संख्या है, यद्यपि वह गिनती के अंकों द्वारा बताई नहीं जा सकती।

इन दोनों संख्याओं से आगे की संख्या, जिसका मनुष्य बुद्धि कुछ निर्णय नहीं कर सकती, उसको अनंत कहा है।

(११) त्रीन्द्रिय (स्पर्श, रसना और नाक वाले) जीव की योनि में गई हुई आत्मा इसी योनि में लगातार पुनः २ जन्म धारण कर अधिक से अधिक संख्यात काल प्रमाण तक रह सकता है। इसलिये हे गौतम! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर!

(१२) चतुरिन्द्रिय (स्पर्श, रसना, नाक, और आँख वाले) जीव की योनि में गई हुई आत्मा इसी योनि में पुनः २ लगातार जन्म धारण कर अधिक से अधिक संख्यात काल प्रमाण तक रह सकती है। इसलिये हे गौतम! एक समय का भी प्रमाद न कर।

(१३) पंचेन्द्रिय (स्पर्श, रसना, नाक, आँख और कान वाले) जीव की योनि में गई हुई आत्मा उसी योनि में अधिक से अधिक लगातार सात-आठ जन्म तक धारण कर सकती है। इसलिये हे गौतम! एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

(१४) देव या नरक गति में गया हुआ जीव उसी गति में लगातार रूप से एक ही वार और जन्म ग्रहण कर सकता है। इसलिये हे गौतम! एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—देव और नरक इन दोनों जन्मों को औपपातिक जन्म कहते हैं क्योंकि जीव वहां स्वयं (माता के पेट के विना) उत्पन्न होते हैं। उनके शरीर भी दूसरी तरह के होते हैं। इसी कारण पशु

या मनुष्य के शरीर की तरह आयु की समाप्ति के पहिले उसका शस्त्रों द्वारा नाश नहीं होता। देव या नरक गति का जीव दूसरी गति में जन्म ग्रहण करने के बाद ही फिर नरक या देव गति में जा सकता है। इस प्रकार की कर्मानुसार वहां की स्थान घटना का शास्त्रकारों ने वर्णन किया है।

(१५) शुभ (अच्छे) और अशुभ (खराब) कर्मों के कारण वह प्रमादी जीव ऊपर के क्रमानुसार जन्म-मरण रूपी संसार चक्र में घूमा करता है। इसलिये हे गौतम ! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—यहां तक अधोगति में से ऊर्ध्वगति और अविकसित जीवन से विकसित जीवन तक का संपूर्ण क्रम बताया है। इस क्रम में सामान्यरूप से शास्त्रोक्त सभी उत्क्रमण भूमिकाओं (श्रेणियों) का समावेश हो गया है।

(१६) मनुष्यभव पाकर भी बहुत से जीव चोर अथवा म्लेच्छ भूमियों में जन्म लेते हैं। इससे आर्यभाव (आर्यभूमि का वातावरण) का मिलना भी अत्यन्त दुर्लभ है इस लिये हे गौतम ! तू समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—आर्यधर्म का अर्थ सच्चा धर्म है कि जिसमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और त्याग इन पांच अंगों का समावेश होता है। मनुष्य शरीर पाकर भी बहुत से जीव 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' (मनुष्य रूप में भी पशु या पिशाच) जैसे होते हैं।

(१७) आर्य देह (अच्छा कुलीन जन्म) पाकर भी अखंड पंचेन्द्रियों (शरीर की पूर्णता) को पाना और भी कठिन है क्योंकि प्रायः बहुत जगह अपूर्णांग वाले मनुष्य दिखाई

देते हैं। इसलिये हे गौतम ! एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—इंद्रियां और शरीर ये सब तो साधन हैं। यदि साधन संपूर्ण एवं सुन्दर न होंगे तो पुरुषार्थ में भी अन्तर पड़ता है।

(१८) जीव पंचेन्द्रियों की संपूर्णता (संपूर्ण शरीरांग) भी पा सकता है किन्तु उसको असली सच्चे धर्म का श्रवण मिलना अति दुर्लभ है क्योंकि संसार में कुतीर्थ (कुधर्म) की सेवा करनेवाले बहुत ही अधिक परिमाण में दिखाई देते हैं। इसलिये (क्योंकि तुझे तो उच साधन—संपूर्ण अविकल शरीरांग मिले हैं।) हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

(१९) उत्तम श्रवण (सत्संग अथवा सद्धर्म) भी मिल जाना संभव है किन्तु सत्य पर यथार्थ श्रद्धा होना बहुत ही कठिन है क्योंकि अविद्या सेवी (अज्ञानी) संसार में बहुत ही अधिक परिमाण में दिखाई देते हैं। इसलिये हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

(२०) यदि कदाचित् सद्धर्म पर विश्वास हो भी जाय फिर भी उसे आचरण द्वारा धारण करना अत्यन्त ही कठिन है क्योंकि काम भोगों में आसक्त जीव इस संसार में बहुत अधिक दिखाई देते हैं इसलिये हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

भोगी मनुष्य की भविष्य में कैसी दशा होती है ?

(२१) तेरा शरीर जर्जरित होने लगा है। तेरे बाल पक गये हैं। तेरे कानों की (सुनने की) शक्ति क्षीण होती जा

रही है इसलिये हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

(२२) तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे बाल सफेद होते जाते हैं। तेरी आँखों की ज्योति मंद पड़ती जाती है, इसलिये हे गौतम ! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

(२३) तेरा शरीर जीर्ण होता जाता है। तेरे बाल सफेद होते जाते हैं। तेरी नासिका (की सूंघने) की शक्ति मंद पड़ती जाती है इसलिये हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

(२४) तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे बाल सफेद होते जाते हैं। तेरी जीभ (की चखने) की शक्ति मंद पड़ती जाती है, इसलिये हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

(२५) तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे बाल पकते जा रहे हैं। तेरी स्पर्शेन्द्रिय (की स्पर्श करने) की शक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है; इसलिये हे गौतम ! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

(२६) तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे बाल पकते जा रहे हैं। तेरा सब बल क्षीण होता जा रहा है; इसलिये हे गौतम ! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—उपरोक्त उपदेश भगवान महावीर ने गौतम को लक्ष्य करके हम सब को दिया है। इसलिये इसको अपने जीवन में उतारना (चरितार्थ करना) यही हमारा कर्तव्य होना चाहिये। हम में

से कोई तरुण, कोई युवान, कोई वृद्ध भी हुए होंगे। कोई कोई उपरोक्त दशा का अनुभव भी करते होंगे और कोई पीछे अनुभव करेंगे परन्तु कभी न कभी सबकी यही दशा आगे पीछेहोगी अवश्य। उपरोक्त गाथाओं में यद्यपि वर्तमान काल की क्रियाओं का प्रयोग किया है फिर भी ये दशाएं भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों कालों में समान रूप से लागू होती हैं।

युवानों को भी किस बात का भय रहता है?

(२७) जिनके शरीर जीर्ण नहीं है (अर्थात् जो युवान हैं) उन को भी पदार्थों के प्रति अरुचि का, फोड़ा फुन्सी के दर्दों का, विशूचिका (कोलेरा) आदि भिन्न २ रोगों का, सदा डर बना रहता है और आशंका लगी रहती है कि कहीं वे बीमार न पड़ जांय, जिससे उनका शरीर कष्ट पाये अथवा मृत्यु पावे। इसलिये हे गौतम! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—सारा शरीर ही रोगों का घर है। ज्यों २ निमित्त मिलते जाते हैं त्यों २ उनका उद्रेक होता जाता है। रोग बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था-सभी अवस्थाओं में होते हैं, इसलिये शरीर सौंदर्य या अंग रचना में आसक्त न होकर आत्म चिंतन करना ही उचित है।

(२८) शरद् ऋतु में विकसित हुआ कमल, जिस तरह जल में उत्पन्न होने पर भी जल से भिन्न रहता है उसी तरह तू संसार में रहते हुए भी संसारी पदार्थों की आसक्ति से दूर रह। हे गौतम! भोगों की आसक्ति को दूर करने में तू एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

(२९) कनक और कान्ता (पत्नी) को त्याग कर तेने साधुत्व

लिया है। अब तू वमन किये हुए उन विषयों को पुनः पान न कर। हे गौतम! (पान करने की भावना को दूर करने में) तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—त्याग की हुई वस्तु का एक या दूसरे प्रकार से स्मरण करना भी पाप है, इसलिये त्यागियों को चाहिये कि वे अप्रमत्त भाव से आत्मचिंतन में ही मग्न रहें।

(३०) उसी तरह अपने मित्रजनों, भाई बंधों तथा विपुल धन संपत्ति के ढेरों को एक बार स्वेच्छापूर्वक छोड़कर अब तू उनका पुनः स्मरण न कर। हे गौतम (ऐसा करने में) तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—३१ वें श्लोक के अंतिम दो चरणों में भगवान ने गौतम को संयम में स्थिर करने के लिये, भविष्य में भी उत्तम पुरुष क्या आश्वासन लेकर संयममार्ग में स्थिर रहेंगे वह बताया है।

(३१) आज स्वयं तीर्थङ्कर इस क्षेत्र में विद्यमान नहीं हैं तो भी अनेक महापुरुषों द्वारा अनुभूत उनका मोक्ष प्रदर्शक मार्ग तो आज भी दिखाई दे रहा है। इस प्रकार भविष्य में सत्पुरुष आश्वासन प्राप्त कर संयम में स्थिर रहेंगे। तो अभी (मेरी उपस्थिति में) हे गौतम! इस न्याय युक्त मार्ग में तू क्यों प्रमाद करता है? तू न्याययुक्त मार्ग पर चलने में एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—गौतम को लक्ष्य करके भगवान ने कहा है कि सबको वर्तमान में कार्य परायण (कर्तव्यतत्पर) होना चाहिये।

(३२) हे गौतम! कंटकीले मार्ग (अर्थात् संसार) को छोड़कर तू राजमार्ग (जैनधर्म) पर आया है, इसलिये तू उसपर

नजर रख और वैसा करने में अब समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

टिप्पणी—संयम जैसे अमृत को पी कर फिर विषयों के विष को कौन पीना पसन्द करेगा? गहरे गड्ढे में से महा मुसीबत से एक बार निकल कर फिर उसी गड्ढे में पड़ना कौन चाहेगा?

(३३) जैसे निर्बल भारवाहक (मजूर) कुरस्ते जाकर बहुत बहुत पीड़ित होता है इसलिये हे गौतम! तू अपना मार्ग न भूल। अपने मार्ग पर स्थिर रहने में तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

(३४) हे गौतम तू सचमुच अपार महासागर की पार पर आ चुका है। किनारे तक आकर अब तू वहां क्यों खड़ा हो रहा है? इस पार आने की शीघ्रता कर। इस पार आने में अब तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

(३५) (संयम में स्थिर रहने से) हे गौतम! अकलेवर (अजन्मा) श्रेणी का अवलम्बन लेकर अब तू उस सिद्ध लोक को प्राप्त करेगा जहां जाकर फिर कोई लौट कर इस संसार में नहीं आता। वह स्थान सुखकारी कल्याणकारी तथा अत्यन्त श्रेष्ठ है। वहां जाने में तू अब एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

(३६) हे गौतम! ग्राम या नगर में जाते हुए भी तू संयमी, ज्ञानी तथा निरासक्त होकर विचर। शांति मार्ग (आत्म शांति) में वृद्धि कर। इस में तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

(३७) इस तरह अर्थ तथा पदों से शोभित और सद्भावना से

कहा हुआ भगवान का कथन सुनने के बाद गौतम, राग तथा द्वेष दोनों को नाशकर सिद्धगति को प्राप्त हुए।

टिप्पणी—गौतम जब संयम में अस्थिरचित हुए थे उस समय भगवान ने गौतम को लक्ष्य करके यह उपदेश दिया था। गौतम महाराज के जीवन में यह उपदेश ओत प्रोत हो गया और इससे उनने अंतिम उद्देश्य प्राप्त किया और अविनश्वर सुख प्राप्त किया।

हम लोगों के लिये "गोयम" हमारा मन है। अन्तरात्मा की कृपा अपने जीवन पर अनेक प्रसंगों पर होती रहती है। यदि उस आवाज को सुन कर उसको हम अपने आचरण में उतार दें तो अपना भी बेड़ा पार हो जाय।

मनुष्य जीवन का प्रत्येक क्षण अमूल्य रत्न के समान कीमती है, अमृत समान है। हम जिस भूमिका पर हैं उस धर्म पर अडग स्थिर रहते हुए सावधान होकर आगे बढ़ें तो यह जीवनयात्रा सफल हो जाय। फिर यह समय और साधन नहीं मिलेंगे इसलिये प्राप्त साधनों का सदुपयोग करते हुए प्रत्येक क्षण सावधान रहना ही उचित है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह "द्रुमपत्रक" नामक १० वां अध्याय समाप्त हुआ।

बहुश्रुत पूज्य

११

ज्ञान अर्थात् आत्मप्रकाश। यह प्रकाश प्रत्येक आत्मा में भरा हुआ है; मात्र उसके ऊपर छाये हुए आवरण निकल जाने चाहिये और हृदय के द्वार उघड़ जाने चाहिये। शास्त्रों का अभ्यास शोध के लिये है ऐसा जानकर तत्त्वज्ञ पुरुष शास्त्रों को पढ़कर भूल जाते हैं।

अहंकार यह ज्ञान की अर्गला (चटकनी) है। अहंकार गया तो ज्ञानरूपी खजाने को खुला समझो। ज्ञानी की परीक्षा उसके शील (आकार) से होती है; शास्त्रों से नहीं।

भगवान बोले--

(१) संयोग (आसक्ति) से विशेपरूप से रहित और गृह-त्यागी ऐसे भिक्षु के आचार का क्रमपूर्वक वर्णन करता हूँ, उसे ध्यान से सुनो।

(२) जो वैरागी होकर भी मानी, लोभी, असंयमी और वारंवार विवाद करता है उसे अविनीत तथा अवहुश्रुति (अज्ञानी) समझना चाहिये।

(३) जिन पांच स्थानों से ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती उनके नाम ये हैं—(१) मान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) रोग, और (५) आलस्य।

(४–५) पुनः पुनः (१) हास्य क्रीड़ा न करने वाला, (२) सदा इन्द्रियों का दमन करने वाला, (३) किसी के छिद्र (दोष) न देखने वाला, (४) सदाचारी, (५) अनाचार न करने वाला (मर्यादित), (६) अलोलुपी, (७) अक्रोधी, (८) सत्याग्रही—ऐसे पुरुष को ही सच्चा ज्ञानी कहते हैं। शिक्षाशील के उपरोक्त गुण हैं।

टिप्पणी—शांति, इंद्रिय दमन, स्वदोषदृष्टि, सदाचार, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, सत्याग्रह और सहिष्णुता—ये ८ गुण जिनमें पाये जांय वही सच्चा पंडित है। केवल शास्त्र पढ़ने से कोई पंडित नहीं हो जाता।

(६) निम्नलिखित १४ स्थानों में रहने वाला संयमी अविनीत (अज्ञानी) कहा जाता है और वह कभी मुक्ति नहीं पा सकता।

टिप्पणी—यहां अविनीत का अर्थ अकर्तव्यशील है किन्तु चालु प्रकरणानुसार उसका अर्थ अज्ञानी किया है।

(७) जो वारंवार कोप करता है। (२) प्रबन्ध (विश्वास भंग) करता है। (३) मित्रभाव करके पुनः पुनः उसे तोड़ देता है, और (४) शास्त्र पढ़कर अभिमानी होता है।

टिप्पणी—किसी की गुप्त बात को दूसरों के पास प्रकट करना उसे 'प्रबंध' कहते हैं।

(८) (५) जो दोष (भूल) करने पर भी, उसे रोकने की चेष्टा

न कर (उसे) ढंकने का प्रयत्न करता है, (६) जो अपने मित्रों (हितैषियों) पर भी क्रोध करता है; (७) अत्यन्त प्रिय मित्रजनों की एकान्त में निन्दा करता है।

(९) और (८) अति वाचाल, (९) द्रोही, (१०) अभिमानी, (११) लोभी, (१२) असंयमी, (१३) साथियों की अपेक्षा अधिक हिस्सा लेने वाला, और (१४) अप्रीति (शत्रुता) करने वाला। जिसमें इनमें से एक भी दुर्गुण हो उसे 'अविनयी' कहते हैं।

(१०) निम्न लिखित १५ स्थान (गुणों) वाले को विनयी कहते हैं। नीचवर्ती (नम्र), (२) अचपल, (३) अमायी (सरल) (४) अकुतूहली (क्रीड़ा से दूर रहने वाला)।

टिप्पणी—नीचवर्ती अर्थात् नम्र, जो मन में यह समझता है कि मैं तो कुछ भी नहीं हूँ।

(११) और जो (५) अपनी छोटी सी भूल को भी दूर करने की कोशिश करता है, (६) क्रोध (कषाय) की वृद्धि करने वाले प्रवन्धों से दूर रहने वाला, (७) सब के साथ मित्र भाव से रहने वाला, (८) शास्त्र पढ़ कर जो अभिमान नहीं करता है।

(१२) (९) जो पाप की उपेक्षा नहीं करता, (१०) मित्रों पर कभी कोप न करने वाला, (११) अप्रिय मित्र के विषय में भी एकांत में कल्याणकारी ही बोलने वाला।

(१३) (१२) कलह तथा डमर आदि क्रीडाओं का त्याग करने वाला। (१३) ज्ञानयुक्त, (१४) खानदान, (१५) एवं संयम की लज्जा रखने वाला है उसे सुविनीत कहते हैं।

टिप्पणी—डमर, एक प्रकार की हिंसक क्रीड़ा है।

(१४) जो हमेशा गुरुकुल में रहकर योग तथा तपश्चर्या करता है, मधुर बोलने वाला, और शुभ काम करने वाला होता है वह शिष्य शिक्षा प्राप्त करने योग्य है।

(१५) जिस तरह शंख में पड़ा हुआ दूध दो तरह से शोभा देता है उसी तरह (ज्ञानी) भिक्षु; धर्म-कीर्ति तथा शास्त्र इन दोनों द्वारा शोभित होता है।

टिप्पणी—शंख में रक्खा हुआ दूध दो तरह से शोभित होता है, एक तो देखने में सौम्य लगता है, दूसरा, वह उसमें कभी नहीं बिगड़ता उसी तरह ज्ञानी का शास्त्र बाहर से भी सुन्दर रहता है और शास्त्रानुकूल आचार होने से उसकी आत्मा की भी उन्नति होती है।

(१६) जैसे कंबोज (देश के) घोड़ों में आकीर्ण (सब प्रकार की चालों में प्रवीण तथा सुलक्षण) घोड़ा अति वेगवान होता है और इसीलिये उत्तम माना जाता है, उसी तरह बहुश्रुत ज्ञानी भी उत्तम माना जाता है।

(१७) जैसे आकीर्ण (जाति के उत्तम) घोड़े पर आरूढ़ दृढ़ पराक्रमी शूर; दोनों प्रकार से नन्दि की अभ्यर्थना से सुशोभित होता है वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी दोनों प्रकार (आन्तरिक शांति तथा बाह्य आचरण) से शोभित होता है।

(१८) जैसे हथिनी से संरक्षित साठ वर्ष की उम्र का हाथी बलवान तथा दूसरों द्वारा पराभूत न हो सके ऐसा दृढ़ होता है, वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी परिपक्व (स्थिर) बुद्धिवाला विचार

तथा विवाद के अवसर पर अभिभूत न होकर तटस्थ एवं अलिप्त रहता है।

(१९) जैसे तीक्ष्ण (पैने) सींग वाला और अच्छी तरह भरी हुई कुब्ब वाला (पशुओं के) टोले का नायक साँड शोभित होता है उसी तरह (साधु-समूह) में बहुश्रुत-ज्ञानी शोभित होता है।

(२०) जैसे अति उग्र तथा तीक्ष्ण दंत वाला पशुश्रेष्ठ सिंह; सामान्य रीति से पराभूत (हारता) नहीं है वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी किसी से भी नहीं हारता।

(२१) जैसे शंख, चक्र तथा गदा से सुशोभित वासुदेव (विष्णु) सदा ही अप्रतिहत (अखंड) बलवान् रहते हैं वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी भी, (अहिंसा, संयम और तप से) सदाकाल बलिष्ठ रहता है।

टिप्पणी—वासुदेव अकेले ही दसलाख योद्धाओं को हरा सकता है और उनके पांचजन्य शंख, सुदर्शन चक्र तथा कौमोदकी गदा अस्त्र हैं।

(२२) जैसे चतुरंगिनी (घोड़ा, हाथी, रथ, प्यादे इन चारों से युक्त) सेना से समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला महान् ऋद्धिधारक (नवनिधि, १४ रत्नों का और ६ खंड पृथ्वी का अधिपति) चक्रवर्ती शोभित होता है वैसे ही चारगतियों को अन्त करने वाला तथा १४ विद्यारूपी लब्धियों का स्वामी बहुश्रुतज्ञानी शोभित होता है। (राजाओं में चक्रवर्ती श्रेष्ठ होता है)

टिप्पणी—चक्रवर्ती के १४ रत्नों के नाम ये हैं:—चक्र, छत्र, असि,

दण्ड, चर्म, मणि, कांगणी, सेनापति, गाथापति, वार्धिक, पुरोहित, स्त्री, अश्व तथा हाथी ।

(२३) जैसे एक हजार नेत्र (आंखों) वाला, हाथमें वज्र धारण करने वाला, पुर नामक दैत्य का नाश करने वाला, तथा देवों का अधिपति इन्द्र शोभित होता है वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानरूपी सहस्र नेत्र वाला, क्षमा रूपी वज्र को धारण करने वाला, मोहरूपी दैत्य का नाशक ज्ञानी शोभित होता है ।

(२४) जैसे अंधकार का नाश करने वाला उगता सूर्य तेज से देदीप्यमान होता है वैसे ही आत्मज्ञान के तेज से ज्ञानी प्रभावान होता है ।

(२५) जैसे नक्षत्रपति (तारों का राजा) चंद्रमा, ग्रह तथा नक्षत्रों से घिरा हुआ पूर्णिमा की रात्रि को पूर्ण शोभा से प्रकाशित होता है वैसे ही आत्मिक शीतलता से बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है ।

(२६) जैसे लोक समूह के भिन्न भिन्न अन्नों से पूर्ण तथा सुरक्षित भण्डार शोभित होते हैं वैसे ही (अंग, उपांग शास्त्रों की विद्या से पूर्ण) ज्ञानी शोभित होता है ।

(२७) सब वृक्षों में जैसे अनादृत नामक देव का जंबू वृक्ष शोभित होता है उसी तरह (सब साधुओं में) ज्ञानी शोभायमान होता है ।

(२८) नील पर्वत से निकल कर सागर से मिलने वाली सीता नाम की नदी जिस तरह सब नदियों में श्रेष्ठ है वैसे ही सर्व साधकों में ज्ञानी श्रेष्ठ है ।

(२९) जैसे पर्वतों में, ऊंचा तथा सुन्दर और अनेक औषधियों से शोभित मन्दार पर्वत उत्तम है वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी भी अपने अनेक गुणों से (अन्य ज्ञानियों की अपेक्षा अधिक) उत्तम है।

(३०) जैसे अक्षय उदक (जिसका जल कभी न सूखे) स्वयंभूरमण नामक समुद्र भिन्न २ प्रकार की मणि मुक्ताओं से पूर्ण है वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी अनेक गुणों से पूर्ण है।

(३१) समुद्र समान गंभीर, बुद्धि (विवाद) द्वारा कभी पराभूत न होने वाला, संकटों से त्रास न पाने वाला (सहिष्णु), काम भोगों में अनासक्त, श्रुत से परिपूर्ण तथा समस्त प्राणियों का रक्षक महापुरुष (बहुश्रुतज्ञानी) कर्म का नाश कर अंत में मोक्ष पाता है।

(३२) इसलिये उत्तम अर्थ की गवेषणा (खोज) करने वाला (सत्यशोधक) भिक्षु; श्रुत (ज्ञान) में अधिष्ठान करे (आनंदित रहे), जिससे वह स्वयं सिद्धि प्राप्त कर दूसरों को भी सिद्धि प्राप्त करा सके।

टिप्पणी—ज्ञान अमृत है। ज्ञानी सर्वत्र विजयी होता है। ज्ञान अन्तःकरण की वस्तु है और वह शास्त्रों द्वारा, सत्संग द्वारा, अथवा महापुरुषों की कृपा द्वारा प्राप्त होता है।

'ऐसा मैं कहता हूं'—

इस प्रकार 'बहुश्रुतपूज्य' नामक ग्यारहवां अध्ययन समाप्त हुआ।

हरिकेशीय
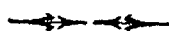
१२

हरिकेश मुनि सम्बन्धी

आत्मविकास में जाति का बन्धन नहीं होता। चांडाल भी आत्मकल्याण के मार्ग का आराधन कर सकता है। चांडाल जाति में उत्पन्न होने वालों का भी पवित्र हृदय हो सकता है।

महामुनि हरिकेश, चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे फिर भी गुणों के भंडार थे। वे पूर्व के योग संस्कार होने से, निमित्त पाकर वैराग्य धारण कर त्यागी बने थे। त्यागी बनने के बाद एक यक्ष ने उनकी कठिन से कठिन कसौटी (परीक्षा) की थी और उसमें सोने की तरह खरा उतरने पर वह उन महामुनि पर प्रसन्न हुआ और सदैव उनके साथ दास बन कर रहता था।

एक समय यक्ष मन्दिर के सभा मंडप में (जहां वह यक्ष रहता था) कठिन तपश्चर्या से कृशगात्र हरिकेश ध्यान मग्न होकर अडोल खड़े थे। इसी समय कौशलराज की पुत्री भद्रा अपनी सखियों के साथ उस मन्दिर में दर्शनार्थ आई। गर्भद्वार के पास जाकर सब ने ~~पेट भर के~~ दर्शन किये। दर्शन करके

वापिस फिरते हुए प्रत्येक सखी ने खेल में सभामंडप के एक एक स्तम्भ की गोदी (जेट) भरली। सन्ध्या का अन्धकार और भी गाढ़ होता जा रहा था। भद्रा सब से पीछे रह गई थी। अपनी सखियों को स्तम्भों से खेल खेलती देख कर उसे भी कौतूहल हुआ और अन्धकार में स्पष्ट न दीखने से मुनि हरिकेश को स्तम्भ समझ कर वह उन्हीं से लिपट गई। यह देख कर वे सखियां खिल खिला उठीं और बोलीं:—

"तुम्हारे हाथ में तुम्हारे पति आगये"। और वे हंसी करने लगीं। भद्रा इससे बहुत चिढ़ी और उसने मुनि महाराज का बड़ा अपमान किया।

यक्ष को इससे बहुत क्रोध आया। भद्रा तो उसी समय अवाक बेहोश होकर नीचे गिर पड़ी। यह बात तमाम शहर में वायुवेग से फैल गई। भद्रा के पिता कौशलराज भी दौड़े दौड़े वहां आये। अन्त में दैवी कोप दूर करने के लिये यक्षप्रविष्ट शरीर वाले उस तपस्वीजी के साथ भद्रा का विवाह होने की तैयारियां होने लगी। उसी समय मुनि के शरीर में से यक्ष अदृश्य होगया। तपस्वीजी जब सावधान हुए और यह सब गड़बड़ देखी तो बड़े ही आश्चर्य में पड़ गये। अन्त में अपने उग्र संयम तथा अपूर्व त्याग की प्रतीति देकर के वे महायोगी वहां से प्रयाण कर गये।

आगे जाकर इसी भद्रादेवी का विवाह सोमदेव नामक ब्राह्मण के साथ हुआ। कुल परम्परा के अनुसार इस दंपति (स्त्री पुरुष के युगल) ने ब्राह्मणों द्वारा महायज्ञ कराया। यजमान रूप में जब यह दम्पती मन्त्रोच्चारणादि क्रिया कर रहा था उसी समय ग्राम, नगर, शहर आदि सर्व स्थलों में अभेदभाव से विहार करते हुए वे विश्वोपकारी महामुनि एक

महीने की तपश्चर्या के अन्त में पारणा के लिये उसी यज्ञशाला में पधारे। वे अपरिचित ब्राह्मण साधु की हंसी मजाक उड़ाने लगे। जब इससे भी साधु पर कुछ असर न पड़ा तब वे उन्हे मारने लगे। ऐसे कुसमय में उस तिन्दुक यक्ष ने वहां उपस्थित होकर क्या किया, तथा भद्रा देवी को जब सब बात मालूम हुई तब उसकी क्या दशा हुई, सारा वातावरण तपश्चर्या के प्रभाव से कैसा महक उठा, आदि सब बातों का इस अध्याय में वर्णन किया है।

वर्ण और जाति का विधान अभिमान बढ़ाने के लिये नहीं किया गया था। वर्ण व्यवस्था वृत्ति भेद के अनुसार की गई थी। उसमें ऊंच नीच के भेदों को कोई स्थान नहीं था। किन्तु जब से उसमें ऊंच नीच का भेद भाव आया है तब से सच्ची वर्ण व्यवस्था तो मिट गई है और उसके स्थान में (दूसरों के प्रति) तिरस्कार और (अपनेपन के बडप्पन का) अभिमान ये दो भाव आगये हैं।

भगवान महावीर ने जातिवाद का बड़े जोरों से खण्डन किया था। गुणवाद का प्रचार किया था, सब को अभेदभाव-रूपी अमृत पिलाया था और दीन, हीन तथा पतित जीवों का उद्धार किया था।

भगवान सुधर्म ने जम्बू स्वामी से कहा:—

(१) चांडाल कुल में उत्पन्न किन्तु उत्तम गुणी ऐसे हरिकेश बल नामक एक जितेन्द्रिय भिक्षु हो गये हैं।

(२) ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदान भंड निक्षेप, उच्चार पासवण खेल जल संघाण पारिठावणिया इन पांचों समितियों को पालन करने वाले तथा सुसमाधि पूर्वक यत्न करनेवाले,

(३) मन से, वचन से, काय से गुप्त (इन तीनों को वश में रखने वाले) और जितेन्द्रिय ऐसे वे मुनिराज भिक्षा के लिये ब्रह्मयज्ञ की यज्ञशाला के पास आकर खड़े हुए।

(४) उग्र तप के कारण सूखी हुई देह तथा जीर्ण उपधि (वस्त्रों) तथा उपकरण (पात्र आदि) वाले उन मुनिराज को आते देखकर अनार्य पुरुष हंसने लगे।

टिप्पणी—मुनि के वस्त्र कंबल पात्र आदि को उपधि तथा उपकरण कहते हैं।

(५) जातिमद से उन्मत्त बने हुए, हिंसा में धर्म मानने वाले, इन्द्रियों के दास, तथा ब्रह्मचर्य से रहित वे मूर्ख ब्राह्मण साधु के प्रति ऐसे कहने लगे:—

(६) दैत्य जैसे रूप वाला, काल के समान भयंकर आकृति वाला, वैठी नाक वाला, फटे वस्त्र वाला, तथा मलिनता से पिशाच जैसे रूप वाला, सामने कपड़ा लपेट कर यह कौन चला आरहा है? (उन लोगों ने अपने मन में कहा)

जब मुनि आकर उनके पास खड़े हुए तब उनने मुनि से कहा:—

(७) अरे! ऐसा अदर्शनीय (न देखने योग्य) तू कौन है? किस आशा से तू यहां आया है? जीर्ण वस्त्रों तथा मलिन रूप से पिशाच जैसा दीखने वाला तू यहां से जा! यहां तू क्यों खड़ा है?

(८) इसी समय महामुनि का अनुकंपक (प्रेमी), तिन्दुक वृक्ष-वासी यक्ष। अपने शरीर को गुप्त रखकर (मुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर) यों कहने लगा:—

टिप्पणी—यह वही यक्ष है जो मुनि का सेवक था और उसीने शरीर में प्रवेश किया है।

(९) मैं साधु हूँ। ब्रह्मचारी हूँ। संयमी हूँ। धन, परिग्रह तथा दूषित क्रियाओं से विरक्त हुआ हूँ और इसीलिये दूसरों के निमित्त बनाये गये अन्न को देखकर इस समय मैं भिक्षा के लिये आया हूँ।

टिप्पणी—जैन साधु दूसरों के निमित्त बनाये गये अन्न की ही भिक्षा लेते हैं। अपने लिये तैयार की गई रसोई वे ग्रहण नहीं करते।

(१०) इस अन्न में से बहुतों को भोजन दिया जा रहा है, बहुत से ले रहे हैं, बहुत से स्वाद पूर्वक खा रहे हैं, इसलिये बाकी के बचे अन्न में से थोड़ा इस तपस्वी को भी दो, क्योंकि मैं भिक्षाजीवी हूँ—ऐसा आप जानो।

(११) (ब्राह्मण बोले)—यह भोजन ब्राह्मणों के ही लिये तैयार किया गया है। एक ब्राह्मण पक्ष (समूह) अभी यहां आकर जीमेगा उसीके लिये यह यहां लाकर रक्खा है। इसमें से तुझे कुछ भी नहीं मिल सकता। तू यहां क्यों खड़ा है?

(१२) उच्च भूमि में या नीची भूमि (दोनों) में किसान आशा पूर्वक योग्यता देखकर बीज बोता है। उसी श्रद्धा से तुम मुझे भोजन दो और इसे सचमुच एक पवित्र क्षेत्र समझ कर इसकी आराधना करो।

टिप्पणी—वस्तुतः उक्त शब्द मुनि मुख से यह यक्ष ही कह रहा था।

(१३) वे क्षेत्र, जहां बोये हुए पुण्य उगते हैं (जिस सुपात्र को दान देने से सुफल होता है) वे सब हमें खबर हैं।

जातिमान (कुलीन) तथा विद्यावान जो ब्राह्मण हैं वे ही बहुत उत्तम क्षेत्र हैं।

टिप्पणी—ये वचन यज्ञशाला में स्थित क्षत्रियों के हैं।

(१४) क्रोध, मान, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह (वासना) आदि दोष जिनमें हैं ऐसे ब्राह्मण, जाति तथा विद्या इन दोनों से रहित हैं। ऐसे क्षेत्र तो पाप को बढ़ाने वाले हैं।

टिप्पणी—उस समय कुछ ब्राह्मण अपने धर्म से पतित होकर महाहिंसा को ही धर्म मनवाने का प्रयत्न करते थे। ऐसे ब्राह्मणों को लक्ष्य करके ही यह श्लोक यक्ष की प्रेरणा से मुनि के मुखसे कहलाया गया है।

१५) अरे ! वेदों को पढ़कर तुम उसके अर्थ को थोड़ा सा भी नहीं जान सके ? इसलिये तुम सचमुच वाणी के भारवाहक (बोझ ढोने वाले) हो। जो मुनि ऊँच या सामान्य किसी भी घर में जाकर भिक्षावृत्ति द्वारा संयमी जीवन बिताता है वही उत्तम क्षेत्र है।

यह सुनकर ब्राह्मण पंडितों के शिष्य बहुत ही गुस्से हुए और बोले:—

(१६) हमारे गुरुओं के विरुद्ध बोलने वाले साधु ! तू हमारे ही सामने क्या बक रहा है ? भले ही यह सारा अन्न नष्ट हो जाय, परन्तु इसमें से तुझे कुछ भी नहीं देंगे।

(१७) समितियों के द्वारा समाहित (समाधिस्थ), गुप्तियों (मन, वचन, काय) से संयमी तथा जितेन्द्रिय मुझ समान संयमी को ऐसा शुद्ध खानपान न दोगे तो आज यज्ञ का क्या

फल पाओगे ? इस तरह के यक्ष के वचन मुनि के मुख से सुनकर सब ब्राह्मण क्रोध से लालपीले पड़ गये और वे गला फाड २ कर चिल्लाने लगे:—

(१८) अरे ! यहां कोई क्षत्रिय, यजमान अथवा अध्यापक है क्या ? विद्यार्थियों को साथ लेकर लकड़ी तथा डंडों से इसकी खूब मरम्मत कर तथा अर्द्धचन्द्र दे (गलची पकड़ कर धक्का मार) कर निकाल बाहर करे।

(१९) अध्यापकों की ऐसी आज्ञा सुनकर बहुत से शिष्य वहां आये और लकड़ी, डंडा और छड़ी तथा चाबुक से मुनिराज को मारने को तैयार हुए।

(२०) उसी समय परम सुन्दरी कौशल देश के राजा की पुत्री भद्रा ने वहां पर पीटे जाते हुए उस संयमी को देखकर क्रुद्ध कुमारों को शांत करते हुए यह कहा:—

(२१) यक्ष के अभियोग से (दैवी प्रकोप शांत करने के लिये) वश हुए मेरे पिताश्री द्वारा (यक्ष प्रविष्ट शरीर वाले) इस मुनि को मैं अर्पण की गई थी, फिर भी अनेक महाराजों तथा देवेन्द्रों द्वारा पूजित इस मुनि ने मेरा मन से भी चिंतवन नहीं किया और शुद्धि में आते ही इनने मुझे उगल (छोड़) दिया।

टिप्पणी—इस भद्रा ने सरलभाव से वहां पर ध्यानस्थ मुनीश्वर का अपमान किया था और इसका बदला लेने के लिये उसीके शरीर के साथ (मुनि-शरीर में प्रवेश करके यक्ष ने) मुनि की विवाह का आयोजन कराया था। किन्तु जब मुनि ध्यान से उठे तो उनने भद्रा को शीघ्र ही अपना संयमी होना सिद्ध कर तुम्हारा कल्याण हो, ऐसा आशीर्वाद देकर उसे मुक्त कर दिया।

(२२) सचमुच अपूर्व ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, संयमी तथा उग्र तपस्वी ये वे ही महात्मा हैं कि जिसने मेरे पिता कौशल-राज द्वारा स्वेच्छा पूर्वक दीगई मुझे नहीं स्वीकारा था।

टिप्पणी—अप्सरा के समान स्वरूपवान युवती स्त्री स्वयं मिलते हुए भी उस पर लेशमात्र भी मनोविकार न लाकर अपने त्याग तथा संयम के मार्ग पर अडोल रहना यही सच्चे त्याग की, सच्चे संयम की, और सच्चे आत्मदर्शन की प्रतीति (निशानी) है।

(२३) ये महा प्रभावशाली, महा पुरुषार्थी, महान् व्रतधारी तथा उत्तम कीर्तिवाले महायोगी पुरुष हैं। उनका अपमान करना योग्य नहीं है। अरे! इनकी अवगणना मत करो, नहीं तो ये अपने तेज से तुम्हें भस्म कर डालेंगे।

(२४) भद्रा के ऐसे सुमधुर वचनों को सुनकर (वातावरण पर असर हो उसके पहिले ही) देव समूह ऋषिराज की सेवा के लिये आने लगे और कुमारों को रोकने लगे। (फिर भी कुमारों ने नहीं माना)

टिप्पणी—इस स्थल पर एक ऐसी परंपरा भी चालू है कि यहां भद्रा के पति सोमदेव ने इन कुमारों को रोका था और देवों के बदले उसका ऐसा करना अधिक संभव भी है किन्तु मूल पाठ में 'जक्खा' शब्द होने से वैसा ही अर्थ किया है।

(२५) और उसी समय आकाश में अन्तर्धान भयंकर रूपवाले बहुत से राक्षस वहां आये और उन तमाम लोगों को अदृश्य रहकर मारने लगे। उनकी अन्दरूनी मार से उनके अंग फूट निकले और कोई कोई तो खून की उल्टी करने लगे। उन लोगों की ऐसी दशा देखकर भद्रा फिर बोली:—

(२६) तुम सब लोग नखों से पर्वत खोदना चाहते हो; दांतों से लोहा चबाना चाहते हो और हुताशन (अग्नि) को पैरों से बुझाना चाहते हो (ऐसा मैं मानती हूँ) क्योंकि तुमने ऐसे उत्तम भिक्षु का अपमान किया है।

(२७) ऐसे महर्षि (यदि क्रोध करें तो) विषधर सर्प की तरह भयंकर होते हैं। इन उग्र तपस्वी तथा घोर व्रतधारी महापुरुष को तुम लोग भोजन के समय मारने को उद्यत हुए तो अब, जिस तरह अग्निशिखा में पतंगियों का समूह जल कर भस्म हो जाता है, वैसे ही तुम भी जल मरोगे।

(२८) अब भी जो तुम अपना धन तथा प्राण बचाना चाहते हो तो तुम सब मिलकर उनकी शरण में जाओ और उनके चरणों में मस्तक नमाओ। यदि ये तपस्वीराज क्रुद्ध होंगे तो सारे लोक को जलाकर भस्म कर डालेंगे।

टिप्पणी—भद्रा इन तपस्वीराज के प्रभाव को जानती थी। 'अभी तो यह दैवी प्रकोप है, किन्तु जो अब भी नहीं मानोगे और उनकी शरण में नहीं जाओगे तो संभव है कि ये तपस्वी क्रुद्ध होकर सारे लोक को जलाकर भस्म कर डालें—ऐसी मेरे मन में शंका है"—सब को लक्ष्यकर उसने इसलिये ऐसा कहा।

(२९) (इतने में तो कोई विचित्र घटना होगई) किसी की पीठ ऊपर तो किसी का माथा नीचे (औंधे) चित्त पड़ गये। कोई कर्म तथा चेष्टा से सर्वथा रहित (संज्ञाशून्य) होकर, कोई जमीन पर हाथ पैर फैलाकर पड़ गये।

किसी की आंखें निकल आईं तो किसी की जीभ बाहिर निकल आई तो कोई माथा ऊंचा कर ढल पड़े।

टिप्पणी—यह सब देव-प्रकोप से हुआ।

(३०) इस तरह काष्ठभूत (काठ के पुतले जैसे) बने हुए उन शिष्यों को देखकर वह याजक ब्राह्मण (भद्रा का पति) स्वयं बहुत ही खेदखिन्न हुआ और स्वयं अपनी पत्नी सहित मुनि के पास जाकर नमस्कार कर पुनः २ विनती करने लगा कि हे पूज्य ! आपकी जो निंदा तथा तिरस्कार हुआ है उसके लिये हमें क्षमा करो।

टिप्पणी—कोशलराज ने तपस्वी से छोड़ी हुई भद्रा कुमारी का विवाह सोमदेव नामक ब्राह्मण के साथ कर उसे ऋषिपत्नि ही बनाया था। उस जमाने में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्मभेद तो थे किन्तु आज के से जातिभेद न थे। इसीलिये परस्पर में बेटी-व्यवहार छूट के साथ होता था—ऐसा अनुमान होता है।

(३१) हे वंदनीय ! अज्ञानी, मूर्ख तथा मंदबुद्धि बालकों ने आपकी जो असातना की है उसे क्षमा करो। आप समान ऋषि पुरुष महादयालु होते हैं। वस्तुतः वे कभी कोप करते ही नहीं।

अपना कार्य करके यक्ष चला गया। इसके बाद मुनि श्री सावधान हुए और यह विचित्र दृश्य देखकर बहुत विस्मित हुए। उनने विनयवंत उन ब्राह्मणों से कहाः—

(३२) इस घटना के पहिले, बाद में या अभी भी मेरे मन में लेशमात्र भी कोप या द्वेष नहीं है। (परन्तु यह सब देख

कर मुझे यही लगता है कि) सचमुच जो यक्ष (मेरी इच्छा न होने पर भी) सेवा करता है उसी के द्वारा ये कुमार पीड़ित हुए हैं ।

टिप्पणी—जैन दर्शन में सहनशीलता के हजारों ही ज्वलन्त दृष्टांत भरे पड़े हैं । त्यागी पुरुष की क्षमा तो मेरु के समान अडग होती है । उसमें कोप या चंचलता आती ही नहीं । कुमारों की यह दशा देख कर ऋषिराज को बहुत ही दया आई । योगी पुरुष दूसरों को दुःख नहीं देते, यही नहीं किन्तु दूसरों को दुःखी होते भी देख नहीं सकते ।

(३३) (सच्चा स्पष्टीकरण होने के बाद इस ब्राह्मण पर बहुत ही अच्छा असर पड़ा । वह बोलाः—) परमार्थ तथा सत्य के स्वरूप के हे ज्ञाता ! महाज्ञानी आप कभी भी क्रुद्ध नहीं होते । इन सब लोगोंके साथ हम सब आपके चरणों की शरण मांगते हैं ।

(३४) हे महापुरुष ! हम आपकी सब प्रकार की (बहु सम्मान के साथ) पूजा करते हैं । आपमें ऐसी एक भी बात नहीं है जो पूज्य न हो । हे महामुनिराज ! भिन्न २ प्रकार के शाक, रायता, तथा उत्तम जातिके चावलों से तैयार किया हुआ यह भोजन आप प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करें ।

(३५) यह मेरा बहुत सा भोजन रक्खा हुआ है । हम पर कृपा करके उसे आप स्वीकारो । (उनकी ऐसी हार्दिक प्रार्थना सुन कर) उन महात्मा ने मास खमण (एक महीने के उपवास के) पारणा में उस भोजन को सहर्ष स्वीकार किया ।

(३६) इतने ही में वहां पर आकाश से सुगन्धित जल, पुष्प, तथा धन की धारावद्ध दिव्य वृष्टि होने लगी। देवों ने गगन में दुंदुभि बाजे बजाए तथा "अहो दान! अहो-दान!" इस प्रकार की दिव्य ध्वनि होने लगी।

टिप्पणी—देवों द्वारा बरसाये गये पुष्प तथा जलधारा अजीव होते हैं।

(३७) "सचमुच दिव्यतप ही का यह प्रभाव है, जाति की कुछ भी विशेषता (बड़प्पन) नहीं है। धन्य है चांडाल पुत्र हरिकेश साधु को कि जिनकी ऐसी प्रभावशालिनी समृद्धि है"! चांडाल पुत्र हरिकेश साधु को देख कर सब कोई एक ही आवाज से, आश्चर्य चकित होकर इस तरह कहने लगे।

(३८) (तब तपस्वीजी ने उत्तर दिया,) हे ब्राह्मणों! अग्नि का आरम्भ करके पानी द्वारा बाह्य शुद्धि को क्यों खोज रहे हो? क्योंकि बाहर की सफाई (बाह्यशुद्धि) आत्मशुद्धि का मार्ग नहीं है। महापुरुषों ने ऐसा कहा है कि :—

(३९) द्रव्य यज्ञ में कुश (दाभ) को, यूप (जिस काष्ठ स्तम्भ से पशु बांध कर वध किया जाता है) को, तृण, काष्ठ (समिधा) तथा अग्नि और सुबह शाम पानी को स्पर्श (आचमन आदि) करने वाले तुम मन्द प्राणी बारंबार छोटे २ जीवों को दुःख देकर पाप ही किया करते हो।

(४०) (तब ब्राह्मणों ने पूंछा,) हे भिक्षु! हम कैसा आचरण करें? कैसा यज्ञ पूजन करें? किस तरह पापों को दूर करें? हे संयमी! ये सब बातें हमें बताओ। हे देवपूज्य! किस वस्तु को ज्ञानवान पुरुष योग्य मानते हैं?

(४१) छकाय (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, तथा त्रस) जीवों की हिंसा नहीं करने वाला, कपट तथा असत्य आचरण नहीं करने वाला, माया तथा अभिमान से दूर रहने वाला तथा परिग्रह, एवं स्त्रियों की आसक्ति से डरने वाला पुरुष 'दान्त' कहलाता है और वही विवेक पूर्वक वर्तता है।

(४२) (तथा) पांच इन्द्रियों को वश में रखने वाला, अपने जीवन की भी परवा नहीं करने वाला, शरीर के ममत्व से रहित ऐसा महापुरुष बाह्यशुद्धि की दरकार (अपेक्षा) न करते हुए उत्तम एवं महाविजयी भावयज्ञ करता है।

(४३) (उस भावयज्ञ में) तुम्हारी ज्योति (अग्नि) क्या है? और उस ज्योति का स्थान क्या है? तुम्हारी कड़छी क्या है? तुम्हारी अग्नि प्रदीप्त करने वाली क्या वस्तु है? तुम्हारी लकड़ी (समिधा) क्या है? और हे भिक्षु! तुम्हारा शांति मन्त्र क्या है? आप कौन से यज्ञ से यजन (पूजन) करते हो? (उन ब्राह्मणों ने यह प्रश्न किया)।

(४४) मुनि महाराज ने उत्तर दिया:—तप यही अग्नि है। जीवात्मा ही उस तपरूपी अग्नि का स्थान है। मन, वचन और काय का योग रूपी कड़छी है। अग्नि को प्रदीप्त करने वाला साधन यह शरीर है। कर्म (रूपी) ईंधन (समिधा) है। संयम रूपी शांतिमन्त्र है। उस तरह (इतने साधनों से) प्रशस्त चारित्ररूपी यज्ञ द्वारा मैं यजन

करता हूं और इसी प्रकार के यज्ञ को महर्षिजनों ने उत्तम गिना है।

टिप्पणी—वेदकीय यज्ञ की तुलना जैन धर्म के संयम से की गई है। वेदकीय यज्ञ के अग्नि, अग्निकुंड, हविष्, स्रुवा, स्रुक्, समित्, तथा शांतिमन्त्र ये आवश्यक अंग हैं।

(४५) (फिर उन ब्राह्मणों ने प्रश्न किया कि हे मुनि !) शुद्धि के लिये तुम्हारा स्नान करने का ह्रद (कुण्ड) कौनसा है? तुम्हारा शांतितीर्थ कौनसा है? और कहां पर स्नान कर तुम कर्मरज को साफ करते हो, सो कहो। आप से हम ये सब बातें जानना चाहते हैं।

(४६) (मुनि इनका इस प्रकार उत्तर देते हैं कि हे ब्राह्मणों !) धर्म रूपी ह्रद (कुण्ड) है। ब्रह्मचर्य रूपी शान्तितीर्थ है। आत्मा के (प्रसन्न भाव सहित) विशुद्ध धर्म के कुण्ड में स्नान कर मैं कर्मरज को साफ करता हूं।

(४७) ऐसा ही स्नान सुज्ञ पुरुषों ने किया है और महा ऋषियों ने भी इसी महास्नान की प्रशंसा की है। यह ऐसा स्नान है कि जिसको करके पवित्र महर्षियों ने निर्मल (कर्म सहित) होकर उत्तम स्थान (मुक्ति) की प्राप्ति की है।

टिप्पणी—चारित्र की चिनगारी से ही हृदय परिवर्तन होता है। जहां चारित्र की सुवास महँकती है वहां की मलिन वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं और वह प्रबल विरोधियों को भी क्षण मात्र में अपना सेवक बना लेती हैं। ज्ञान के मन्दिर चारित्र के नन्दन वन से ही शोभित होते हैं। जाति तथा कार्य में ऊंच नीच भाव चारित्र के स्वच्छ प्रवाह में

धुलकर साफ हो जाते हैं। चारित्ररूपी पारस बहुत से लोह खंडों को सुवर्ण रूप में बदल डालता है।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'हरिकेशीय' नामक बारहवां अध्ययन समाप्त हुआ।

चित्तसंभूतीय

चित्तसंभूति संबंधी

१३

संस्कृति (संस्कार) यह जीवन के साथ लगी हुई वस्तु है। जीवनशक्ति की यह प्रेरणा पुनः पुनः आत्मा को कर्मबल द्वारा भिन्न २ योनियों में पैदा (जन्म) करती है। परस्पर के प्रेम से ऋणानुबंध होता है और यदि कोई विरोधी अपवाद न हो तो समानशील के जीव—समान गुण वाले जीव—एक ही स्थान में उत्पन्न होते हैं; और अटूट प्रेम की सरिता में साथ २ रहते हैं और बाद में भी साथ ही साथ जन्म लेते हैं।

चित्त और संभूति दोनों भाई थे। दोनों अखंड प्रेम की गांठ से जुड़े हुए थे। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं किन्तु पांच पांच जन्मों तक वे साथ ही साथ रहे थे। दोनों साथ ही साथ जीवित रहे थे। ऐसे प्रबल प्रेमी बंधु छट्ठभव में पृथक् पृथक् पैदा हुए। इसका क्या कारण है? छट्ठे जन्म में दोनों के मार्ग क्यों जुदे जुदे पड़े? उसका प्रबल कारण एक की आसक्ति तथा दूसरे की निरासक्ति था। ज्यों २ भाइयों का प्रेम शुद्ध होता गया त्यों त्यों वे दोनों विकास पंथ में साथ ही साथ उड़ते रहे।

प्रथम जन्म में वे दोनों दशार्ण देश में दास रूप में साथ ही साथ थे। वहां से मरकर दोनों कालिंजर नामक पर्वत पर साथ ही साथ मृग हुए। संगीत पर उनका गहरा मोह था। वहां से मर कर दोनों मृत गंगा के किनारे हंस रूप में जन्मे। वहां भी स्नेह पूर्वक रहे और प्रेमवश से एक ही साथ मरे। वहां से निकल कर उन दोनों ने काशी में चाण्डाल का जन्म पाया।

उस समय नमुचि नामक प्रधान अति बुद्धिमान तथा प्रकांड संगीत शास्त्री होने पर भी महा व्यभिचारी था। उसने राजा के अन्तःपुर की किसी स्त्री से व्यभिचार किया। यह बात राजा को मालूम हुई। तो उसने उसे मृत्यु दंड की शिक्षा दी।

होनहार बड़ी बलवान है। 'जो काहू से न हारे, सोऊ हारे होनहार से'—की कहावत अक्षरशः सत्य है। राजा द्वारा दंडित नमुचि फांसी के तख्ते पर खड़ा किया जाता है किन्तु फांसी देने वाले चांडाल (यह चांडाल चित्त और संभूति का पिता था) को नमुचि पर बड़ी दया आ जाती है और वह उसे बचा कर अपने घर में छिपा लेता है और अपने दोनों पुत्रों (चित्त और संभूति के पूर्व भव के जीवों) को संगीत विद्या सिखाने पर नियुक्त करता हैं। योग्य गुरू के पास रह कर थोड़े ही दिनों में वे दोनों बालक गानविद्या में पारंगत हो गये। मनुष्य कितना भी बड़ा बुद्धिमान क्यों न हो किन्तु विषयों के विकार बड़े ही जबर्दस्त हैं बुद्धिमान भी उनमें फंस जाते हैं। पड़ी हुई बुरी आदत अनेक दुःख भोगने पर भी नहीं छूटती। व्यभिचार के अभियोग में दंडित नमुचि, दया करके चांडाल द्वारा बचाया गया था किन्तु नमुचि का स्वभाव नहीं छूटा। उसने चांडाल के घर में भी व्यभिचार सेवन किया और

उसको अपने प्राण लेकर वहां से भाग जाना पड़ा। अन्त में घूमते २ वह हस्तिनापुर आता है और पुण्य प्रभाव से अपनी विद्या तथा गुणों के कारण वहां के राजा का प्रधान मंत्री बन जाता है और उसके हाथ के नीचे सैंकड़ों मन्त्री काम करते हैं।

इधर, चित्त और संभूति अपनी संगीत विद्या की प्रवीणता द्वारा देश की सारी प्रजा को आकर्षित करते हैं। इससे काशी राज के संगीत शास्त्रियों ने ईर्ष्या के कारण उन दोनों का अपमान कराके राजा से नगर के बाहर निकलवा दिया। यहां यह दोनों बड़े ही दुःखित होते हैं और निरुपाय होकर पहाड़ पर से गिर कर आत्महत्या करने का विचार करते हैं। आत्महत्या के लिये ये पहाड़ पर चढ़ते हैं। यहां पर उनकी एक जैन मुनि से भेंट होती है। वे उनसे अपने दुःख का कारण तथा उससे निवृत्ति के लिये आत्महत्या करने के निर्णय को कहते हैं। अनन्त करुणा के सागर वे जैन मुनि इन दोनों की कथा सुन कर उन्हें जगत की असारता, विषयों की क्रूरता और जीवन की क्षणभंगुरता का उपदेश देते हैं। इन दोनों को चैतन्य प्राप्त होता है। जन्म का अन्त (आत्महत्या) करने के इरादे से आये हुये वे दोनों युवक, उस उपदेश को सुन कर जन्म परंपरा को ही नाश करने वाली जैन दीक्षा ग्रहण करते हैं। चांडाल कुल में उत्पन्न होने पर भी, उन्होंने जैन दीक्षा धारण की और उस प्रयत्न में लगे जिससे पुनः जन्म-मरण तथा अपमान सहना न पड़े। पूर्व संस्कारों की प्रबलता क्या नहीं करती।

विधिविधान बड़ा अटल है। कोई कुछ भी सोचा या किया करे, किन्तु होता वही है जो होनहार होता है। इसमें किसी की मीन-मेख नहीं चलती। इस नियम को न कोई तोड़ सका

और न कोई तोड़ सकेगा। योगमार्ग की सुन्दर शिक्षा प्राप्त वे दोनों त्यागी गुरुआज्ञा प्राप्त कर देश विदेश फिरते फिरते तथा अनेक ऋद्धि-सिद्धियों की प्राप्ति करते हुये हस्तिनापुर में आते हैं जहां नमुचि प्रधानमंत्री था। नमुचि उन दोनों को देखकर पहिचान लेता है और कहीं ये लोग मेरा भंडाफोड़ (रहस्योद्घाटन) न करदें इस कारण उन दोनों को नगर के बाहर निकलवा देता है। चित्त इस सब कष्ट को शांति तथा अविकार भाव से सह लेता है किंतु संभूति इस अपमान को सहने में असमर्थ होता है और प्राप्त सिद्धि का उपयोग करने को तैयार होता है। चित्त, संभूति को त्यागी का धर्म समझाता है और क्षमा धारण करने का उपदेश देता है किंतु संभूति पर उसका कुछ भी असर नहीं होता। उसके मुंह में से धुंए के बादल के बादल निकलने लगते हैं।

अन्त में इस बात की खबर हस्तिनापुर के राजा (चक्रवर्ती सनत्कुमार) को लगती है। वह स्वयं अपनी सेना तथा परिवार के साथ उस महा तपस्वीराज के दर्शनार्थ आता है। संभूति मुनि उस चक्रवर्ती राजा का वैभव देख कर मोहित हो जाता है।

विषयों का आकर्षण देखो! अनेकों वर्ष तक उग्र तपस्या करने वाले तथा ऋद्धि सिद्धियों के धारक मुनि भी उस के पाश में फंस जाते हैं। और अज्ञानी तथा अदूरदर्शी इस साधु को देखो! वह अपने अपूर्व बल से प्राप्त की हुई तपश्चर्या रूपी अमूल्य चिन्तामणि रत्न को क्षणिक कामनारूपी कौडी के लिये फेंक देने पर उतारू हो गया! (जैन दर्शन में इसे "नियाण" कहते हैं) चित्त के उपदेश का उस पर तनिक भी असर न हुआ।

इसके बाद मर कर ये दोनों जीव अपनी पुरानी तपश्चर्या के कारण देवयोनि में उत्पन्न होते हैं। वहां पूर्ण आयु भोगने के बाद आसक्ति के कारण इन दोनों का युगल टूट जाता है और उसी से संभूति कंपिला नगरी में चुलनी माता के उदर से ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती राजा पैदा होता है। चित्त का जीव स्वर्ग से चय कर पुरिमताल नगर में धनपति नगरसेठ के यहां जन्म लेता है और पूर्व पुण्यों के योग से समस्त सांसारिक सुखों से परिवेष्ठित होता है।

एक बार एक सन्त के मुख से एक गम्भीर गाथा सुन कर चित्त का जीव विचार में पड़ जाता है। उस पर विचार करते करते उसे ऐसा भाव होता है कि कहीं उसने यह गाथा सुनी है। उस पर विचार करते करते उन्हें जाति स्मरण (अनेक पूर्व भवों का स्मरण) हो आता है। उसी समय जगत की असारता का विचार करते हुए वह माता पिता का प्रेम, युवती स्त्रियों के भोग विलास तथा सम्पत्ति का मोह छोड़ कर जैसे सांप कांचली को छोड़ देता है, वैसे ही सांसारिक विषयों को लात मार कर साधु की दीक्षा धारण करता है।

पूर्व भव का संभूति का जीव अब ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती था। चक्रवर्ती के अनुपम, अप्रतिहत तथा सर्वोत्तम दिव्य सुखों को भोगते हुए भी कभी कभी उसके हृदय में एक अव्यक्त धीमी सी वेदना हुआ करती है। एक समय वह उद्यान में विहार का आनन्द ले रहा था। यकायक नवपुष्पों का एक गुच्छा देख कर उसे ऐसा मालूम हुआ कि ऐसा तो मैंने कहीं देखा है। और अनुभव भी किया है। तुरन्त ही उसे जाति स्मरण हुआ और देवगति के साथ साथ उसे अपने पिछले जन्मों के वृतान्त भी मालूम हो गये। चित्त का विरह अब उसे असह्य हो उठा।

भोगों की आसक्ति में अब तक जरा भी न्यूनता नहीं आई थी, परन्तु विशुद्ध एवं गाढ़ भ्रातृ प्रेम ने भाई से मिलने की अपार उत्कण्ठा जागृत करदी। उसने उनको ढूंढ निकालने के लिये " आसि दासा मिगा हंसा चांडाला अमरा जहा " यह आधा श्लोक देश देश में ढिंढोरा पिटवा कर उसने प्रसिद्ध करा दिया और घोषणा की कि जो कोई इस श्लोक को पूर्ण करेगा उसे आधा राज्य दिया जायगा।

यह बात देश के कोने कोने में फैल गई। संयोग से चित्र मुनि गाम गाम विचरते हुए कंपिला नगरी के उद्यान में पधारते हैं। वहां का माली उक्त अर्ध श्लोक गाते हुए वृक्षों में पानी सींच रहा है। मुनि उस अर्ध श्लोक को सुन कर चकित हो जाते हैं। अन्त में उस के द्वारा सर्व वृतान्त सुन कर उस अर्ध श्लोक को " इमाणो छट्ठिया जाई अन्न मन्नेण जा विणा " इन दो चरणों द्वारा पूर्ण करते हैं।

माली राज्य मण्डप में आकर भरे दरबार में उस पूर्ण श्लोक को सुनाता है! उसके सुनते ही ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती माली द्वारा कहे गये वृतान्त में अपने भाई को देखते ही मूर्छित हो जमीन पर गिर पड़ता है। ऐसी स्थिति में राज्य पुरुष उस माली को कैद कर लेते हैं। अन्त में माली सारा वृतान्त कह सुनाता है और जिसने उस श्लोक को पूर्ण किया था उन योगीराज को दरबार में उपस्थित करता है।

ब्रह्मदत्त अपने भाई का अपूर्व ओजस्वी शरीर देख कर स्वस्थ (सावधान) होता है और प्रेम गद्गद् होकर भाई से पूछता है कि हे भाई! मैं तो ऐसी अनुपम समृद्धि पाकर भोग भोग रहा हूं और आप इस त्याग के दुःखों से दुःखी होकर फिरते हो इसका कारण क्या? चित्त भी अपने पूर्व आश्रम के

सुख बताता है और त्याग में दुःख नहीं हैं किन्तु सच्चा सुख है यह सिद्ध कर देता है।

त्याग यह तो परम पुरुषार्थ का फल है। त्याग की शरण में बलवान पुरुष ही आ सकते हैं। सिंहनी का दूध जैसे सुवर्ण पात्र में ही ठहरता है वैसे ही त्याग भी सिंहवृत्ति वाले पुरुष में ही ठहरता है। सभी जीव आत्म प्रकाश से भेंट करने में लालायित रहते हैं। थोड़ा बहुत पुरुषार्थ भी करते हैं। अपार दुःख भी उठाते हैं फ़िर भी वासना की गुत्थी में फंसे हुए प्राणी का पुरुषार्थ व्यर्थ जाता है और (तेली की घाणी) का बैल जिस तरह तमाम दिन चक्कर लगाते हुए भी जहाँ का तहां ही रहता है वैसे ही बिचारे संसारी जीवों का आसक्ति के सामने कुछ वश नहीं चलता। इस आसक्ति रोग का नाश चित्त शुद्धि से ही हो सकता है। और ऐसे ही अन्तःकरण में वैराग्य भावना सहज ही जागृत होती है।

(१) चांडाल के जन्म में (कर्मप्रकोप से) अपमानित होकर संभूति मुनीश्वर ने हस्तिनापुर में (सनत्कुमारचक्रवर्ती की समृद्धि देखकर) नियाण (ऐसी ही समृद्धि मुझे भी मिले तो क्या ही अच्छा हो—इस वासना में अपना तप बेच डाला) किया और उससे पद्मगुल नाम के विमान से चयकर (दूसरे भवमें) चुलनी राणी के उदर में ब्रह्मदत्त के रूप में जन्म लेना पड़ा।

टिप्पणी—ऊपर के वृत्तांत में सविस्तर कथा दी है इसलिये उसे यहाँ फिर लिखने की आवश्यकता नहीं है। पद्मगुल विमान में प्रथम स्वर्ग तक दोनों भाई साथ २ थे। इसके बाद ही संभूति जुदा हो गया। इसका कारण यह था कि उसने नियाण किया था। नियाण करने से यद्यपि उसे महाऋद्धि मिली तो सही, परन्तु समृद्धि के

क्षणिक सुख कहां ? और आत्मदर्शन का सुख कहाँ ? इन दोनों की समानता कभी हो ही नहीं सकती।

(२) इस तरह कंपिला नगरी में संभूति उत्पन्न हुआ और (उनका भाई) चित्त पुरिमताल नगर में नगरसेठ के यहाँ पैदा हुआ। (चित्त के अंतःकरण में तो वैराग्य के गाढ़ संस्कार थे इससे) चित्त तो सच्चे धर्म को सुनकर (पूर्वभावों का स्मरण होने से) शीघ्र ही त्यागी हो गया।

टिप्पणी—यद्यपि चित्त का जन्म भी अत्यंत धनाढ्य घर में हुआ था किन्तु अनासक्त होने से वह कामभोगों से शीघ्र ही विरक्त हो सका

(३) चित्त और संभूति ये दोनों भाई (उपरोक्त निमित्त से) कंपिला नगरी में मिले और वे परस्पर (भोगे हुए) सुख दुःखों के फल तथा कर्मविपाक कहने लगेः—

(४) महाकीर्तिमान् तथा महा समृद्धिवान् ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने अपने बड़े भाई को बहुत सम्मान पूर्वक ये वचन कहेः—

(५) हम दोनों भाई परस्पर एक दूसरे के साथ २ हमेशा रहने वाले, एक दूसरे का हित करने वाले और एक दूसरे के अति प्रेमी थे।

टिप्पणी—ब्रह्मदत्त को जाति स्मरण और चित्त को अवधिज्ञान हुआ था। इससे वे अपने अनुभवों की बात कर रहे हैं। अवधिज्ञान उस ज्ञान को कहते हैं जिसमें मर्यादा के अन्दर त्रिकाल की बातें ज्ञात हों।

(६) पहिले भव में हम दोनों दशार्ण देश में दास थे। दूसरे भव में कालिंजर पर्वत पर हरिण हुए। तीसरे भव में

मृतगंगा नदी के किनारे हंस रूप में थे और चौथे भव में काशी में चाण्डाल कुल में पैदा हुए थे।

(७) (पांचवे भव में) हम दोनों देवलोक में महाऋद्धि वाले देव थे। मात्र छट्ठे जन्म में ही हम दोनों जुदे २ पड़ गये हैं।

टिप्पणी—ऐसा कह कर संभूति ने छट्ठे भव में दोनों ने जुदे २ स्थानों में जन्म क्यों लिये इसका कारण पूंछा।

(८) चित्त ने कहाः—हे राजन्! तुमने (सनत्कुमार नामक चतुर्थ चक्रवर्ती की समृद्धि तथा उसकी सुनंदा नामकी स्त्री रत्न को देखकर आसक्ति पैदा होने से) तपश्चर्यादि उच्च कर्मों का नियाण (ऐसा तुच्छ फल) मांगा। इस कारण उस फल के परिणाम से ही हम दोनों का वियोग हुआ।

टिप्पणी—तपश्चर्या से पूर्वकर्मों का क्षय होता है। कर्मक्षय होने से आत्मा हलकी होती है और उसका विकास होता है। पुण्यकर्म से सुंदर संपत्ति मिलती है किन्तु उससे आत्मा के पापी बनने की संभावना है। इसीलिये महापुरुष पुण्य की कभी भी इच्छा नहीं करते, केवल पापकर्म का क्षय ही चाहते हैं। यद्यपि पुण्य सोने की सांकल के समान हैं परन्तु सांकल (चाहे वह किसी भी धातु की क्यों न हो) बंधन तो है ही। जिसको बन्धन रहित होना हो उसको सोने की सांकल को भी छोड़ देने की कोशिश करनी चाहिये और अनासक्त भाव से कर्मों को भोग लेना चाहिये।

(९) (ब्रह्मदत्त ने कहाः—) पूर्व जन्म में सत्य और कपट रहित तपश्चर्यादि शुभकर्म करने के कारण ही आज मैं (ऐसी उत्तम समृद्धि पाकर) सुख भोग रहा हूँ। परन्तु हे चित्त तेरी दशा ऐसी क्यों हुई? तेरे सब शुभ कर्म कहां गये।

(१०) (चित्त ने कहा:—)हे राजेन्द्र ! जीवों द्वारा किये गये सब (सुन्दर या खराब) कर्म, फलवाले ही होते हैं। किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा होता ही नहीं इसलिये मेरा जीव भी पुण्यकर्मों के उदय से उत्तम प्रकार की संपत्ति तथा कामभोगों से युक्त था।

(११) हे संभूति ! जैसे तू अपने आपको महाभाग्यवान् समझ रहा है वैसे ही पुण्य के फल से युक्त चित्त को भी महान् ऋद्धिवान् जान। और हे राजन् ! जैसी उस (चित्त) की समृद्धि थी वैसी ही प्रभावशाली कान्ति भी थी।

टिप्पणी—उपरोक्त दो श्लोक चित्त मुनि ने कहे थे और आज वह मुनि रूप में था। यद्यपि इन्द्रियनियमादि कठिन तपश्चर्या तथा आभूषण आदि शरीर विभूषा के त्याग से आज उसकी देह कान्ति बाहर से झांखी दिखती थी फिर भी उसका आत्म ओजस् तो अपूर्व ही था।

(१२) राजा ने पूछा:—यदि ऐसी समृद्धि मिली थी तो उसका त्याग क्यों किया ? चित्त मुनिने जवाब दिया:—परमार्थ (गंभीर अर्थ) से पूर्ण फिर भी अल्पशब्दों की गाथा (एक मुनिमहाराज ने एक समय) बहुत से मनुष्यों के समूह में कही थी। उस गाथा को सुन कर बहुत से भिक्षुक चारित्र गुण में अधिकाधिक लीन हुए। उस गाथा को सुनकर मैं श्रमण (तपस्वी) बना।

टिप्पणी—समृद्धि पाकर भी सन्तोष न था किन्तु यह गाथा सुनकर तो बंधन तत्क्षण दूर हो गये और त्याग ग्रहण किया।

(१३) (ब्रह्मदत्त आसक्त था। उसको त्याग अच्छा नहीं लगता था, इसलिये उसने चित्त को भोग भोगने के लिये आमं-

त्रण दिया) उच्च, उदय, मधु, कर्क, और ब्रह्म नाम के पांच सुन्दर महल, भिन्न २ प्रकार के दृश्य (रङ्गशालाएं) तथा मंदिर पांचाल देश का राज्य आज से तुमको दिया। हे चित्त ! तुम प्रेम पूर्वक उसे भोगो।

(१४) (और) हे भिक्षु ! विविध वाजिंत्रों के साथ नृत्य करती हुई और मधुर गीत गाती हुई मनोहर युवतियों के साथ लिपट कर इन रम्य भोगों को भोगो। यही मेरी इच्छा है। त्याग यह तो सरासर कष्ट है।

(१५) उमड़ते हुए पूर्व स्नेह से तथा काम भोगों में आसक्त हुए महाराजा ब्रह्मदत्त को उसके एकान्त हितचिन्तक तथा संयम धर्म में लग्न ऐसे चित्त मुनि ने इस प्रकार जवाब दियाः—

(१६) सभी गायन एक प्रकार के विलाप के समान हैं, सभी प्रकार के नृत्य या नाटक विटंबना रूप हैं, सारे अलंकार बोझ के समान हैं, और सभी कामभोग एकान्त दुःख के ही देने वाले हैं।

टिप्पणी—यह सारा संसार ही जहां एक महान् नाटक है वहां दूसरे नाटक क्या देखें ? जिसजगह कुछ समय पहिले संगीत तथा नृत्य हो रहे थे वहीं कुछ ही समय बाद हाहाकार भरा करुण क्रन्दन सुनाई पड़ता है, ऐसी परिस्थिति में संगीत किसे मानें ? आभूषण केवल बालिश चित्त-वृत्ति को पुष्ट करने वाले खिलौने हैं, उनमें समझदार का मोह कैसा ? भोग तो आधि, व्याधि, उपाधि इन तीनों तापों के कारण हैं (तो ऐसे) दुःखों के मूल में सुख कहां से हो सकता है।

(१७) तपश्चर्या रूपी धन से धनवान्, चारित्र गुणों में लीन, और काम-भोगों की आसक्ति से बिलकुल विरक्त ऐसे भिक्षुओं को जो सुख होता है वह सुख, हे राजन्! अज्ञानियों को मनोहर लगने पर भी अनेक दुःखों को देने वाले ऐसे कामभोगों में कभी हो ही नहीं सकता।

(१८) हे नरेन्द्र! मनुष्यों में नीच माने जाते ऐसे चांडाल जीवन में भी हम तुम दोनों साथ ही साथ थे। उस जन्म में (कर्मवशात्) हम पर बहुत से आदमियों ने अप्रीति की थी तथा हम चाण्डाल के स्थानों में भी रहे थे। (ये सब बातें तुम्हें याद हैं कि नहीं?)

टिप्पणी—चांडाल जाति का अर्थ यहां चांडाल कर्म करने वाले से है। जाति से तो कोई ऊंच या नीच होता ही नहीं। कर्म (कृति) से ऊँचा नीचापन आता है। यदि उत्तम साधन पाकर भी पिछले भव में की हुई गफलत को इस समय फिर की तो आत्म-विकास के बदले पतित हो जाओगे—इसीलिये पूर्वभव की बातें याद दिलाई हैं।

(१९) जिस तरह चांडाल के घर जन्म लेकर उस दुष्ट जन्म में हम तमाम लोगों की निन्दा के पात्र हुए थे, फिर भी शुभ कर्म (तपस्या) करने से आज इस स्थिति को पहुँचे हैं वह भी पहिले किये गये कर्म का ही फल है। (यह न भूलना।)

टिप्पणी—इसी चांडाल जन्म में (पर्वत पर) जैन साधु का सत्संग मिलने से त्यागी होकर हमने जो शुद्ध कर्म किये थे उन्हीं का यह सुन्दर फल हमको मिला है। उस जमाने में ब्राह्मणों ने चाण्डालों का समानता का अधिकार छीन लिया था।

(२०) हे राजन्! पुण्य के फल से ही तू महासमृद्धिवान तथा महाभाग्यवान् हुआ है, इसलिये हे राजन्! क्षणिक इन भोगों को छोड़कर शाश्वत सुख (मुक्ति) की प्राप्ति के लिये तू त्याग दशा को अंगीकार कर।

(२१) हे राजन्! इस (मनुष्य के) क्षणिक जीवन में पुण्य-कर्म नहीं करने वाला मनुष्य धर्म को छोड़ देने के बाद जब कभी मृत्यु के मुख में जाता है तब वह परलोक के लिये बहुत ही पश्चात्ताप करता है।

(२२) जैसे सिंह मृग के बच्चे को पकड़ कर ले जाता है वैसे ही अन्त समय में मृत्युरूपी सिंह इस मनुष्य रूपी मृग-शावक को निर्दय रीति से धर दबाता है और उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसे मदद नहीं कर सकता।

(२३) (कर्म के फल स्वरूप प्राप्त) उन दुःखों में ज्ञाति (जाति) वाले, मित्रवर्ग, पुत्र या परिवार के लोग हिस्सा नहीं बाँट सकते। कर्म करने वाले जीव को वे स्वयं भोगने पड़ते हैं, क्योंकि कर्म तो अपने कर्ता के पीछे २ लगे रहते हैं, (दूसरों के पीछे नहीं)।

टिप्पणी—कर्म ऐसी चीज़ है कि उसका फल उसके कर्ता को ही मिलता है, उसमें अपने जीवात्मा सिवाय कोई कुछ भी न्यूनाधिक नहीं कर सकता। इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि तुम्हीं तुम्हारा बंध या मोक्ष कर सकते हो।

(२४) दासीदास, पशु, क्षेत्र, महल, धन धान्य आदि सबको छोड़कर, केवल अपने शुभाशुभ कर्मों से वेष्टित (परतंत्र)

अकेला यह जीवात्मा ही सुन्दर या असुन्दर परलोक (परभव) को प्राप्त होता है।

टिप्पणी—यदि शुभ कर्म होंगे तो अच्छी गति होती है और अशुभ कर्मों के योग से अशुभ गति होती है।

(२५) (मृत्यु होने के बाद) चिता में रक्खे हुए उसके असार (चेतना रहित निर्जीव) शरीर को अग्नि में जलाकर कुटुम्बीजन, पुत्र, स्त्री आदि (उसको थोड़े से समय में भूल कर) दूसरे दाता (मालिक) का अनुगमन (आज्ञा पालन) करने लगते हैं।

टिप्पणी—इस संसार मे सब कोई अपनी स्वार्थ सिद्धि तक ही संबंध रखते हैं। अपना स्वार्थ सिद्ध हुआ कि फिर कोई पास खड़ा नहीं होता। दूसरे की सेवा में लग जाते हैं।

(२६) हे राजन् ! मनुष्य की आयु तो थोड़ा सा भी विराम लिये बिना निरंतर क्षय होती रहती है (ज्यों २ दिन अधिक बीतते जाते हैं त्यों २ आयु कम होती जाती है) ज्यों २ वृद्धावस्था आती जाती है त्यों २ यौवन की कान्ति कम होती जाती है। इसलिये हे पांचाल राजेश्वर ! इन वचन को सुनो और महारम्भ (हिंसा तथा विषयादि) के क्रूर कार्यों को न करो।

चित्त के एकान्त वैराग्य को उत्पन्न करने वाले ऐसे सुबोध वाक्यों को सुनकर ब्रह्मदत्त (संभूति का जीव) बोला—

(२७) हे साधु पुरुष ! जो उपदेश आप मुझे दे रहे हैं वह मेरी समझ में तो आ रहा है। ये भोग ही मेरे बन्धन

(आसक्ति) के कारण हैं परन्तु हे आर्य! हम जैसे दुर्बलों द्वारा उनका जीतना महा कठिन है। (आसक्त पुरुषों से काम भोग छूटना बड़ी कठिन बात है।)

(२८) हे चित्त मुनि! (इसीलिये) हस्तिनापुर में महासमृद्धिवान् सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखकर मैं काम भोगों में आसक्त होगया और अशुभ नियाणा (थोड़े के लिये अधिक का त्याग) कर डाला।

(२९) वह नियाणा (निदान) करने के बाद भी (और तुम्हारे उपदेश देने पर भी) आसक्ति दूर न की, उसी का यह फल मिला है। अब धर्म को जानते हुए भी कामभोगों की आसक्ति मुझ से नहीं छूटती।

टिप्पणी—वासना जगने पर भी यदि गम्भीर चिन्तन द्वारा उसका निवारण किया जाय तो पतन न होने पावे।

(३०) जल पीने के लिये गया हुआ (बहुत प्यासा) किन्तु दलदल में फँसा हुआ हाथी (जैसे) किनारे को देखते हुए भी उसे नहीं पा सकता (वैसे ही) काम भोगों में आसक्त हुआ मैं (काम भोग के दुष्ट परिणामों को जानते हुए भी) त्याग मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता।

(३१) प्रति क्षण काल (आयुष्य) बीत रहा है और रात्रियां जल्दी २ बीतती जारही हैं। (जीवन क्षय हो रहा है)। मनुष्यों के ये भोगविलास भी सदा काल (स्थिर) रहने वाले नहीं हैं। जैसे नीरस वृक्ष को पक्षी छोड़ देते हैं; वैसे ही, ये कामभोग भी कभी न कभी इस पुरुष को भी छोड़ देते हैं।

टिप्पणी—युवावस्था में जो भोगविलास बड़े प्यारे लगते थे, वे ही वृद्धावस्था में नीरस लगते हैं।

(३२) यदि भोगों को सर्वथा छोड़ने में समर्थ न हो तो हे राजन्! दया, प्रेम, परोपकार, आदि आर्यकर्म कर। सर्व प्रजा पर दयालु तथा धर्मपरायण होकर राज्य करेगा तो तू यहां (गृहस्थाश्रम) से चलकर कामरूप धारण करने वाला उत्तम देव होगा। (ऐसा चित्तमुनि ने कहा)

टिप्पणी—गृहस्थाश्रम में भी यथा शक्ति त्याग किया जाय तो उससे देवयोनि मिलती है।

(३३) (योगासक्त राजा कुछ भी उपदेश ग्रहण न करने से चित्तमुनि निर्वेदता (खिन्नता) अनुभव करते हुए बोले:—) हे राजन्! तुम इस संसार के आरंभ तथा परिग्रहों में खूब आसक्त हो रहे हो। काम भोगों को छोड़ने की तुम्हारी थोड़ी सी भी इच्छा नहीं है तो मेरा सब उपदेश व्यर्थ हो गया ऐसा मैं मानता हूँ। हे राजा! अब मैं आपसे विदा होता हूँ (ऐसा कहकर चित्तमुनि वहां से विहार कर गये)।

(३४) पांचालपति ब्रह्मदत्त ने पवित्र मुनि के हितकारी वचन (उपदेश) न माने और अन्त में, जैसे उत्तम कामभोग उसने भोगे थे वैसे ही उत्तम (घोरातिघोर सातवें) नरक में वह गया।

टिप्पणी—जैसा करोगे वैसा भोगोगे।

(३५) और चित्तमुनि कामभोगों से विरक्त रहकर, उग्र चारित्र्य

तथा उग्र तपश्चर्या धारण कर, एवं श्रेष्ठ संयम का पालन कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

टिप्पणी—भोगों को भोगने के बाद उनको त्याग करना बड़ा ही कठिन है और उनकी आसक्ति हटाना तो और भी कठिन है। भोगों के जाल से निकल भगना बहुत ही कठिन है इसलिये मुमुक्षु जीव को भोगों से दूर ही रहना चाहिये।

'ऐसा मैं कहता हूँ'—

इस प्रकार चित्तसंभूतीय नाम का तेरहवां प्रकरण समाप्त हुआ।

इषुकारीय
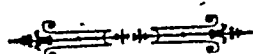
(इषुकार राजा सम्बन्धी)

१४

संगति का जीवन पर गहरा असर पड़ता है। ऋणानुबन्ध गाढ़ परिचय से जागृत होते हैं। सत्संग से जीवन अमृतमय हो जाता है और परस्पर के प्रेम भाव से एक दूसरे के प्रति सावधान रहे हुए साधक साथ साथ रहकर जीवन के अन्तिम ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं।

इस अध्ययन में ऐसे ही छः जीवों का मिलाप हुआ है। देवयोनि में से आये हुए छः पूर्व योगी एक ही इषुकार नगर में उत्पन्न होते हैं। जिन में से चार ब्राह्मण कुल में तथा दो क्षत्रिय कुल में पैदा हुए। ब्राह्मण कुलोत्पन्न दो कुमार योग संस्कारों की प्रबलता से युवावस्था में ही भोग विलासों की आसक्ति से दूर होकर योग धारण करनेके लिये प्रेरित होते हैं। दो जीव जो इन दोनों के माता पिता हैं वे भी उनके योग की प्रकृष्टता देख कर योग धारण करने का विचार करते हैं और शीघ्र यह सारा ही कुटुम्ब त्यागमार्ग का अनुसरण करता है।

इषुकार नगर में धन धान्य तथा परिवार आदि के बंधनों

को तोड़ कर एक ही साथ इन चार समर्थ आत्माओं के महाभिनिष्क्रमण से एक अपूर्व जागृति आती है। सारा नगर धन्यवाद की ध्वनियों से गूंज उठता है। इस को सुन कर वहाँ की रानी की भी पूर्वभव की प्रेरणा जागृत होती है और उसका असर यकायक राजा पर भी पड़ता है। इस तरह से छः आत्माएं संयम मार्ग अंगीकार कर कठिन तपश्चरण द्वारा अंतिम ध्येय मोक्ष को प्राप्त होते हैं। तत्सम्बन्धी पूरा वर्णन इस अध्ययन में किया गया है।

भगवान बोले:—

(१) पूर्वभव में देव होकर एक ही विमान में रहने वाले कुछ (छः) जीव देवलोक के समस्त रम्य, समृद्ध, प्राचीन तथा प्रसिद्ध ऐसे इषुकार नगर में पैदा हुए।

(२) अपने बाकी बचे हुए कर्मों के उदय से वे उच्चकुल में पैदा हुए और पीछे से संसारभय से भयभीत होकर समस्त आसक्तियों को छोड़ कर उनने जिनदीक्षा (संयम धर्म) की शरण ली।

(३) उन छः जीवों में से एक पुरोहित तथा दूसरा जसा नाम की उसकी पत्नी थी और दूसरे दो जीव मनुष्य जन्म पाकर उनके यहां कुमार रूप में अवतीर्ण हुए।

टिप्पणी—इस प्रकार ये ४ जीव ब्राह्मण कुल में तथा २ जीव वहां के राजा रानी के रूप में क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए।

(४) जन्म, जरा और मृत्यु के भय से डरे हुए और इसी कारण संसार से बाहर जाने के इच्छुक वे दो कुमार संसार चक्र

से छूटने के लिये किसी योगीश्वर को देखकर कामभोगों से विरक्त होगये।

टिप्पणी—जंगल में कुछ योगिजनों के दर्शन होने के बाद पूर्वयोग का स्मरण हुआ और जन्म, जरा तथा मृत्यु से भरे हुए इस संसार से छूटने के लिये उन्हें आदर्श त्याग की अपेक्षा (इच्छा) जगी।

(५) अपने कर्तव्य में परायण ऐसे उन दोनों ब्राह्मण कुमारों को अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हुआ और पूर्वभव में संयम तथा तपश्चर्या का पालन किया था यह बात उन्हें याद आई।

(६) इसलिये वे मनुष्य जीवन में दिव्य माने जाने वाले श्रेष्ठ काम भोगों में भी आसक्त न हुए और उत्पन्न हुई अपूर्व श्रद्धा से मोक्ष के इच्छुक वे कुमार अपने पिता के पास आकर नम्रतापूर्वक इस प्रकार बोले—

(७) यह जीवन अनित्य है, जिस पर अनेक रोगादि से युक्त तथा अल्प आयुष्य वाला है। इसलिये हमको ऐसे (संसार बढ़ाने वाले) गृहस्थ जीवन में तनिक भी सन्तोष नहीं होता। इसलिये मुनि दीक्षा (त्यागी जीवन) ग्रहण करने के लिये आप से आज्ञा मांगते हैं।

(८) यह सुनकर दुःखित उनके पिता, उन दोनों मुनि (भावना से चारित्र शाली)ओं के तप (संयमी जीवन) में विघ्न डालने वाला यह वचन बोलेः—हे पुत्रो ! वेद के पारंगत पुरुषों ने यों कहा है कि पुत्र रहित पुरुष की उत्तम गति नहीं होती।

टिप्पणी—अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्धर्मं समाचरेत् ॥

वेद धर्म का यह वाक्य एक खास अपेक्षा से कहा गया है। वेद धर्म में भी अखंड ब्रह्मचर्य धारण करने वाले बहुत से त्यागी महात्मा हुए हैं।

जैसा कहा भी है—

अनेकानि सहस्राणि कुमारा ब्रह्मचारिणः
स्वर्गं गच्छन्ति राजेन्द्र ! अकृत्वा कुलसंततिम्।

उन दोनों बालकों ने अभी तक त्यागी का वेश धारण नहीं किया था। यहां उनकी वैराग्य भावना की प्रबलता बताने के लिए 'मुनि' शब्द का प्रयोग किया है।

(९) इसलिये हे पुत्रो ! वेदों का अच्छी तरह अध्ययन करके, ब्राह्मणों को संतुष्ट करके तथा स्त्रियों के साथ भोग भोग कर तथा पुत्रों को घर की व्यवस्था सौंप कर बाद में ही अरण्य में जाकर प्रशस्त संयमी बनना।

टिप्पणी—उन दिनों, ब्राह्मणों को दान देना तथा वेदों का अध्ययन करना ये दो काम गृहस्थ धर्म के उत्तम अंग माने जाते थे। कुल-धर्म की छाप सब जीवों पर रहती है इसीलिये ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम फिर उसके बाद वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करने को कहा है। परन्तु सच्ची बात तो यह है कि इस प्रतिपादन में पिता की पुत्रवत्सलता विशेष स्पष्ट दिखाई दे रही है।

(१०) (वह ब्राह्मण) बहिरात्मा के गुण (राग) रूपी ईंधन से तथा मोह रूपी वायु से अधिक प्रज्वलित तथा पुत्र वियोग जन्य शोक रूपी अग्नि से दग्ध अन्तःकरण से इस प्रकार दीन

वचन (कि हे पुत्रो ! त्यागी न बनो आदि उद्विग्न वचन) पुनः २ कहने लगा।

(११) और पुत्रों को तरह २ के प्रलोभन देकर तथा अपने पुत्रों को क्रमशः धनोपार्जन तथा उसके द्वारा विविध भोगोपभोग जन्य सुखों का अनुभव करने का उपदेश देते हुए उस पुरोहित (पिता) को वे दोनों कुमार विचार पूर्वक ये वचन बोले—

(१२) हे पिताजी ! मात्र वेदाध्ययन से इस जीव को शरण नहीं मिलती। जिमाये हुए ब्राह्मण, प्रकाश (आत्मभान) में थोड़े ही ले जाते हैं ? उसी तरह उत्पन्न हुए पुत्र भी (कृत पापों के फल भोगने में) शरणभूत नहीं हो सकते। तो आपके कथन को कौन मानेगा ?

टिप्पणी—अपने धर्म को भूल कर केवल ब्राह्मणों को जिमाने से सद्धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है किन्तु अज्ञान और बढ़ता है। मात्र वेदाध्ययन से ही कहीं स्वर्ग नहीं मिल सकता। स्वर्ग या मुक्ति की प्राप्ति तो धारण किये सत्य धर्म द्वारा ही हो सकती है ?

(१३) और कामभोग तो केवल क्षणमात्र ही सुख तथा बहुत काल पर्यंत दुःख देने वाले हैं। जिस वस्तु में दुःख विशेष हो वह सुख कैसे दे सकता है। अर्थात् ये कामभोग केवल अनर्थ परंपरा की खान तथा मुक्ति मार्ग के शत्रु समान हैं।

(१४) विषयसुखों के लिये जहां तहां घूमता हुआ यह जीव कामभोगों से विरक्त न होकर हमेशा रातदिन जलता रहता है। कामभोगों में आसक्त बना हुआ (दूसरों के

लिये दूषित प्रवृत्ति करनेवाला) पुरुष धनादि साधनों को ढूँढ़ते ढूँढ़ते अन्त में बुढ़ापे से घिरकर मृत्युशरण होता है।

टिप्पणी—आसक्ति ही आत्मा को सच्चा मार्ग भुला कर संसार में भटकाती है। आसक्त मनुष्य असत्य मार्ग में अपनी तमाम जिंदगी बर्बाद कर डालता है और अन्त में अपूर्ण वासनाओं के साथ मरता है।

(१५) यह (सोना, घरबार आदि) मेरा है और यह मेरा नहीं है; मैंने यह व्यापार किया, अमुक नहीं किया—इस प्रकार बड़बड़ाते हुए प्राणी को रात्रि तथा दिवस रूपी चोर (आयु की) चोरी कर रहे हैं। इसलिये प्रमाद क्यों करना चाहिये ?

टिप्पणी—ममत्व के दूषित वातावरण में तो यावन्मात्र जीव सड़ रहे हैं। अपनी प्रिय वस्तु पर आसक्ति तथा अप्रिय वस्तु पर द्वेष करना यह जगत का स्वभाव है। केवल समझदार मनुष्य ही ऐसी दशा में जागृत रह सकता है और जो घड़ी निकल गई वह अब कभी लौट कर नहीं आयेगी ऐसा मान कर अपने आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होता है।

(१६) (पिता कहता है:—) जिसके लिये सारा संसार (सब प्राणीमात्र) महान् तपश्चर्या (भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी आदि सहन) कर रहे हैं वे अक्षय धन, स्त्रियां, कुटुंब तथा कामभोग तुमको अनायास ही भरपूर प्रमाण में मिले हैं।

टिप्पणी—पिता (पुरोहित) इन वचनों से ही यह बताना चाहता है कि संयम का हेतु सुख प्राप्ति है और वह सुख तुमको स्वयं प्राप्त है तो

संयम क्यों लेते हो ? किन्तु सच्ची बात तो यह है कि संयम, योग अथवा तप का मुख्य उद्देश्य भौतिक सुख प्राप्ति है ही नहीं, केवल आत्म सुख के लिये ही ये साधन हैं।

(१७) (पुत्रों ने जवाब दिया:—) हे पिताजी ! सत्यधर्म की धुरा धारण करने के अधिकार में स्वजन, धन या कामभोगों की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। उसके लिये ही हम प्रतिबंध रहित होकर निर्द्वंद विचरने वाले और भिक्षाजीवी बनकर गुण समूह को धारण करने वाले साधु होना चाहते हैं।

टिप्पणी—इस छोटे से घर का ममत्व छोड़कर समस्त विश्व को हम अपना घर मानेंगे और भिक्षाजीवी आदर्श साधु होकर आत्मगुण की आराधना करेंगे।

(१८) जैसे अरणि (काष्ठ) में अग्नि, दूध में घी और तिलों में तैल प्रत्यक्षरूप से दिखाई न देने पर भी ये सब वस्तुएं संयोग मिलने से पैदा होती हैं वैसे ही हे पुत्रो ! पंच-भूतात्मक शरीर में से ही जीव उत्पन्न होता है। शरीर के भस्मीभूत होने पर आत्मा जैसी कोई भी वस्तु नहीं रहती। (तो फिर यह कष्ट साधन क्यों करते हो ? धर्म-कर्म की क्या जरूरत है ?)

टिप्पणी—चार्वाक मत का यह कथन है कि पंचमहाभूत से ही कोई शक्ति उत्पन्न होती है और वह शरीर के नाश होते ही नष्ट हो जाती है। अर्थात् आत्मा जैसी कोई स्वतंत्र वस्तु है ही नहीं। किन्तु यह मान्यता भ्रान्त है। चेतन शक्ति है और उसका स्वतंत्र अस्तित्व भी है। न वह शरीर के साथ २ उत्पन्न होता है और न

वह शरीरनाश के साथ २ नष्ट ही होती है। आत्मा; अक्षय, अमर तथा शाश्वत है। काष्ठ, दूध तथा तिल में अग्नि, घी तथा तैल प्रत्यक्ष न देखने पर भी इनका अव्यक्त अस्तित्व उनमें है उसी तरह शरीर धारण करते समय कर्मों से घिरी हुई आत्मा उसमें है और शरीर पतन के साथ २ वह उसको छोड़कर दूसरे शरीर में प्रविष्ट होती है।

(१९) (पुत्रों ने कहा:—) हे पिताजी ! आत्मा अमूर्त होने से इंद्रियों द्वारा देखा या छुआ नहीं जा सकता। और सचमुच अमूर्त होने से ही वह नित्य माना जाता है। आत्मा नित्य होने पर भी जीवात्मा में स्थित अज्ञानादि दोषों के बंधन में बंधा हुआ है। यही बंधन संसार परिभ्रमण का मूल है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

टिप्पणी—यावन्मात्र अमूर्त पदार्थ नित्य ही होते हैं। जैसे आकाश अमूर्त है तो वह नित्य भी है। परन्तु आकाशद्रव्य अखंड नित्य है किन्तु जीवात्मा (कर्म से बंधा हुआ जीव) परिणामी नित्य है और इसीलिये कर्मवशात् वह छोटे बड़े आकारों के (रूपों में) शरीर के अनुरूप होकर ऊंच नीच गतियों में गमन करता है।

(२०) आज तक हम मोह के बंधन से धर्म का स्वरूप नहीं जान सके थे और इसीलिये भवचक्र में रुंधे हुए थे, तथा काम भोगों में आसक्त हो होकर पापकर्मों की परंपरा को बढ़ाते जाते थे। परन्तु अब तो सब कुछ जानकर फिर वैसा काम नहीं करेंगे।

टिप्पणी—एक समय हम भी अज्ञान से शरीर के मोह में आसक्त होकर पाप पुण्य कुछ नहीं है, परलोक नहीं है, आदि आपके जैसी

हमारी भी मान्यताएं थीं, परन्तु अब तत्व का स्वरूप जानने के बाद वह बात हृदय में बिलकुल नहीं उतरती।

(२१) सब दिशाओं से घिरा हुआ यह सारा संसार तीक्ष्ण शस्त्र-धारों (आधि, व्याधि तथा उपाधि के तापों) से हना जा रहा है। ऐसी दशा में हमें गृहजीवन में लेशमात्र भी प्रीति उत्पन्न नहीं होती। (ऐसा पुत्रों ने कहा)

(२२) (पिता ने कहा:—) हे पुत्रो! यह संसार किससे आवृत्त घिरा हुआ) है? कौन इसे हन (मार) रहा है? संसार में कौन से तीक्ष्ण शस्त्रों की धारें पड़ रही हैं? इन सबके उत्तर मुझ शंकित हृदय को शीघ्र दो।

(२३) (पुत्रों ने उत्तर दिया:—) हे पिताजी! यह सारा जीवलोक मृत्यु से पीड़ित है और वृद्धावस्था द्वारा आवृत्त है। तीक्ष्ण शस्त्र की धार रूपी दिन रात हैं जो आयु को प्रतिक्षण काट २ कर कम कर रही हैं। हे पिताजी! आप इस को खूब सोचो विचारो।

(२४) जो दिन रात निकल जाता है वह फिर कभी लौट कर वापिस नहीं आता। तब ऐसे छोटे समय वाले जीवन में अधर्म करने वाले का जीवन बिलकुल निष्फल चला जाता है।

टिप्पणी—अमूल्य घड़ियां (क्षण) फिर फिर नहीं मिलती हैं। समय चला जाता है किन्तु उसका पश्चात्ताप ही रह जाता है कि हाय हाय! समय निकल गया और हम कुछ न कर पाये।

(२५) जो दिनरात निकल जाता है वह फिर कभी लौटकर

वापिस नहीं आता। किन्तु सद्धर्म का आचरण करनेवाले का वह समय सफल हो जाता है।

टिप्पणी—समय के सदुपयोग करनेवाले को समय के हाथ में से निकल जाने का पछतावा कभी नहीं होता।

पुत्र के अमृततुल्य वचनों से पिता का हृदय पलटता जाता था फिर भी वात्सल्य भाव उनको विदा देने में रोक रहा था। वह बोले:—

(२६) हे पुत्रो! सम्यक्त्व संयुक्त (आसक्ति रहित) होकर थोड़े समय तक हम चारों जन (माता, पिता तथा दोनों पुत्र) गृहस्थाश्रम में रहकर कुछ दिनों बाद हम सब घर घर भिक्षा मांगकर जीवित रहनेवाले ऐसे आदर्श मुनि बनेंगे।

(२७) (पुत्रों ने कहा:—) हे पिताजी! जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, अथवा जो मृत्यु से छुटकारा पा सकता हो, अथवा जो यह जानता हो कि मैं नहीं मरूंगा वही सच-मुच कल का विश्वास कर सकता है।

टिप्पणी—कैसी आदर्श जिज्ञासा है! त्यागी होने की कैसी उत्कट इच्छा है! आदर्श वैरागी के क्याही हृदयभेदक वचन हैं! क्या यह भाव हृदय की गहरी प्रतीति बिना या त्याग की योग्यता बिना हो सकता है? सत्य की झांखी होने के बाद एक क्षण का भी विरह उन्हें असह्य लगता है!

(२८) इसलिये जिसे प्राप्त कर फिर दुबारा जन्म ही न लेना पड़े ऐसे साधुधर्म (त्याग मार्ग) को हम आज ही अंगीकार

करेंगे। ऐसे विषय सुख कभी नहीं भोगे—सो तो है ही नहीं। इसलिये अब तो इस राग (सांसारिक आसक्ति) को छोड़कर भिक्षुधर्म में श्रद्धा रखना यही श्रेष्ठ है।

तरुण पुत्रों के इन हृदय द्रावक वचनों ने पिता के पूर्व संस्कारों को जागृत कर दिया फिर उसने अपनी पत्नी को बुलाकर कहा:—

(२९) हे वाशिष्ठि! मेरा भिक्षाचरी (भिक्षुधर्म ग्रहण) करने का समय अब आ गया है क्योंकि जैसे वृक्ष शाखाओं से शोभित तथा स्थिर रहता है; शाखाओं के टूटने से जैसे वह सुन्दर वृक्ष एकदम शोभाहीन ठूंठ दिखाई देता है वैसे ही अपने दोनों पुत्रों के बिना मेरा गृहस्थ जीवन में रहना योग्य नहीं है।

टिप्पणी—पत्नी का वशिष्ठ गोत्र होने से उसे वाशिष्ठि कहा है।

(३०) जिस तरह पंख बिना पक्षी, संग्राम में सैन्य रहित राजा, जहाज में द्रव्यहीन व्यापारी शोभित नहीं होता और उन्हें शोक करना पड़ता है वैसे ही पुत्र रहित मैं नहीं शोभता और दुःखी होता हूँ।

(३१) (यह सुनकर उसकी स्त्री जसा पति की परीक्षा करने के लिये यों बोली:—) उत्तम प्रकार के रसवाले तथा सुन्दर तमाम कामभोगों के साधन हमें मिले हुए हैं तो अभी तो कामभोगों (इन्द्रियों के विषयों) को खूब भोग लेवें। फिर बाद में संयम मार्ग को अवश्य अंगीकार करेंगे।

(३२) (ब्राह्मण ने कहा:—) हे भाग्यशालिनि ! (कामभोगों के) रस खूब भोग लिये हैं। यौवन अब चला जा रहा है। फिर असंयमित जीवन जीने के लिये (अथवा किसी दूसरी इच्छा से) मैं भोगों को नहीं छोड़ रहा हूँ; किन्तु त्यागी जीवन के लाभालाभ, सुखदुःखों को खूब समझ सोचकर मौन (संयममार्ग) को अंगीकार कर रहा हूँ।

टिप्पणी—भिक्षुजीवन में तो भिक्षा मिले और न भी मिले, तथा अनेक प्रकार के दूसरे संकट भी सहने पड़ें। गृहस्थजीवन में तो सब कुछ स्वतंत्र भोगने को मिला है फिर भी त्यागी जीवन की इच्छा हो इसमें पूर्व जन्म के संस्कार ही कारण हैं। त्याग में जो दुःख है वह गौण है और जो आनन्द है वही मुख्य है। यह आनन्द, यह शान्ति, यह विराम, भोगों में कहीं किसी ने कभी अनुभव नहीं किया और करेगा भी नहीं।

(३३) पानी के प्रबल प्रवाह के विरुद्ध जानेवाला वृद्ध हंस जैसे बाद में पछताता है वैसे ही तुम भी स्नेही जनों का स्मरण करके खेदखिन्न होगे। इसलिये गृहस्थाश्रम में मेरे साथ रहो और यथेच्छ भोग भोगो। भिक्षाचरी का मार्ग तो बहुत दुःखद है। (यह वाक्य जसा ने अपने पति से कहा है)।

टिप्पणी—उक्त श्लोक में संयममार्ग के कष्ट और गृहस्थजीवन के प्रलोभन देकर पक्की कसौटी की गई है।

(३४) हे भद्रे ! जैसे सांप कांचली छोड़कर चला जाता है वैसे ही ये मेरे दोनों पुत्र भोगों को छोड़कर चले जा रहे हैं तो मैं उनका अनुसरण क्यों न करूं ?

टिप्पणी—सांप अपने ही शरीर से उत्पन्न हुई कांचली को छोड़कर फिर ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता है उसी तरह साधकों को आसक्ति रूपी कांचली छोड़ देनी ही उचित है।

(३५) (जसा अब विचार में पड़ गई कि जब ये सब) जैसे रोहित मत्स्य जीर्ण जाल को तोड़कर उससे निकल भगते हैं उसी तरह ये कामभोग रूपी जाल से छूटे जा रहे हैं और जैसे जातिमान् वृषभ (बैल) रथ के भार को अपने कंधे पर उठाता है वैसे ही ये धीर चारित्र्य तथा तपश्चर्या के भार को उठाकर सचमुच ही त्यागमार्ग पर जा रहे हैं।

(३६) फैली हुई जाल को तोड़कर जैसे पत्ती दूर २ आकाश में स्वच्छन्द विचरते हैं वैसे ही भोगों की जाल तोड़कर मेरे दोनों पुत्र तथा पति त्यागधर्म अंगीकार कर रहे हैं तो मैं उनका अनुसरण क्यों न करूं ?

इस तरह ये चारों समर्थ आत्मायें थोड़े ही समय में अनेक प्रकार के धनधान्य, कुटुंब-परिवार, दासी-दास, आदि को निरासक्त भाव से छोड़कर त्यागधर्म धारण करती हैं और अब उनकी संपत्ति का कोई वारिस न होने से वह सब राज-दरबार में लायी जाती है।

(३७) विशाल तथा कुलीन कुटुंब, धन और भोगों को छोड़कर दोनों पुत्र तथा पत्नी सहित भृगु पुरोहित का अभिनिष्क्रमण (दीक्षा ग्रहण) सुनकर और उसके द्वारा छोड़ा

गया वैभव राजा को लेते देखकर राजमहिषी कमलावती (राजा के प्रति) पुनः २ यों कहने लगीः—

(३८) हे राजन् ! जो पुरुष किसी के उल्टी किये हुए भोजन को खाता है उसे कोई अच्छा नहीं कहता। वैसे ही इस ब्राह्मण द्वारा उगला हुआ धन आप ग्रहण करना चाहते हो यह किसी भी प्रकार योग्य नहीं है।

(३९) हे राजन् ! यदि कोई तुम को सारा जगत या जगत का सारा धन दे दे तो भी वह आपके लिये पूर्ण न होगा (तृष्णा का पार कभी आता ही नहीं) तथा हे राजन् ! और यह धन आपको कभी भी शरण रूप नहीं होगा।

(४०) हे राजन् जब कभी इन सब मनोहर कामभोगों को छोड़ कर आप मृत्यु वश होंगे उस समय यह सब आपको शरण रूप न होगा। हे राजन् ! उस समय तो आपका कमाया हुआ धर्म ही आपको शरणभूत होगा। इसके सिवाय दूसरा कुछ भी (धनादि) काम न आयगा।

टिप्पणी—रानी के ये वचन उनके गहरे हृदयवैराग्य के द्योतक हैं। महाराजा ने परीक्षा के लिये पूछा—यदि इतना समझती हो तो अब भी गृहस्थाश्रम में क्यों रहती हो ?"

(४१) जैसे पिंजड़े में पक्षिणी आनन्द नहीं पा सकती वैसे ही (राज्यसुख से परिपूर्ण इस अन्तःपुर में) मुझे आनन्द नहीं मिलता है। इसलिये मैं स्नेह रूपी तन्तु को तोड़कर तथा आरंभ (सूक्ष्म हिंसादि क्रिया) और परिग्रह (संग्रह वृत्ति) के दोष से निवृत्त, अकिंचन, निरासक्त तथा सरलभावी बनकर संयम मार्ग में गमन करूंगी।

(४२) जैसे जंगल में दावाग्नि लगने से और उसमें वन जन्तुओं को जलते देखकर दूर के प्राणी रागद्वेष वश क्षणिक आनन्द प्राप्त करते हैं (कि हम तो बचे हैं) परन्तु उन भोले प्राणियों को यह खबर नहीं कि कुछ ही देर में हमारी भी यही दशा होने वाली है।

(४३) इसी तरह कामभोगों में आसक्त बने हुए हम राग तथा द्वेष रूपी अग्नि से जलते हुए सारे जगत को मूढ़ की तरह जान नहीं सकते हैं। (अर्थात् रागद्वेषरूपी अग्नि सभी को भक्षण करती चली आ रही है तो वह हमें भी भक्षण कर जायगी)

(४४) जिस तरह अप्रतिबंध पक्षी आनन्द के साथ स्वच्छन्द आकाश में विचरता है वैसे ही हमें भी भोगे हुए भोगों को स्वेच्छा से छोड़कर तथा आनन्द के साथ संयम धारण कर, गाम नगर आदि सभी स्थानों में निराबाध विचरना चाहिये।

(४५) हमें प्राप्त हुए ये कामभोग कभी स्थिर नहीं रहनेवाले हैं (कभी न कभी ये हमें छोड़ देंगे) तो फिर हम ही इन चारों ब्राह्मणों की तरह इन्हें क्यों न छोड़ दें ?

(४६) जैसे गिद्ध को मांस सहित देखकर अन्य पक्षी उससे छीन लेने के लिये उसको त्रास देते हैं, किन्तु मांस रहित पक्षी को कोई त्रास नहीं देता वैसे ही परिग्रह रूपी मांस को छोड़कर मैं निरामिष (निरासक्त) होकर विचरूंगी।

(४७) ऊपर कही हुई गिद्ध की उपमा को बराबर समझ कर और कामभोग संसार को बढ़ाने वाले हैं ऐसा समझ कर

जिस तरह सांप गरुड़ से बच २ कर चलता है वैसे ही हम को भी भोगों से डर डर के चलना (विवेक पूर्वक चलना) चाहिये।

(४८) हे महाराज! जैसे हाथी सांकल आदि के बंधन तोड़कर अपने स्थान (विन्ध्याचल, अटवी आदि) में जाने से आनन्दित होता है वैसे ही सांसारिक बंधन छूटने से जीवात्मा परम आनन्द को प्राप्त होता है। हे इषुकार राजन्! मैंने ऐसा (अनुभवी सुज्ञ पुरुषों के द्वारा) सुना है और यही हितकर है—ऐसा आप जानो।

टिप्पणी—स्त्रीजाति भी पुरुष के बराबर ही सामर्थ्य रखती है। पुरुष और स्त्री ये दोनों आत्मविकास के समान साधक हैं। जिस तरह पुरुष को ज्ञान तथा मोक्ष पाने का अधिकार है वैसे ही स्त्रियों को भी है। योग्यता ही आगे बढ़ाती है, फिर चाहे वह स्त्री हो या पुरुष हो।

(४९) (कमलावती रानी का ऐसा तत्वविवेचन उपदेश सुनकर राजा की मोहनिद्रा भंग हुई और) बाद में रानी तथा राजा अपना विस्तृत राज्य-पाट और कठिनता से त्याग-योग्य ऐसे मोहक कामभोगों को छोड़ कर विषयमुक्त स्नेहमुक्त, आसक्तिमुक्त तथा परिग्रहमुक्त हुए।

(५०) उत्तम भोगों को छोड़ने के बाद अतिपुरुषार्थी उस दंपति ने सच्चे धर्म के स्वरूप को समझकर सर्व प्रसिद्ध तपश्चर्या अंगीकार की।

टिप्पणी—अन्तरङ्ग तथा बाह्य मिल कर सब १२ प्रकार की तपश्चर्या है। कर्म-रूपी काष्ठ को जलाने में तपश्चर्या अग्नि का कार्य करती है। इसका विस्तृत वर्णन आगे ३० वें अध्याय में किया है।

(५१) इस तरह उक्त क्रम में ये छहों जीव जरा (बुढ़ापा) तथा मृत्यु के भय से खिन्न होकर धर्मपरायण बने और दुःखों के अंत (मोक्ष) की शोधकर वे क्रमपूर्वक बुद्ध (केवल ज्ञानी) हुए।

(५२) वीतराग (जीत लिया है मोह जिसने ऐसे) जिनेश्वर के शासन में पूर्व भव में भाई हुई भावनाओं का स्मरण करके वे छहों जीव दुःखों के अन्त (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

(५३) देवी कमलावती, राजा, पुरोहित ब्राह्मण (भृगु), उसकी पत्नी जसा ब्राह्मणी, उसके दोनों पुत्र इस तरह ये छहों जीव मुक्ति को प्राप्त हुए। सुधर्म स्वामी ने जंबूस्वामी को कहाः—'ऐसा भगवान् ने कहा था' इस प्रकार इषुकारीय नामक चौदहवां अध्ययन समाप्त हुआ।

स भिक्खू

वही साधु है

१५

संसार में पतन के निमित्त बहुत हैं इसलिये साधक को सावधान रहना चाहिये। भिक्षु का कर्तव्य है कि वह वस्त्र तथा आहार आदि आवश्यक वस्तुओं में भी संयम रक्खे। यह उसकी साधक दशा के लिये जितना उपयोगी है उतना ही उपयोगी सत्कार, मान अथवा प्रतिष्ठा की लालसा को रोकना है।

विविध विद्याएँ, जो त्यागी जीवन में उपयोगी न हों उन को सीखने में समय का दुरुपयोग करना यह संयमी जीवन के लिये विघ्न समान है। तपश्चर्या तथा सहिष्णुता ये ही दो आत्मविकाश रूपी गगन में उड़ने के पंख हैं। भिक्षु को चाहिये कि इन दोनों पंखों को खूब संभाल के साथ लेकर ऊंचे ऊंचे आकाश में विचरे।

भगवान बोले—

(१) जो सच्चे धर्म को विवेक पूर्वक अंगीकार कर, अन्य भिक्षुओं के संघ में रहकर, नियाण (वासना) को नष्ट

कर, सरलस्वभाव धारण कर, चारित्र धर्म में चले एवं जो कामभोगों की इच्छा न करे और पूर्वाश्रमों के संबंधियों की आसक्ति को छोड़ दे; (तथा) अज्ञात (अपरिचित) घरों में ही भिक्षाचरी करके आनन्दपूर्वक संयमधर्म में गमन करे वही साधु है।

टिप्पणीः—अज्ञात अर्थात् 'आज हमारे यहां साधुजी पधारने वाले हैं इसलिए भोजन कर रक्खें'—ऐसा न जानने वाले घर।

(२) उत्तम भिक्षु; राग से निवृत्त होकर, पतन से अपनी आत्मा को बचा कर, असंयम से दूर होकर, परिषहों को सहन कर और समस्त जीवों को आत्म तुल्य जानकर किसी भी वस्तु में मूर्छित (मोहित) न हो, वही साधु है।

(३) यदि कोई उसे कठोर वचन कहे या मारे तो उसे अपने पूर्व संचित कर्मों का फल जानकर धैर्य धारण करनेवाला, प्रशस्त (ऊँचे लक्ष्यवाला), आत्मा को हमेशा गुप्त (वश) में रखनेवाला और अपने चित्त को अव्याकुल रख हर्ष शोक से रहित होकर संयम के पालन में आने वाले कष्टों को सह लेता है वही साधु है।

(४) जो अल्प तथा जीर्ण शय्या और आसन से सन्तुष्ट रहता है; शीत, उष्ण, दंशनाशक, आदि के कष्टों को जो समभाव से सहन करता है वही साधु है।

(५) जो सत्कार या पूजा की लालसा नहीं रखता है, यदि कोई उसे प्रणाम करे अथवा उसके गुण की प्रशंसा करे तो भी अभिमान भाव मन में नहीं लाता ऐसा संयमी,

सदाचारी, तपस्वी, ज्ञानवान, क्रियावान, तथा आत्मदर्शन का जो शोधक है वही सच्चा साधु है।

(६) जिन कार्यों से संयमी जीवन को क्षति हो ऐसे काम न करने वाला, समस्त प्रकार के भेदों को दबाने वाला तथा नरनारी के मोह को बढ़ाने वाले संग को छोड़ तपस्वी होकर विचरने वाला तथा तमाशा जैसी वस्तुओं में रस न लेने वाला ही सच्चा साधु है।

टिप्पणी—इस श्लोक का अर्थ यह भी हो सकता है कि जो नरनारी (स्वजन समूह अथवा कुटुम्ब कबीला) का (पूर्व परिचय होने से) मोह उत्पन्न हो और संयमी जीवन दूषित हो ऐसा संग छोड़ कर तपस्वी बनकर विहार करने वाला और तमाशों में रस न लेने वाला ही साधु है।

(७) नख, वस्त्र, तथा दाँत आदि छेदने की क्रिया, राग (स्वर भेद) विद्या, सम्बन्धी भू ((पृथ्वी) विद्या, खगोल विद्या (आकाशीय ग्रह नक्षत्र सम्बन्धी विद्या), स्वप्न विद्या (स्वप्नफलादेश), सामुद्र (शारीरिक लक्षणों द्वारा सुख दुःख बताना) शास्त्र, अंगस्फुरण विद्या (अमुक अंग के लहकने से अमुक फल होता है, जैसे दाहिनी आँख का लहकना शुभ और बाईं आँख का अशुभ माना जाता है), दंड विद्या, पृथ्वी में गड़े हुए धन को जानने की विद्या, पशु-पक्षियों की बोली का जानना आदि कुत्सित विद्याओं द्वारा जो अपना संयमी जीवन दूषित नहीं बनाता (अपना स्वार्थ साधन नहीं करता) वही साधु है।

(८) मंत्र, जड़ीबूटी तथा जुदी २ तरह के वैद्यक उपचारों को

जानकर काम में लाना, जुलाब देना, वमन कराना, धूप (सेक) देना, (आँखों के लिये) अंजन बनाना, स्नान कराना, रोग आने से 'हाय राम, ओ बाबा, ओ मां,' आदि क्रंदन करना, वैद्यक सीखना आदि क्रियाएं योगियों के लिये योग्य नहीं है। इसलिये इनका त्याग जो करता है वही साधु है।

टिप्पणीः—उपरोक्त विद्याएं और उनके संबंध में की जाने वाली क्रियाएं अन्त में एकान्त त्याग धर्म से विमुख करने वाली सिद्ध होती हैं, इसलिये जैन साधु; इन क्रियाओं को नहीं करते और उनकी अनुमोदना भी नहीं करते।

(९) जो क्षत्रियों की वीरता की, कुलीन राजपुत्रों की, तांत्रिक ब्राह्मणों की, भोगियों (वैश्यों) की, भिन्न भिन्न प्रकार के शिल्पियों (कारीगरों) की पूजा या प्रशंसा (क्योंकि ऐसा करना संयमी जीवन को कलुषित कारक है ऐसा जानकर जो ऐसा) नहीं करता वही साधु है।

टिप्पणी—राजाओं या भोगी पुरुषों की अथवा ब्राह्मणों (उस समय इनका बड़ा जोर था) की झूंठी प्रशंसा करना साधु जीवन का भयंकर दूषण है। योगी को सदा आत्ममग्न होकर विचरना चाहिये। झूंठी खुशामद करने से आत्म धर्म को धक्का लगता है।

(१०) गृहस्थाश्रम में रहते हुए तथा मुनि होने के बाद जिन जिन गृहस्थों का अति परिचय हुआ हो उनमें से किसी के भी साथ ऐहिक सुख के लिये जो संबंध नहीं जोड़ता वही साधु है।

टिप्पणी—गृहस्थों के साथ गाढ़ परिचय होने से कभी कभी आत्मधर्म

के विरुद्ध कार्य करने का मौका आ पड़ता है इसलिये साधु को ऐहिक स्वार्थों की सिद्धि के लिये गृहस्थों का परिचय नहीं बढ़ाना चाहिये। मुनि का सबके साथ केवल पारमार्थिक संबन्ध ही होना चाहिये।

(११) आवश्यक शय्या (घास फूँस या पुँआल की सोने की जगह), पाट, पाटला, आहार पानी अथवा अन्य कोई खाद्य पदार्थ किंवा मुख सुगन्ध के पदार्थ की याचना मुनि; गृहस्थ से भी न करे और यदि मांगने पर भी वह न दे तो उसको जरा भी द्वेष युक्त वचन न बोले और न मन में बुरा ही माने। जो ऐसी वृत्ति रखता है वही सच्चा साधु है।

टिप्पणी—त्यागी को मान और अपमान दोनों समान हैं।

(१२) जो अनेक प्रकार के भोजन पान, (अचित्त) मेवा अथवा मुखवास आदि गृहस्थों से प्राप्त कर संग के साथी साधुओं को बांटकर पीछे भोजन करता है और जो मन, वचन और काय को वश में रखता है उसी को साधु कहते हैं।

टिप्पणी—अथवा "तिविहेण नाणुकंपे" अर्थात्, मन, वचन, काया से भिक्षु धर्म द्वारा प्राप्त किये हुए अन्न में से किसी को कुछ न देवे। भिक्षा प्राप्त अन्न में से दान करने से भविष्य में भिक्षु धर्म के भंग होनेका अर्थात् संग्रह वृत्ति आदि का विशेष डर है।

(१३) ओसामण (पतली-दाल), जौ का दलिया, गृहस्थ का ठंडा भोजन, जौ या कांजी का पानी आदि खुराक (रस या अन्न) प्राप्त कर उस भोजन की निन्दा नहीं करता

तथा सामान्य स्थिति के घरों में भी जाकर जो भिक्षावृत्ति करता है वही साधु है।

टिप्पणी—भिक्षु; संयमी जीवन निर्वाह के उद्देश्य से भोजन ग्रहण करता है। जिह्वा की लोलुपता को शांत करने के लिये रसाल तथा स्वादिष्ट भोजन की इच्छा कर धनिक दाता के यहां भिक्षार्थ जाना—साधुत्व की त्रुटि कहनी चाहिये।

(१४) इस श्लोक में देव, पशु अथवा मनुष्यों के अनेक प्रकार के अत्यन्त भयंकर तथा द्वेषोत्पादक शब्द होते हैं। उनको सुनकर जो नहीं डरता (विकार को प्राप्त नहीं होता) वही साधु है।

टिप्पणी—पहिले जमाने में साधु विशेष करके जंगलों में रहा करते थे और तब ऐसी परिस्थिति होने की विशेष संभावना थी।

(१५) लोक में प्रचलित भिन्न २ प्रकार के वादों (तन्त्रादि शास्त्रों) को समझकर, अपने आत्म धर्म को स्थिर रख कर संयम में दत्त चित्त पंडित पुरुष; सब परिषहों को जीत कर, समस्त जीवों पर आत्म भाव रख कर कषायों को वश में रक्खे और किसी जीव को जरा भी पीड़ा न पहुंचावे। ऐसी वृत्ति से जो विचरता है वही साधु है।

टिप्पणी—जितने माथे उतनी सूझें होती हैं। सबकी रायें जुदी २ होती हैं। इसी कारण भिन्न २ धर्मों तथा पंथों का प्रचार हुआ है। परन्तु वास्तविक धर्म (सत्य) के कोई विभाग नहीं हो सकते। वह तो सर्वकाल में और सब जगह समान ही होता है।

(१६) जो शिल्पविद्या (कारीगरी) द्वारा अपना जीवन निर्वाह

न करता हो, जितेन्द्रिय (इन्द्रियों को जीतने वाला), आन्तरिक तथा बाह्य बंधनों से मुक्त, अल्प कषायवाला, थोड़ा तथा परिमित भोजन करने वाला तथा घर को छोड़कर जो रागद्वेष रहित हो विचरता है वही साधु है।

टिप्पणी—वेश परिवर्तन साधुता नहीं है किन्तु साधु का बाह्य चिन्ह है। साधुता; अक्रोध, अवैर, अनासक्ति और अनुपमता में है सब कोई ऐसी साधुता को धारण कर स्वयम् कल्याण की साधना करें।

ऐसा मैं कहता हूँ।

इस प्रकार 'स भिक्खू' नामक पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।
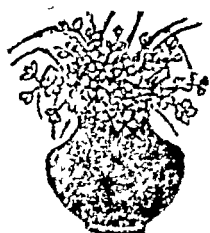
ब्रह्मचर्य समाधि के स्थान
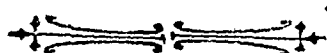
१६

ब्रह्म (परमात्मा) के स्वरूप में चर्या करना अथवा आत्म स्वरूप की पूर्ण रूप से प्राप्ति करना यह सभी का ध्येय है। अर्थात ब्रह्मचर्य की आवश्यकता यह जीवन की आवश्यकता के समान अनिवार्य है। अब्रह्मचर्य यह जड़ संसर्ग से उत्पन्न होने वाला विकार है। यह विकार जीवात्मा पर मोहनीय कर्म (मोह उत्पन्न करने वाली बासना) का जितना अधिक असर होगा उतनी ही अधिक मात्रा में, भयंकर सिद्ध होता है। संसार में यह जीवात्मा जितने अनर्थों आपत्तियों, तथा दुःखों का अनुभव करता है वह अपनी ही की हुई भूलों का परिणाम है। भूलों से बचने के लिये या आत्म-शान्ति प्राप्त करने के लिये जो पुरुषार्थ करता है उसे 'साधक' कहते हैं। ऐसे साधक को अब्रह्मचर्य से निवृत्त होकर ब्रह्म-चर्य में स्थिर होने के लिये उसे जितनी आन्तरिक सावधानी रखनी पड़ती है उतनी ही नहीं,—उससे भी बहुत अधिक साव-धानी उसे बाह्य निमित्तों से रखनी पड़ती है। ऊंची से ऊंची कोटि के साधु को भी, निमित्त मिलने पर, बीजरूप में रही

हुई अपनी सांसारिक वासनाओं के जागृत हो जाने का सदैव डर लगा रहता है। इसलिये जागरूक साधक को आत्मोन्नति के लिये तथा विशुद्ध ब्रह्मचर्य की आराधना के लिये, भगवान महावीर द्वारा कथित अनुभवों में से जो २ उसको उपयोगी हों उनको ग्रहण कर अपने अनुभव में लाना चाहिये—यह मुमुक्षुमात्र का सर्वोत्तम कर्तव्य है।

सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी से यों कहा:—"हे आयुष्मन्! मैंने सुना है कि भगवान महावीर ने ऐसा कहा था जिनशासन में स्थविर भगवानों (पूर्वतीर्थंकरों) ने ब्रह्मचर्य समाधि के १० स्थान बताये हैं जिनको सुनकर तथा हृदय से धारण करके भिक्षु; संयमपुष्ट, संवरपुष्ट, समाधिपुष्ट, जितेन्द्रिय होकर गुप्त (ब्रह्मचारी) बन कर अप्रमत्त आत्मलक्षी बनकर विचरता है।"

(शिष्य ने पूछा:—) "भगवन्! ब्रह्मचर्य समाधि के कौन से स्थान स्थविर भगवान ने कहे हैं जिनको सुनकर तथा ग्रहण करके भिक्षु; संयमपुष्ट, संवरपुष्ट, समाधिपुष्ट जितेन्द्रिय होकर गुप्त ब्रह्मचारी बनकर अप्रमत्त आत्मलक्षी बनकर विचरता है?"

(गुरु ने कहा:—) सचमुच स्थविर भगवानों ने इस प्रकार दस ब्रह्मचर्य समाधि के स्थान फरमाये हैं कि जिनको सुनकर तथा ग्रहण करके भिक्षु; संयमपुष्ट, संवरपुष्ट, समाधिपुष्ट, और जितेन्द्रिय होकर गुप्त ब्रह्मचारी बन कर अप्रमत्त आत्मलक्षी बन कर विचरता है। वे १० समाधि स्थान इस प्रकार हैं:—

(१) स्त्री, पशु तथा नपुंसक रहित उपाश्रय तथा स्थान का जो सेवन करता है वही निर्ग्रंथ (आदर्श मुनि) कहा जाता है। जो (साधु) स्त्री, पशु तथा नपुंसक सहित उपाश्रय शय्या अथवा स्थान का सेवन करता है उसे निर्ग्रंथ नहीं कहते।

शिष्यः—'क्यों, भगवन् ?'

आचार्यः—स्त्री, पशु या नपुंसक सहित आसन शय्या, या स्थान का सेवन करने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य पालन करने में शंका (ब्रह्मचर्य पालूं कि न पालूं) उत्पन्न हो सकती है अथवा दूसरों को शंका हो सकती है कि स्त्री सहित स्थान में रहता है तो यह ब्रह्मचारी है या नहीं ? (२) आकांक्षा (इच्छा) निमित्त पाकर मैथुनेच्छा जागृत होने की संभावना है। (३) विचिकित्सा (ब्रह्मचर्य के फल में संशय)—उक्त प्राणियों के साथ रहने से 'ब्रह्मचर्य पालने से क्या लाभ ?' ऐसी भावना होने की संभावना है। कभी २ ऐसे दुर्विचार होने से और एकान्त स्थान मिलने से पतन होने का विशेष भय रहता है और मैथुनेच्छा से उन्मत्त होने का डर है। ऐसे विचारों या दुष्कार्य से परिणाम में दीर्घकाल तक टिकने वाला शारीरिक रोग हो जाने का डर है और इस तरह क्रमशः पतित होने से ज्ञानी द्वारा बताये हुए सद्धर्म से च्युत होजाने का डर है। इस प्रकार विषयेच्छा अनर्थों की खान है और उसके निमित्त स्त्री, पशु अथवा नपुंसक हैं। इसलिये ये जहां रहते हों ऐसे स्थानों में निर्ग्रंथ साधु न रहे।

(२) जो स्त्री कथा (शृंगाररसोत्पादक वार्तालाप) नहीं करता उसे साधु कहते हैं।"

शिष्यः—'क्यों, भगवन् ?'

आचार्यः—"स्त्रियों की शृंगारवर्द्धक कथाएं कहने से

उपर्युक्त सभी हानियां होने का डर है। इसलिये ब्रह्मचारी पुरुप को स्त्री संबंधी कथा न कहनी चाहिये।"

टिप्पणी – शृंगार रस की कथायें कहने से पतन का डर है। अतः उन्हें तो त्याग ही देना चाहिये। साथ ही साथ साधु को कभी भी अकेली स्त्री से एकान्त में वार्तालाप करने का प्रसंग न आने देना चाहिये।

(३) जो स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठता वह आदर्श साधु है।

शिष्य:—'क्यों, भगवन्' ?

आचार्य:—"स्त्रियों के साथ एक आसन पर पास पास बैठने से एक दूसरे के प्रति मोहित होने का तथा ऐसे स्थान में दोनों के ब्रह्मचर्य में उपर्युक्त दूपण लगने का डर है। इसलिये ब्रह्मचारी पुरुप को स्त्री के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिये।

टिप्पणी—जैनशास्त्र तो जिस स्थान पर अन्तमुहूर्त (४८ मिनिट) पहिले कोई स्त्री बैठी हो उस स्थान पर भी ब्रह्मचारी को बैठने का निषेध करते हैं। जिस प्रकार ब्रह्मचारिणी को स्त्रियों से सावधानी रखनी चाहिये वैसे ही ब्रह्मचारी को पुरुषों से भी सावधानी रखनी चाहिये। खासकरके ऐसे प्रसंग एकान्त के कारण आते हैं। फिर भी यदि कोई आकस्मिक ऐसा प्रसंग आ पड़े तो वहां विवेक पूर्वक आचरण करना उचित है।

(४) स्त्रियों की सुन्दर, मनोहर तथा आकर्पक इन्द्रियों को विषय बुद्धि से न देखे (कैसी सुन्दर हैं, कैसी भोग योग्य हैं? ऐसा विचार न करे) और न उनका चिंतवन ही करे। जो स्त्रियों का चिंतवन नहीं करता वही साधु है।

शिष्य:—'क्यों, भगवन् ?'

आचार्य:—"सचमुच ही स्त्रियों की मनोहर एवं आकर्षक इन्द्रियों को देखने वाले या चिंतवन करने वाले ब्रह्मचारी (साधु) के ब्रह्मचर्य में शंका, आकांक्षा, अथवा विचिकित्सा उत्पन्न होने की संभावना रहती है जिससे ब्रह्मचर्य के खंडित होजाने, उन्माद होजाने और अन्त में दीर्घकालिक रोग पैदा होजाने का डर है। इसके सिवाय केवली भगवान् द्वारा कथित धर्म से पतन होजाने की संभावना है। इसलिये सच्चे ब्रह्मचारी साधक को स्त्रियों के मनोहर तथा आकर्षक अंगोपांगों को विषय-बुद्धि से न देखना चाहिये और न उनका चिंतवन ही करना चाहिये।"

(५) कपड़े के पर्दे अथवा दीवाल के पीछे से आते हुए स्त्रियों के कूजन (कोयलों का सा मीठा स्वर), (शब्द), रुदन, गायन, हँसने का शब्द, स्नेही शब्द, क्रंदित शब्द तथा पति विरह से उत्पन्न विलाप के शब्दों को जो नहीं सुनता है वही आदर्श ब्रह्मचारी या साधु है।

शिष्य:—"क्यों, भगवन् ?"

आचार्य:—"पर्दे अथवा दीवाल के पीछे से आते हुए स्त्रियों के कूजन; रुदन, गायन, हास्य शब्द, स्तनित (रति प्रसंग के सीत्कार आदि) आनंद अथवा विलाप मय शब्दों के सुनने से ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में क्षति पहुँचती है अथवा उन्माद होने की संभावना है। जिससे क्रमशः शरीर में रोग उत्पन्न होकर भगवान द्वारा कथित

मार्ग से पतन होने का डर है। इसलिये सच्चे ब्रह्मचारी को पर्दे के या भींत के भीतर से आते हुए उक्त प्रकार के शब्दों को नहीं सुनना चाहिये।

टिप्पणी—ब्रह्मचारी जहां ठहरा हो वहां दीवाल के पीछे से आते हुए स्त्री पुरुषों की रतिक्रीड़ा के शब्द भी विषयजनक होने के कारण उसको नहीं सुनने चाहिये और न उनका चिन्तवन ही करना चाहिये।

(६) पहिले गृहस्थाश्रम में स्त्री के साथ जो जो भोग भोगे थे अथवा रतिक्रीड़ाएं की थीं उनका जो पुनः स्मरण नहीं करता है वही आदर्श ब्रह्मचारी (साधु) है।

शिष्यः—"क्यों, भगवन् ?"

आचार्यः—"यदि ब्रह्मचारी पहिले के भोगों अथवा रतिक्रीड़ाओं को याद करे तो उसको ब्रह्मचर्यपालन में शंका, आकांक्षा तथा विचिकित्सा होने की संभावना है जिससे उसके ब्रह्मचर्य के भंग होजाने, उन्माद होजाने तथा शरीर में विषयचिंतन से रोगादिक होजाने और भगवान् कथित पुण्यपथ से पतित होजाने का डर है। इसलिये निर्ग्रंथ साधु को पूर्व विषयभोग या रतिक्रीड़ाओं को याद नहीं करना चाहिये।

(७) जो अतिरस (स्वादिष्ट) अथवा इन्द्रियों को विशेष पुष्ट करने वाले भोजन नहीं करता वही साधु है।

शिष्यः—"क्यों, भगवन् ?"

आचार्यः—"स्वादिष्ट भोजन करने से अथवा विशेष पुष्टिकर भोजन करने से उपर्युक्त सभी दोष आने की

संभावना है। इसलिये ब्रह्मचारी (साधु) को स्वादिष्ट अथवा पुष्टिकर भोजन न खाने चाहिये।"

टिप्पणी—स्वादिष्ट भोजन में चरपरा (तीखा), नमकीन, मीठा आदि रसनेन्द्रिय की लोलुपता की दृष्टि से किये हुए बहुत से भोजनों का समावेश होता है। रसनेन्द्रिय की असंयतता ब्रह्मचर्य खंडन का सब से प्रथम तथा प्रबल कारण है और उसके संयम से ही ब्रह्मचर्य का रक्षण होता है।

(८) जो मर्यादा के उपरान्त अति आहार पानी (भोजन पान) नहीं करता वही साधु है।

शिष्यः—"क्यों, भगवन् ?"

आचार्यः—"अति भोजन करने से उपर्युक्त सभी दूषण लगने का डर है जिससे ब्रह्मचर्य के खंडन तथा संयमधर्म से पतन होजाना संभव है। इसलिये ब्रह्मचारी को अति भोजन पान न करना चाहिये।

टिप्पणी—अति भोजन करने से अंग में आलस्य आता है, दुष्ट भावनाएं जागृत होती हैं और इस तरह क्रमशः उत्तरोत्तर ब्रह्मचर्य मार्ग में विघ्नबाधाएं आती जाती हैं।

(९) जो शरीर विभूषा (शृंगार के निमित्त शरीर की टापटीप) करता हो वह साधु नहीं है।

शिष्यः—'क्यों, भगवन्' ?

आचार्यः—"सचमुच ही सौन्दर्य में भूला हुआ और शरीर की टापटीप करने वाला ब्रह्मचारी स्त्रियों को आकर्षक होता है और इससे उसके ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा होने की संभावना रहती है। जिसके परि-

णाम स्वरूप ब्रह्मचर्य खंडित होजाने का डर है। इसलिये ब्रह्मचर्य को विभूषानुरागी न होना चाहिये"।

टिप्पणी—सौन्दर्य की आसक्ति अथवा शरीर की टापटीप करने से विषय-वासना जागृत होने की संभावना है। सादगी और संयम ये ही ब्रह्मचर्य के पोषक हैं।

(१०) स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों में जो आसक्त नहीं होता है वही साधु (ब्रह्मचारी) है।

शिष्य:—'क्यों, भगवन् ?'

आचार्य:—"स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द आदि विषयों में आसक्त ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में उपर्युक्त क्षतियां (शंका, कांक्षा, विचिकित्सा) होने की संभावना है जिससे क्रम से संयमधर्म से पतन, आदि सभी दूषण लग सकते हैं। इसलिये स्पर्शादि पंचेन्द्रियों के विषयों में जो आसक्त नहीं होता है वही साधु (ब्रह्मचारी) है।

इस तरह ब्रह्मचर्य के १० समाधि स्थान पूर्ण हुए। अब तत्संबंधी श्लोक कहते हैं जो निम्न प्रकार हैं:—

भगवान बोले:—

(१) (आदर्श) ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये स्त्री, पशु तथा नपुंसक रहित ऐसे आत्म चिंतन के योग्य एकान्त स्थान का ही सेवन करना चाहिये।

(२) ब्रह्मचर्य में अनुरक्त हुए भिक्षुको; मन को क्षुब्ध करनेवाली तथा विषयों की आसक्ति बढानेवाली स्त्री कथा (कहना) छोड़ देनी चाहिये।

(३) पुनः पुनः स्त्रियों की शृंगारवर्द्धक कथा कहने (अथवा बारंबार स्त्रियों के साथ कथावार्ता के प्रसंग लाने) से अथवा स्त्रियों के साथ अति परिचय करने से ब्रह्मचर्य खंडित होता है। इसलिये ब्रह्मचर्य के प्रेमी साधु को उक्त प्रकार के संगों का त्याग कर देना चाहिये।

(४) ब्रह्मचर्य के अनुरागी साधु को स्त्रियों के मनोहर अंग उपांगों को इरादा-पूर्वक बारंबार नहीं देखना चाहिये और उन्हें स्त्रियों के कटाक्ष अथवा उनके मधुर वचनों पर आसक्त न होना चाहिये।

(५) स्त्रियों के कोयल जैसे मधुर शब्द, रुदन, गीत, हास्य, प्रेमी के विरहजन्य क्रंदन (विलाप) अथवा रतिसमय के सीत्कार या शृंगारिक बातचीत को उसे ध्यानपूर्वक न सुनना चाहिये। यह सब कर्णेन्द्रिय के विषयों की आसक्ति है। ब्रह्मचर्य के प्रेमी साधक को उन्हें त्याग देना चाहिये।

(६) गृहस्थाश्रम (असंयमी जीवन) में स्त्री के साथ जो २ हास्य, क्रीड़ा, रतिक्रीड़ा, विषय सेवन, शृङ्गार रसोत्पत्ति, मानदशा, बलात्कार, अभिसार, इच्छा विरुद्ध काम सेवन आदि पूर्व में जो २ विषय के सुखसेवन किये थे उनका भी ब्रह्मचारी को पुनः २ स्मरण नहीं करना चाहिये।

टिप्पणीः—पूर्व में भोगे हुए विषयों को स्मरण करने से विषयवासना तथा कुसंकल्प पैदा होते हैं जो ब्रह्मचर्य के लिये महा हानिकर हैं।

(७) ब्रह्मचर्यानुरक्त भिक्षु को विषयवर्द्धक पुष्टिकारक भोजनों का त्याग कर देना चाहिये।

(८) भिक्षु; संयमी जीवन निभाने के लिये ही भिक्षुधर्म की

रक्षा करते हुए प्राप्त भिक्षा को भी भिक्षा ही के समय परिमाणपूर्वक ग्रहण करे। ब्रह्मचर्य के उपासक एवं तपस्वी भिक्षुओं को भी अधिक भोजन न करना चाहिये।

टिप्पणी—भिक्षुओं का भोजन संयमी जीवन निभाने के लिये ही होना चाहिये। अति भोजन आलस्यादि दोषों को बढ़ाकर ब्रह्मचर्य (संयमी) जीवन से पतित कर देता है।

(९) ब्रह्मचर्यानुरक्त भिक्षु को शरीररचना (शरीरशृङ्गार) छोड़ देना चाहिये। शृङ्गार की वृद्धि के लिये वह वस्त्रादि कोई भी वस्तु धारण न करे।

टिप्पणी—नख या केश संवारना अथवा शरीर की अनावश्यक टीपटाप करना, उसके लिये सतत लक्ष्य रखना, आदि सभी बातें ब्रह्मचर्य की दृष्टि से अनावश्यक हैं, इतना ही नहीं परन्तु वे शरीर की आसक्ति को अत्यधिक बढा देती हैं जिससे संयमी को अपने साधुत्व से गिर जाने की संभावना रहती है।

(१०) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्द इन पंचेंद्रियों के विषयों की लोलुपता का त्याग कर देना चाहिये।

टिप्पणी—आसक्ति, यही दुःख है, यही बंधन है। यह बंधन जिन २ वस्तुओं से पैदा हो उन सबका त्याग कर देना चाहिये। पांच इन्द्रियों को अपने वश में रखकर उनसे योग्य कार्य लेना चाहिये यही साधक के लिये आवश्यक है। शरीर से सत्कर्म करना, जीभ से मीठे शब्द और सत्य बोलना, कान से सत्पुरुषों के वचनामृतों का पान करना, आंखों से सद्ग्रंथों का वाचन करना, मन से आत्म-चिंतन करना-यही इन्द्रियों का संयम है।

(११) सारांश यह है कि (१) स्त्रीजनों से युक्त स्थान, (२)

मन को लुभाने वाली स्त्रीकथा, (३) स्त्रियों का परिचय, (४) स्त्रियों के सुन्दर अंगोपांग देखना—

(१२) (५) स्त्रियों के कोयल के से मीठे शब्द, गीत, रुदन, हास्य, आदि शब्द, (६) स्त्री के साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण, (७) स्वादिष्ट भोजन खाना, (८) मर्यादा के बाहर भोजन करना—

(१३) (९) कृत्रिम सौंदर्य बढ़ाने के लिये शरीर की टापटीप करना और (१०) पंचेन्द्रियों के दुर्जय विषय भोग ये १० बातें आत्मशोधक जिज्ञासु के लिये तालपुटक (भयंकर विष) के समान हैं।

टिप्पणी—उपरोक्त तीन श्लोकों में पूर्वकथित वस्तुएं विशेष स्पष्टता से गिनाई हैं।

(१४) तपस्वी भिक्षु; दुर्लभ काम भोगों को जीत कर जिन २ बातों से ब्रह्मचर्य में क्षति पहुंचने की संभावना हो ऐसे सब शंका के स्थानों को भी हमेशा के लिये त्याग देवे।

(१५) धैर्यवान् तथा सद्धर्मरूप रथ के चलाने में सारथी के समान ऐसा भिक्षुक धर्म रूपी उद्यान में ही विचरे और उसीमें अनुरक्त होकर इन्द्रिय दमन कर ब्रह्मचर्य में ही समाधि लगावे।

(१६) देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस तथा किन्नर जाति के देव भी उस पुरुष को नमस्कार करते हैं जो अत्यन्त दुष्कर, दुर्धर ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। (ब्रह्मचारी की देव भी सेवा करते हैं)

(१७) यह ब्रह्मचर्य रूपी धर्म निरंतर स्थिर (शाश्वत) तथा

नित्य है। इस धर्म को धारण कर अनेक जीवात्माएं मोक्ष को प्राप्त हुई हैं, प्राप्त हो रही हैं और प्राप्त होंगी ऐसा तीर्थंकर ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।

टिप्पणीः—आदर्श ब्रह्मचर्य यद्यपि सब किसी को सुलभ नहीं है किन्तु वह आकाश कुसुमवत् अशक्य भी नहीं है। ब्रह्मचर्य मुमुक्षु के लिये तो जीवनधन है। सत्यशोधक के लिये वह मार्ग दीपक है और आत्म-विकास की प्रथम सीढ़ी है। इसलिये मन, वचन और काय से यथा शक्य (शक्ति के अनुसार) ब्रह्मचर्य का आराधन करना, ब्रह्मचर्य की प्रीति को बढ़ाते रहना, तथा ब्रह्मचर्य रक्षण के लिये उपर्युक्त दस नियमों पर चलना यही उचित है।

ऐसा मैं कहता हूँ:—

इस तरह "ब्रह्मचर्य समाधि (रक्षण) के स्थान" नामक सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।

पाप श्रमणीय

पापी साधु का अध्ययन

१७

संयम लेने के बाद उसको निभाने में ही साधुता है। यदि त्यागी जीवन में भी आसक्ति अथवा अहंकार जागृत हों तो त्याग की इमारत डगमगाये विना न रहे। ऐसे श्रमण, त्यागी नहीं हैं किन्तु उनकी गणना पापी श्रमणों में की जाती है।

भगवान बोले—

(१) त्याग धर्म को सुनकर तथा कर्तव्य परायण होकर जो कोई दीक्षित हो वह दुर्लभ बोधिलाभ करके फिर सुख पूर्वक चारित्र का पालन करे।

टिप्पणी—बोधिलाभ अर्थात् आत्मभान की प्राप्ति। आत्मभान की प्राप्ति के बाद ही चारित्र मार्ग में विशेष दृढ़ता आती है। चारित्रमार्ग में दृढ़ होना ही दीक्षा का उद्देश्य है। खाना, पीना, मजा करना आदि बातें त्याग का उद्देश्य नहीं है।

(२) संयम लेने के बाद कोई कोई साधु ऐसा मानते हैं कि

उपाश्रय सुन्दर मिला है पहिरने के लिये वस्त्र मिले हैं, खाने के लिये मालपानी भी उत्तम ही मिल जाया करते हैं तथा जीवादिक पदार्थों को तो मैं जानता ही हूँ तो फिर अब (अपने गुरु के प्रति) हे आयुष्मन्! हे पूज्य ! कहने की तथा शास्त्र पढ़ने की क्या जरूरत है ?

टिप्पणी:—ऐसी विचारणा केवल प्रमाद की सूचक है। संयमी को हमेशा मनन पूर्वक शास्त्राध्ययन करते रहना चाहिये।

(३) जो संयमी बहुत सोने की आदत डालते हैं अथवा आहार पानी कर (खा पीकर) बाद में जो बहुत देर सोते रहते हैं वे पापी श्रमण हैं।

टिप्पणी—संयमी के लिये दिनचर्या तथा रात्रिचर्या के भिन्न २ कार्य निर्दिष्ट हैं तदनुसार क्रमपूर्वक सभी कार्य करने चाहिए।

(४) विनय मार्ग (संयम मार्ग) तथा ज्ञान की जिन आचार्य तथा उपाध्याय द्वारा प्राप्ति हुई है उन गुरुओं को जो ज्ञान प्राप्ति के बाद निन्दा करता है अथवा उनका तिरस्कार करता है, वह पापी श्रमण कहलाता है।

(५) जो अहंकारी होकर आचार्य, उपाध्याय तथा अन्य संगी साधुओं की सद्भाव पूर्वक सेवा नहीं करता है, उपकार को भूल जाता है अथवा पूज्यजनों की पूजा सन्मान नहीं करता वह पापी श्रमण कहलाता है।

(६) जो त्रस जीवों को, वनस्पति अथवा सूक्ष्म जीवों को दुःख देता है; उनकी हिंसा करता है वह असंयमी है फिर भी वह अपने को संयमी माने तो वह पापी श्रमण कहलाता है।

(७) तृणादि की शय्या, पाट, या बाजोठ, स्वाध्याय की पीठिका, बैठने की चौकी, पग पोंछने का वस्त्र, कंबल आदि सभी वस्तुओं को संभाल पूर्वक देखभाल कर काम में लावे। जो कोई इन्हें देखे भाले बिना काम में लाता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

टिप्पणी:—जैन शास्त्रों में संयमी को दिन में दो बार अपने साधनों की देखभाल करने की आज्ञा दी गई है क्योंकि वैसा न करने से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होने की संभावना रहती है। इसके सिवाय भी अनेक अनर्थों के होने की भी सम्भावना है।

(८) जो अपने संयम मार्ग को न शोभे ऐसे कृत्य करे; बारंबार क्रोध किया करे अथवा प्रमादपूर्वक जल्दी २ गमन करे वह पापी श्रमण कहलाता है।

(९) जो देखे बिना जहाँ तहाँ अव्यवस्थित रीति से अपने पात्र, कंबल, आदि साधनों को छोड़ दे अथवा उन्हें देखे भी तो असावधानी से देखे, वह पापी श्रमण कहलाता है।

टिप्पणी:—अव्यवस्था तथा असावधानता ये दोनों संयम में बाधक हैं।

(१०) जो अपने गुरु का वचन से या मन से अपमान करता है तथा अनुपयोगी बातें सुनते २ असावधानी से प्रतिलेखन (निरीक्षण) करता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

(११) जो बहुत कपट किया करता है, असत्य भाषण करता है, अहंकार करता है, लोभी या अजितेन्द्रिय है, अविश्वासु तथा असंविभागी (अपने साथी मुनियों से छिपाकर

अधिक वस्तुओं को भोगता) है वह पापी श्रमण कहलाता है।

(१२) जो अधर्मी (दुराचारी), अपनी कुबुद्धि से दूसरे की बुद्धि का अपमान करता है, विवाद खड़ा करता है, हमेशा कलह-क्लेश में लगा रहता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

(१३) जो अस्थिर तथा कचकचाहट करते हुए आसन पर जहां तहां बैठता फिरता है, आसन पर बैठने में असावधानी करता है अथवा किसी भी कार्य में बराबर उपयोग (मन, वचन, काया का सुचारु रूप से लगाना) नहीं लगाता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

(१४) जो धूल से भरे पैरों को झाड़े बिना ही शय्या पर लेटता है अथवा उपाश्रय या शय्या को विवेक पूर्वक नहीं देखता तथा शय्या में सोते २ असावधानीपूर्ण आचरण करता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

टिप्पणी—आदर्श संयमी के लिये तो छोटीसी भी भूल पाप समान है।

(१५) जो दूध, दही अथवा ऐसे ही दूसरे तर पदार्थ बारंबार खाया करता है किन्तु तपश्चर्या की तरफ प्रीति नहीं लगाता वह भी पापी श्रमण कहलाता है।

(१६) सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक बारंबार वेला-कुवेला (समय कुसमय) आहार ही किया करता है और यदि गुरु या पूज्य शिक्षा दें तो उसको न मानकर उसकी अवगणना करता है वह भी पापी श्रमण कहलाता है।

(१७) जो सद्गुरु को त्यागकर दुराचारियों का संग करता है,

६-६ महीने में एक संप्रदाय छोड़ कर दूसरे संप्रदाय में मिलता फिरता है तथा निंद्यचरित्र होता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

टिप्पणी—सम्प्रदाय अर्थात् गुरुकुल। साधक जिस गुरुकुल में रहकर अपनी साधना करता हो उसे किसी खास कारण के बिना छोड़ कर दूसरे संघमें मिलने वाला स्वच्छंदी साधु अन्तमें पतित हो जाता है।

(१८) अपना घर (गृहस्थाश्रम) छोड़कर संयमी हुआ है फिर भी रसलोलुपी अथवा भोगी बनकर पर (गृहस्थों के) घरों में फिरा करता है तथा ज्योतिष आदि विद्याओं द्वारा अपना जीवन चलाता है (ऐसा करना साधुत्व के विरुद्ध है) ऐसा साधु पापी श्रमण कहलाता है।

(१९) भिक्षु होने के बाद तो उसे 'वसुधैव कुटुंबकम्' होना चाहिये, फिर भी सामुदानिक (१२ कुल की) भिक्षा को ग्रहण न कर केवल अपनी जाति वाले घरों से ही भिक्षा ग्रहण करता है तथा कारण सिवाय गृहस्थ के यहां बारंबार बैठता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

टिप्पणी:—जिस कुल में अभक्ष्य (मांसादि) आहार होते हों तथा नीच आचार विचार हों उसे ही वर्ज्य मानकर अन्यस्थलों से भिक्षा ग्रहण करना—ऐसी जैन शास्त्रकारों ने जैनी साधुओं को छूट दी है। गृहस्थ के यहां वृद्ध, रोगी या तपस्वी साधु ही कारण वशात् बैठ सकता है इसके सिवाय अन्य कारण से नहीं, क्योंकि गृहस्थ के साथ अति परिचय करने से पतन तथा एक ही जाति का पिंड लेने से बन्धन (आसक्ति) हो जाने की सम्भावना है।

(२०) उपर्युक्त (पतित, रसलोलुपी, स्वच्छंदी, आसक्त और

कुशील) पांच प्रकार के कुशील के लक्षणों सहित (दुराचारी) तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच गुणों से रहित कुशील, केवल त्यागी का वेशधारी ऐसा पापीश्रमण; इस लोक में विष की तरह निंदनीय बनता है और इस लोक तथा परलोक दोनों में कभी सुखी नहीं होता।

(२१) ऊपर के सब दोषों से जो सदा काल बचता है तथा मुनिसंघ में सच्चा सदाचारी होता है वही इस लोक में अमृत की तरह पूज्य बनता है। तथा ऐसा ही साधु इस लोक तथा परलोक दोनों को सिद्ध करता है।

टिप्पणीः—संयम लेने के बाद पदस्थ सम्बन्धी जवाबदारी बढ जाती है। चलने फिरने में, खाने पीने में, उपयोगी साधन रखने में, विद्या प्राप्ति में, गुरुकुल के विनयनियम पालन में, अथवा अपना कर्तव्य समझने में, यदि थोड़ी सी भी भूल होती है तो उतने ही अंश में संयम दूषित होता है। अप्रमत्तता तथा विवेक को प्रतिक्षण सामने रखकर क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, मोह, असूया, ईर्ष्या आदि आत्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करते करते आगे २ बढ़ता जाय उसी को धर्मश्रमण कहते हैं। जो प्राप्त साधनों का दुरुपयोग करता है अथवा प्रमादी बनता है, वह पापीश्रमण कहलाता है, इसलिये श्रमण साधक को खूब सावधान रहना चाहिये और समाधि की ही साधना करनी चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'पापी श्रमण' नामक १७ वां अध्याय समाप्त हुआ।

संयतीय

संयति राजर्षि संबंधी

१८

चारित्रशील का मौन जो प्रभाव डालता है वैसा प्रभाव हजारों व्याख्यानदाता अथवा लाखों चौपड़े (ग्रंथ) नहीं डाल सकते। ज्ञान का एकतम उद्देश्य चारित्र का स्फुरण (उत्पत्ति) है। चारित्र की एक ही चिनगारी सैंकड़ों जन्मों के कर्मावरण (कर्मों के परदों) को जला कर भस्म कर देती है। चारित्र की सुवास करोड़ों पापों की दुर्गंध को नष्ट कर देती है।

एक समय कंपिला नगरी के महाराजा शिकार के लिये कांपिल्यकेसर वन में प्रविष्ट होते हैं इस कारण इस वन के समस्त निर्दोष मृगादिक पशु भयभीत हो बेचैन हो जाते हैं। मृगया रस में डूबे हुए महाराजा के हृदय में दया के बदले निर्दयता ने अड्डा जमाया है।

घोड़े पर सवार होकर, अनेक हिरनों को बाण मारने के बाद ज्यों हीं वह एक घायल मृग के पास आता है त्यों ही उस मृग के पास पद्मासन लगा कर बैठे हुए एक योगिराज को वह

देखता है और देखते ही आश्चर्य चकित हो स्तंभित हो जाता है। तत्क्षण घोड़े पर से उतर कर मुनीश्वर के पास आकर विनयपूर्वक उनके चरण पूजन करता है और बारम्बार नमस्कार करता है।

ध्यान में अडोल बैठे हुए गर्दभाली योगीश्वर को इन बातों से कुछ संबन्ध नहीं है। वे तो अपनी मौन समाधि में मग्न बैठे हैं परन्तु महाराजा योगिराज की तरफ से कोई प्रत्युत्तर न पाकर वह और भी अधिक भयभीत हो जाता है। निर्दोष पशुओं की की हुई हिंसा उसको अब बारम्बार खटकती है। हाय, मैंने क्यों इन निर्दोषों का हनन किया ? इनने मेरा क्या बिगाड़ा था ? मैं कितना निष्ठुर हूं ? निर्दयता का अड्डा बने हुए उसी मन में अब अनुकम्पा का समुद्र हिलोरें मारने लगा।

योगीश्वर की समाधि टूटती है। वे अपनी आंखें खोलते हैं ! उस सौम्य मूर्ति का दर्शन कर राजा अपना नाम ठाम देकर योगिराज के कृपा प्रसाद की याचना करता है। योगिराज उस भानभूले राजा को उपदेश देकर यथार्थ भान कराते हैं। और वहीं उसी समय उस संस्कारी आत्मा का उद्धार होता है जिसका शांतरसपूर्ण वर्णन इस अध्ययन में किया है।

भगवान बोले—

(१) (पांचाल देश के) कंपिला नगरी में चतुरंगिनी सेना तथा गाड़ी, घोड़ा, पालकी आदि ऋद्धियों (विभूतियों) से सहित संयति नामक महाराजा राज्य करता था। एक बार शिकार खेलने के लिये वह अपने नगर के बाहिर निकला।

(२) अश्वदल, हाथीदल, रथदल और पायदल इन चार प्रकार की बड़ी सेनाओं से वेष्ठित (घिरा हुआ)—

(३) रस (पशु मांस के स्वाद) में आसक्त वह महाराजा घोड़े पर सवार होकर कांपिल्यकेसर नामक उद्यान में मृगों को भगा भगा कर भयत्रस्त कर रहा था तथा जो मृग दौड़ते २ थक जाते थे उन्हें बाण द्वारा बींध डालता था।

(४) उसी कांपिल्य केसर उद्यान में तपोधनी (तपस्वी) तथा स्वाध्याय (चिंतन) और ध्यान में लगे हुए एक अणगार (साधु) धर्मध्यान में लीन होकर बैठे थे।

(५) वृक्षों से व्याप्त ऐसे नागरवेल के मंडप के नीचे वे मुनि आस्रव (कर्मागमन) को दूरकर निर्मल चित्त से ध्यान कर रहे थे। उनके पास आये हुए एक मृग को भी राजा ने बाणविद्ध कर दिया।

टिप्पणी:—राजा को यह खबर नहीं थी कि यहां कोई मुनिराज बैठे हैं। नहीं तो शिष्टता की दृष्टि से वह ऐसे महायोगी के पास ऐसी घोर हिंसा का काम न करता।

(६) हांफते हुए घोड़े पर जल्दी जल्दी दौड़कर आया हुआ वह राजा वहां पर पड़े हुए उस मृग हिरण को देखता है और उसको देखते ही पास में ध्यानस्थ बैठे उन त्यागी महात्मा को भी देखता है।

(७) (यह देखते ही कि मेरे बाण से शायद मुनिराज मारे गये ! यदि मुनिराज न मारे गये हों तो (क्योंकि) यह मृग उनके पास आया था तो संभव है यह मृग योगिराज

का ही होगा और हाय ! वह मुझसे मारा गया ! अब मेरा क्या होगा ? अथवा ऐसे दयासागर योगी के पास ऐसी घोर हिंसा का काम मैंने कर डाला इससे उन्हें दुःख होगा इत्यादि प्रकार के विचार उस राजा के मन में उठते हैं) इससे भयभीत तथा शंकाग्रस्त वह राजा मन में अपने आप को धिक्कारता हुआ कि "मुझ मंदभागी, रसासक्त, और हिंसक ने सचमुच ही मुनिराज को दुःख दिया" उस मुनिराज के पास आया।

(८) घोड़े पर से उतर कर तथा उस को दूर बांध कर वह उनके पास आया और बड़ी भक्तिपूर्वक उसने मुनिराज के चरणों की वंदना की और अतिविनयपूर्वक कहने लगा कि 'भगवन्, मेरे अपराध को क्षमा करो'।

(९) परन्तु उस समय वे योगिराज ध्यानपूर्वक धर्मध्यान में लीन थे इससे उनने उसे कुछ भी उत्तर न दिया। राजा उत्तर न पाने से और भी भयभीत हो व्याकुल हो गया।

टिप्पणीः—गुन्हेगार (दोषी) का हृदय स्वयमेव जलता रहता है। उसके हृदय में भय तो पहिले ही से था, किन्तु योगीश्वर के मौन से वह और भी बढ गया।

(१०) (राजा अपना परिचय देते हुए बोलाः—)हे भगवन् ! मैं संयति (नामक राजा) हूँ। आप मुझ से कुछ भी बोलो क्योंकि मुझे बहुत डर लग रहा है कि आप योगिराज कहीं क्रुद्ध होकर अपनी तेजोलेश्या से करोड़ों मनुष्यों को भस्म न कर डालें !

टिप्पणीः—तपस्वी तथा योगीपुरुषोंको अनेक प्रकार की ऋद्धि सिद्धियां

प्राप्त होती हैं परन्तु आदर्श साधु; उनका कभी दुरुपयोग नहीं करते किन्तु फिर भी महाराजा को डर लगना स्वाभाविक था, क्योंकि उनका हृदय स्वयं दोप स्वीकार कर रहा था।

समाधि टूटने पर साधुने अपनी आंखें खोलीं। सामने अपनी हाथ बांधे हुए भयभीत राजा को खड़ा देख कर वे बोले।

(११) हे राजन्! तुम अभय होवो! और अब से तू भी (अपने से क्षुद्र) जीवों के प्रति अभय (दान का) दाता हो जा। अनित्य इस जीवलोक (संसार) में हिंसा के कार्य में क्यों आसक्त होता है?

टिप्पणी—जैसे तू मेरे भय से मुक्त हुआ वैसे ही तू भी आज से तेरे भय से सब जीवों को मुक्त कर दे। अभयदान के समान कोई दूसरा दान नहीं है। क्षणिक इस मनुष्य जीवन में ऐसी घोर हिंसा के काम क्यों करते हो?

(१२) यदि राजपाट, महल मकान, बागबगीचा, कुटुम्ब कबीला और शरीर को छोड़ कर तुझे आगे पीछे कभी न कभी कर्मवशात् जाना ही पड़ेगा तो अनित्य इस संसार में राज्य पर भी आसक्त क्यों होता है?

(१३) जिसपर तू मोहित हो रहा है वह जीवन तथा रूप ये तो विजली के कौंदा (चमकारा) के समान एक क्षण स्थायी हैं। इसलिये हे राजन्! इस लोक की चिंता छोड़ कर परलोक की कुछ चिंता कर। भविष्य परिणाम को तू क्यों नहीं सोचता?

(१४) स्त्री, पुत्र, मित्र अथवा बन्धुबांधव केवल जिन्दगी में ही साथ देते हैं; मरने पर कोई साथ नहीं देता।

टिप्पणी—ये रिश्तेदारियां (सगे सम्बन्धी), ज़िन्दगी तक ही रहते हैं और यह मनुष्य जीवन केवल क्षणिक तथा परतन्त्र है तो उस क्षणिक सम्बन्ध के लिये जीवन हार जाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है।

(१५) जैसे पितृ-वियोग से अति दुःखी पुत्र; मृत पिता को घर के बाहर निकाल देते हैं वैसे ही मृत पुत्रों के शरीर को पिता बाहर निकालता है। सब सगे सम्बन्धी ऐसा ही करते हैं। इसलिये हे राजन्! तपश्चर्या तथा त्याग (अनासक्ति) के मार्ग में गमन करो।

टिप्पणी—जीव निकल जाने पर यह सुन्दर देह भी सड़ने लगती है इसलिये प्रेमीजन भी उसको जल्दी बाहर निकाल कर चिता में जला देते हैं।

(१६) हे राजन्! घरधणी (मालिक) के मरने पर उसके इकट्ठे किये हुए धन तथा पाली पोसी गई स्त्रियों को कोई दूसरे ही भोगने लगते हैं तथा घरवाले लोग हर्ष तथा संतोष के साथ उस मरे हुए के आभूषणों को पहिर कर आनंद करते हैं।

टिप्पणी—मृत सम्बन्धी का दुःख थोड़े ही दिन तक सालता है क्योंकि संसार का स्वभाव ही यह है कि स्वार्थ होने पर बहुत दिनों में और स्वार्थ न होने पर थोड़े समय में ही उस दुःख को भूल जाते हैं।

(१७) सगे संबंधी, धन, परिवार ये सब यहीं के यहीं रह जाते हैं। केवल जीव के किये हुए शुभाशुभ कर्म ही साथ जाते हैं। उन शुभाशुभ कर्मों से वेष्टित जीवात्मा अकेला ही परभव में जाता है।

टिप्पणी—संसार का ऐसा स्वरूप बताने से उस संस्कारी राजा का हृदय वैराग्यमय हो गया।

(१८) इस प्रकार योगीश्वर द्वारा सत्यधर्म सुनकर वह राजा (पूर्व संस्कारों की प्रबलता से) उसी समय संवेग (मोक्ष की तीव्र अभिलाषा) तथा निर्वेद (कामभोग से विरक्ति) को प्राप्त हुआ।

(१९) अब संयति राजा राज्य छोड़कर गर्दभाली मुनि के पास जैनदीक्षा धारण कर संयति मुनि बन गये।

टिप्पणी—सच्चे वैराग्य के जागृत होने पर एक क्षण भी रहना मुश्किल है। ऐसे संस्कारी जीव अपूर्व आत्मबलशाली होते हैं।

गर्दभाली मुनीश्वर के शिष्य संयतिमुनि साधु जीवन में दृढ़ तथा गीतार्थ (ज्ञानी) बनकर गुरु आज्ञा लेकर एक बार ग्रामानुग्राम विचरते हुए एक स्थान पर आते हैं। वहां उन्हें एक दूसरे राजर्षि के दर्शन होते हैं। ये क्षत्रिय राजर्षि देवलोक से चयकर मनुष्य योनि में आये हैं। वे भी पूर्व के प्रबल संस्कारी होने से उन्हें थोड़ा सा ही निमित्त मिलने पर जातिस्मरण ज्ञान होता है। और इस कारण त्यागी होकर देशदेश विचर कर जिनशासन को शोभित कर रहे हैं।

(२०) राज्य को छोड़कर दीक्षित हुए वे क्षत्रिय मुनि; योगीश्वर संयति से यों प्रश्न करते हैं:—"हे मुनीश्वर ! आपका ओजस्वी शरीर जैसा बाहर से दिखाई देता है वैसा ही आपका हृदय भी ओजस्वी तथा प्रसन्न है।

(२१) आपका नाम क्या है ? पूर्वाश्रम में आपका क्या गोत्र था ? आप किस कारण से श्रमण हुए ? आप किस आचार्य

के शिष्य हैं? आप किन कारणों से विनीत कहलाते हो?

(२२) (संयति मुनि उत्तर देते हैं:—) "मेरा नाम संयति है, गौतम मेरा गोत्र है! ज्ञान तथा चारित्र से विभूषित ऐसे आचार्य गर्दभाली हमारे गुरुदेव हैं।"

टिप्पणी—मुक्ति सिद्धि के लिये योग्य ऐसे गुरुवर की मैं सेवा करता हूं। अब "विनीत किसे कहते हैं?" इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

(२३) अहो क्षत्रियराज महामुनि! (१) क्रियावादी (समझे बिना केवल क्रिया करने वाले); (२) अक्रियावादी (तोता के ज्ञान के समान ज्ञानवाले किंतु क्रिया शून्य); (३) केवल विनय द्वारा ही मुक्ति प्राप्ति में मानने वाले; तथा (४) अज्ञानवादी—इन ४ प्रकार के वादों के पक्षपाती पुरुष भिन्न २ प्रकार के मात्र विवाद ही किया करते हैं किन्तु सच्चे तत्व की प्राप्ति के लिये जरासा भी प्रयत्न नहीं करते। इस विषय में तत्त्वज्ञ पुरुषों ने भी यही कहा है।

टिप्पणी—ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि ऐसे मत को मानने वाला एकांतवादी साधक विनीत नहीं कहा जा सकता। इन वाक्यों से मैं एकांतवादों को नहीं मानता हूँ ऐसा संयति मुनिने स्पष्ट कर दिया।

(२४) तत्व के ज्ञाता, सच्चे पुरुषार्थी तथा क्षायिक ज्ञान (शुद्ध ज्ञान) तथा क्षायिक चारित्रधारी ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने भी इसी प्रकार प्रकट किया (कहा) है।

(२५) इस लोक में जो असत्य प्ररूपणा (धर्मतत्त्व को उलटा समझाते हैं) कहते हैं वे घोर नरक में जाते हैं और जो आर्य (सत्य) धर्म का प्ररूपण करते हैं वे दिव्यगति को प्राप्त होते हैं।

(२६) सत्य सिवाय दूसरे मान कपट युक्त मत प्रवर्त रहे हैं वे निरर्थक तथा खोटे वाद हैं—ऐसा जान कर मैं संयम में दत्तचित्त हो ईर्या समिति में तल्लीन रहता हूँ।

टिप्पणी—सर्व श्रेष्ठ जैन शासन को जानकर उस मार्ग में मैं गमन करता हूँ। इर्या समिति यह जैन श्रमणों की एक क्रिया है। विवेक तथा उपयोगपूर्वक गमन करना—इसको इर्या समिति कहते हैं।

(२७) (क्षत्रिय राजर्षि ने कहा:—) इन सब अशुद्ध तथा असत्य दृष्टि वाले अनार्य मतों को मैंने भी जान लिया तथा परलोक के विषय में भी जान लिया है इससे अब मैं सत्यरूप से आत्मस्वरूप को पहिचान कर मैं भी जैन शासन में विचरता हूँ।

टिप्पणी—क्षत्रिय राजर्षि ने सब वादों को जान लिया था और उनमें अपूर्वता मालूम पड़ने से ही उनने पीछे से जैन जैसे विशाल शासन की दीक्षा ली थी।

यह सुनकर संयति मुनिने कहा:—

(२८) मैं पहिले महाप्राण नाम के विमान में पूर्ण आयुष्यधारी कान्तिमान देव था। वहाँ की सौ वर्ष की उपमावाली उत्कृष्ट आयु है जो बहुत लम्बे काल प्रमाण की होती है।

टिप्पणी—पाँचवे देवलोक में मैं देवरूप में था तब मेरी आयु दस सागर की थी। सर्व संख्यातीत महान काल प्रमाण को सागरोपम कहते हैं।

(२९) मैं उस पंचम स्वर्ग (ब्रह्म) से चय कर मनुष्य योनि में संयति राजा के रूप में अवतीर्ण हुआ हूँ। (निमित्त-

वशात् दीक्षित होकर) अब मैं अपनी तथा दूसरे की आयु को बराबर जान सकता हूँ ।

टिप्पणी—संयति राजर्षि को वैसा विशुद्ध ज्ञान था कि जिसके द्वारा वे अपनी तथा दूसरे की आयु जान सकते थे ।

(३०) हे क्षत्रिय राजर्षि ! संयमी को भिन्न २ प्रकार की रुचियों स्वच्छन्दों का त्याग कर देना चाहिये और सभी काम-भोग केवल अनर्थ के मूल हैं ऐसा जानकर ज्ञानमार्ग में गमन करना चाहिये ।

(३१) ऐसा जानकर दूषित (निमितादि शास्त्रों द्वारा कहे जाते) प्रश्नों से मैं निवृत्त हुआ हूँ । तथा गृहस्थों के साथ गुप्त रहस्यभरी बातें करने से भी विरक्त हुआ हूँ । अहा ! संसार के सच्चे त्यागी संयमी को दिनरात ज्ञानपूर्वक तपश्चर्या में ही संलग्न रहना चाहिये ।

टिप्पणी—इस तरह संयति राजर्षि ने बड़ी मधुरता से साधु का आचरण वर्णन कर स्वयं तदनुसार पालन करते हैं इसकी प्रतीति देकर विनीत (जैन शास्त्रानुसार श्रमण की व्याख्या) कह सुनाई ।

यह सुनकर क्षत्रिय राजर्षि ने इस विषय में अपनी पूर्ण सम्मति प्रकट करते हुए हम दोनों एक ही जिनशासन के अनुयायी हैं ऐसी प्रतीति देकर कहाः—

(३२) यदि मुझ से सच्चे तथा शुद्ध अंतःकरण से पूछो तो मैं तो यही कहूँगा कि जो तत्व तीर्थंकर देवों ने कहा है वही अपूर्वज्ञान जिनशासन में प्रकाशित हो रहा है ।

(३३) उन ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि अक्रिया (जड़क्रिया) को छोड़कर धीर साधक सत्यज्ञान सहित क्रिया को आचरे। तथा समदृष्टि से युक्त होकर कायर पुरुषों को कठिन लगने वाले (ऐसे) सद्धर्म में गमन करे।

टिप्पणी—सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि बिलकुल सीधी होती है। वह किसी के दोष नहीं देखता। मात्र सत्य का शोधक बनकर उसीका आचरण करता है। जैन दर्शन जिस तरह जड़क्रिया (ज्ञानरहित क्रिया) को नहीं मानता उसी तरह शुष्कज्ञान (क्रिया रहित तोते के ज्ञान) को भी मुक्तिदाता नहीं मानता है। इसमें ज्ञान तथा चारित्र दोनों ही की आवश्यकता स्वीकारी गई है।

(३४) मोक्ष रूपी अर्थ तथा सद्धर्म से शोभित ऐसे पवित्र उपदेश को सुनकर पूर्वकाल में भरत नामक चक्रवर्ती ने भी भरतक्षेत्र का राज्य तथा दिव्य भोगोपभोगों को छोड़कर चारित्रधर्म को अंगीकार किया था।

(३५) पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण दिशा में समुद्र पर्यन्त तथा उत्तर दिशा में चूलहिमवंत पर्वत तक जिसकी राज्य-सीमा थी ऐसे सगर नामक दूसरे चक्रवर्ती समुद्र तक फैले हुए भरतक्षेत्र के विशाल राज्य तथा सम्पूर्ण अधिकार छोड़कर संयम अंगीकार कर मोक्षगामी हुए हैं।

(३६) अपूर्व ऋद्धिमान् तथा महाकीर्तिवान ऐसे मघव नामक तीसरे चक्रवर्ती भी भरतक्षेत्र का राज्य छोड़कर दीक्षा लेकर अंतिम गति को प्राप्त हुए।

(३७) महा ऋद्धिमान सनत्कुमार नामक चौथे चक्रवर्ती ने भी

अपने पुत्र को राज्य देकर संयम ग्रहण किया था तथा कर्मों का नाश किया था।

(३८) समस्त लोक में अपार शान्ति को प्रसराने वाले महान ऋद्धिमान शान्तिनाथ चक्रवर्ती भी भरतक्षेत्र का राज्य छोड़कर प्रव्रज्या धारणकर मोक्षगामी हुए।

(३९) इक्ष्वाकु वंश के राजाओं में वृषभ के समान उत्तम तथा विख्यात कीर्तिवाले नरेश्वर चक्रवर्ती कुंथुनाथ भी राज्य पाट तथा संपत्ति का त्याग कर अनुत्तर गति (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

(४०) समुद्र तक फैले हुए भरतक्षेत्र के अधीश्वर अरनाथ नाम के सातवें चक्रवर्ती भी समस्त वस्तुओं का त्याग कर कर्म रहित होकर श्रेष्ठ गति (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

(४१) महान् चतुरंगिनी सेना, अपूर्व वैभव तथा भारतवर्ष का विशाल राज्य छोड़कर महापद्म चक्रवर्ती ने दीक्षा अंगीकार कर तपश्चरण द्वारा उत्तम गति प्राप्त की।

(४२) पृथ्वी पर के समस्त राजाओं के मानमर्दन करने वाले तथा मनुष्यों में इन्द्र के समान दसवें चक्रवर्ती हरिषेण ने महिमंडल में एकछत्र राज्य स्थापित किया और अन्त में उसे छोड़कर संयम धारण कर उत्तम गति (मोक्ष) को प्राप्त की।

(४३) हजारों राजाओं से वेष्टित ११वें जय नामक चक्रवर्ती ने भी सच्चा त्याग धारण कर आत्मदमन किया और वे अंतिम गति (मोक्ष) के अधिकारी हुए।

टिप्पणी—चक्रवर्ती अर्थात् छह खंड का अधिपति राजा। ऐसे महाभाग्यशाली पुरुषों ने भी अपार समृद्धि तथा मनोरम कामभोगों को छोड़कर त्यागधर्म अंगीकार किया था। भरतखंड के १२ चक्रवर्तियों में से उपरोक्त १० मोक्षगामी हुए। तथा ८ वां चक्रवर्ती सुभूम तथा १२ वां चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ये दोनों भोग भोगकर नरक गति में गये।

जैन शासन में कौन २ राजा दीक्षित हुए हैं उनकी नामावलि

(४४) प्रत्यक्ष शक्रेन्द्र की प्रेरणा होने से, प्रसन्न तथा पर्याप्त दशार्णभद्र ने दशार्ण राज्य को छोड़कर त्याग मार्ग स्वीकारा।

(४५) साक्षात् शक्रेन्द्र की प्रेरणा होने पर भी नमिराजा तो भोगों से अपनी आत्मा को वश में रखकर वैदेही नगरी तथा घर-बार को छोड़कर चारित्र धर्म में सावधान हुए।

(४६) कलिंग देश के करकंडु राजा, पांचाल देश के द्विमुखराजा, विदेह देश के (मिथिला नगरी के) नमिराजेश्वर तथा गांधार देश के निर्गत नाम के राजेश्वर परिग्रह त्याग कर संयमी बने।

टिप्पणी—ये चारों प्रत्येक बुद्ध ज्ञानी पुरुष हो गये हैं। प्रत्येक बुद्ध उसे कहते हैं जो किसी एक एक पदार्थ को देखकर बोध को प्राप्त हुए हैं।

(४७) राजाओं में अग्रणी के समान ये सब राजा अपने २ पुत्रों को राज्य देकर जिनशासन में अनुरक्त हुए थे और उनने चारित्र मार्ग की आराधना की थी।

(४८) सिंधु सोवीर देश के अग्रगी समान उद्दायन नामक महाराज ने राज्य छोड़कर संयम धारण किया और अन्त में मोक्षगति प्राप्त की।

(४९) काशी देश के (सप्तम नन्दन नामक बलदेव) राजा ने भी राज्य तथा काम भोगों को छोड़कर संयम ग्रहण किया और अन्त में कल्याण तथा सत्यमार्ग में पुरुषार्थ करके कर्मरूपी महावन को काट डाला।

टिप्पणी—वासुदेव की विभूति तथा बल चक्रवर्ती की ऋद्धि से आधी होती है। वासुदेव के बड़े भाई को बलदेव कहते हैं। बलदेव धर्म प्रेमी ही होते हैं और वे कभी भोगों में रक्त नहीं होते और नियम से मोक्षगामी होते हैं।

(५०) अपयश का नाश करने वाले तथा महाकीर्ति वाले ऐसे विजय नामक राजा ने भी गुण समृद्ध राज्य को छोड़कर दीक्षा धारण की।

टिप्पणी—विजय ये दूसरे नंबर के बलदेव हैं।

(५१) उसी प्रकार प्रसन्नचित्तापूर्वक उग्र तपश्चर्या धारण कर महाबल नामक राजर्षि भी माथा देकर केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी प्राप्त कर मुक्तिगामी हुए थे।

टिप्पणी—उपरोक्त राजाओं के सिवाय दूसरे सात बलदेव राजा तथा दूसरे अनेक राजा भी जैनशासन में संयमी हुए हैं। यहाँ तो केवल थोड़े से ही प्रसिद्ध दृष्टांत गिनाए हैं।

(५२) धीरपुरुष निष्प्रयोजन वाली वस्तुओं के साथ उन्मत्त की तरह स्वच्छंदी होकर कैसे विचरे? ऐसा विचार करके

ही उपरोक्त भरतादिक शूरवीरों तथा प्रबल पुरुषार्थी पुरुषों ने ज्ञान तथा क्रिया से युक्त जैनमार्ग को धारण किया था।

(५३) संसार का मूल शोधने में समर्थ यह सत्यवाणी मैंने आप से कही है, उसे सुनकर आचरण में लाने से बहुत से महापुरुष (इस संसार सागर को) तैर कर पार गये हैं; वर्तमान काल में (तुम्हारे जैसे ऋषिराज) तर रहे हैं और भविष्य में अनेक भवसागर पार जायेंगे।

टिप्पणी—इस तरह इन दोनों आत्मार्थी अणगारों का सत्संग संवाद समाप्त होता है और दोनों अपने २ स्थानों को विहार कर जाते हैं।

(५४) धीरपुरुष संसार की निरर्थक वस्तुओं के लिये अपनी आत्मा को क्यों हने? अर्थात् नहीं हने ऐसा जो कोई विवेक करता है वह सर्व संग (आसक्तियों) से मुक्त होकर त्यागी होता है और अन्त में निष्कर्मा होकर सिद्ध होता है।

टिप्पणी—चक्रवर्ती जैसे महाराजाओं में मनुष्य लोक की संपूर्ण शक्ति जितनी शक्ति तथा ऋद्धि होती है। भला उनके भोगों में क्या कमी हो सकती है? फिर भी उनको पूर्ण तृप्ति तो नहीं हुई। सच्ची बात तो यह है कि तृप्ति भोगों में है ही नहीं, वह केवल वैराग्य में है। तृप्ति निरासक्ति में है, तृप्ति निर्मोह दशा में है, इसीलिये ऐसे समर्थ तथा समृद्धिवान राजाओं ने बाह्य संपत्ति को छोड़कर आन्तरिक संपत्ति की प्राप्ति के लिये संयम मार्ग में गमन किया था।

सुख का केवल एक ही मार्ग है; शान्ति से भेंटने की केवल एक ही श्रेणी है तथा सन्तोष का यह एक ही सोपान है। अनेक जीवात्माएँ भूलकर भटक कर, इधर उधर रखड़ कर अन्त में यहीं

आई हैं, यहाँ ही उनने विश्राम लिया है और यहाँ ही उन्हें इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हुई है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने कहा था वह मैंने अब तुमसे कहा है—ऐसा श्री सुधर्म स्वामी ने जंबू स्वामी से कहा।

'ऐसा मैं कहता हूँ'—

इस तरह संयति मुनि संबंधी अठारहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

मृगापुत्रीय

मृगापुत्र संबंधी

१६

कुकर्म के परिणाम कटु होते हैं। दुरात्मा की दुष्ट वासना का अनुसरण करने में बड़ा भय है। केवल एक छोटी सी भूल से इस लोक तथा परलोक दोनों में अनेक संकट भोगने पड़ते हैं। दुर्गति के दुःख इतने दारुण होते हैं जिनको सुन कर भी रोंमे खड़े हो जाते हैं तो फिर उनको भोगने की तो बात ही क्या?

मृगापुत्र पूर्व के संस्कारों के कारण योगमार्ग पर जाने के लिये तत्पर होता है। माता पिता अपने पुत्र को योगमार्ग में आने वाले दारुण संकटों तथा कष्टों का परिचय देते हैं। पुत्र उत्तर देता है :—माता पिता जी! स्वेच्छा से सहन किये हुए कष्ट कहां? और परतंत्र रूप से भोगने पड़ते दारुण दुःख कहां? इन दोनों में समानता हो ही नहीं सकती।

अन्त में मृगापुत्र की संयम ग्रहण करने की उत्कट अभिलाषा माता पिता को पिघला देती है। संसार का त्याग कर तथा तपश्चर्या का मार्ग ग्रहण कर योगीश्वर मृगापुत्र इसी जन्म में

परम पुरुषार्थ द्वारा कर्मरूपी कांचली को भेदते हैं तथा अन्तिम ध्येय को प्राप्त कर शुद्ध बुद्ध और सिद्ध बन जाते हैं।

भगवान बोले—

(१) बड़े २ वृक्षों से गाढ बने हुए काननों, क्रीड़ा करने योग्य उद्यानों से सुशोभित तथा समृद्धि के कारण रमणीय ऐसे सुग्रीव नामक नगर में बलभद्र नामक राजा राज्य करता था और उसकी पटरानी का नाम मृगावती था।

(२) माता पिता का अत्यंत प्यारा तथा राज्य का एकमात्र युवराज बलश्री नाम का उनके एक राजकुमार था जो दमितेन्द्रियों में अग्रणी था। उसको प्रजा मृगापुत्र कह कर पुकारती थी।

(३) वह दोगुन्दक (त्रायस्त्रिंशक जाति के) देव की तरह मनोहर रमणियों के साथ हमेशा नन्दन नामक महल में आनन्द पूर्वक क्रीड़ा किया करता था।

टिप्पणी—देवलोक में त्रायस्त्रिंशक नामक भोगी देव होते हैं।

(४) जिनके फर्श मणि तथा रत्नों से जड़े हुए हैं ऐसे महल में बैठा हुआ वह खिड़की में से नगर के तीन रास्तों के संगम स्थानों, चौरस्तों तथा बड़े बड़े चौगानों को सरसरी तौर से देख रहा था।

(५) इतने में उस मृगापुत्र ने तपश्चर्या, संयम तथा नियमों को धारण करने वाले अपूर्व ब्रह्मचारी तथा गुणों की खान के समान एक संयमी को वहां से जाते हुए देखा।

(६) मृगापुत्र एक टक से उस योगीश्वर को देखता रहा। देखते देखते उसको विचार आया कि कहीं न कहीं ऐसा स्वरूप (वेश) मैंने पहिले कभी देखा है।

(७) साधुजी के दर्शन होने के बाद इस प्रकार चिंतवन करते हुए (उसका) शुभ अध्यवसाय (मनोभाव) जागृत हुआ और क्रम से मोहनीय भाव उपशांत ऐसे मृगापुत्र को तत्क्षण जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी—जैन दर्शन में प्रत्येक जीवात्मा आठ कर्मों से वेष्ठित माना गया है और उन्हीं कर्मों का यह फल है कि इस आत्मा को जन्म मरण के दुःख भोगने पड़ रहे हैं। इन आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे अधिक क्रूर तथा बलवान है। इस की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडा कोडी सागरोपम है। इतनी स्थिति अन्य किसी भी कर्म की नहीं है। इस कर्म का जितने अंशों में क्षय अथवा उपशम होता जाता है उतनी उतनी आत्माभिमुख प्रवृत्तियां बढ़ती जाती हैं। मृगापुत्र के मोहनीय कर्म के उपशम होने से उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हुआ। जातिस्मरण होने में मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होना अनिवार्य नहीं है। इस ज्ञान के होने से संज्ञी (मन सहित) पंचेंद्रिय जीव अपने पिछले ९०० भवों का स्मरण कर सकता है। जातिस्मरण ज्ञान मतिज्ञान का ही एक भेद है।

(८) संज्ञी (मन सहित) पंचेन्द्रिय का ही होने वाले (जाति स्मरण) ज्ञान के उत्पन्न होने से उसने अपने पूर्व भवों का स्मरण किया तो उसे मालूम हुआ कि वह देवयोनि में से चयकर मनुष्य भव में आया है।

❀ महान ऋद्धिवान मृगापुत्र पूर्व जन्मों का स्मरण करता है। उनको स्मरण करते करते उन भवों में धारण किये साधुत्व का भी उसे स्मरण होता है।

(९) साधुत्व की याद आने के बाद (इन्हें) चारित्र के प्रति अत्यधिक प्रीति और विषयों से उतनी ही विरक्ति पैदा हुई। इसलिये मातापिता के पास आकर वे इस प्रकार वचन बोले।

(१०) हे मातापिता ! पूर्व काल में मैंने पंच महाव्रत रूपी संयम धर्म का पालन किया था उसका मुझे स्मरण होरहा है और इस कारण नरक, पशु आदि अनेक गति के दुःखों से परिपूर्ण इस संसार समुद्र से निवृत होना चाहता हूँ। इसलिये आप मुझे आज्ञा दो। मैं पवित्र प्रव्रज्या (गृहत्याग) अंगीकार करूंगा।

टिप्पणी—"पूर्वकाल में पंचमहाव्रत धारण" करने की बात कही है इससे सिद्ध होता है कि प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समय में मृगापुत्र संयमी हुऐ होंगे।

(११) हे मातापिता ! अन्त में विष (किंपाक) फल की तरह निरन्तर कडुए फल देने वाले तथा एकान्त दुःख की परम्परा से वेष्ठित ऐसे भोगों को मैंने (पूर्व काल तथा इस जन्म में) खूब खूब भोग लिया है।

(१२) यह शरीर अशुचि (शुक्र वीर्यादि) से उत्पन्न होने से केवल अपवित्र तथा अनित्य है (रोग, जरा, इत्यादि के) दुःख तथा क्लेशों का भाजन है तथा क्षणभंगुर है।

❀ यह गाथा किसी किसी प्रति में अधिक पाई जाती है।

(१३) पानी के बुद्बुद् के समान अस्थिर इस शरीर में मोह कैसा ! वह अभी अथवा पीछे (बाल, तरुण, वृद्धावस्था में कभी न कभी) अवश्य जाने वाला है तो मैं उस में क्यों लुभाऊं ?

(१४) (यह शरीर) पीडा तथा कुष्टादि रोगों का घर है, बुढापा तथा मृत्यु से घिरा हुआ है। ऐसे असार तथा क्षणभंगुर मनुष्य के शरीर में अब मुझे क्षणमात्र के लिये भी रति (आनन्द) प्राप्त नहीं होता।

(१५) अहो ! सचमुच यह सारा ही संसार अत्यन्त दुःखमय है। इसमें रहने वाले बिचारे प्राणी जन्म, जरा, रोग तथा मरण के दुखों से पिसे जा रहे हैं।

(१६) (हे मातापिता) ! ये सब क्षेत्र, घर, सुवर्ण, पुत्र, स्त्री, बन्धु बांधव तथा इस शरीर को भी छोड़ कर आगे पीछे कभी न कभी, पराधीन रूप में सब को अवश्य जाना ही पड़ेगा।

टिप्पणी—जीवात्मा यदि इन कामभोगों को नहीं छोड़ेगा तो ये कामभोग ही कभी न कभी इसे छोड़ देंगे। जब छोड़ना निश्चित है तो क्यों न मैं उन्हें स्वेच्छापूर्वक छोड़ दूँ ? स्वेच्छा से छोड़े हुए कामभोग दुःखद नहीं, किन्तु सुखद होते हैं।

(१७) जैसे किंपाक फल का परिणाम अच्छा नहीं होता वैसे ही भोगे हुए भोगों का फल सुन्दर नहीं होता।

टिप्पणी—किंपाक वृक्ष का फल देखने में मनोहर तथा खाने में अतिमधुर होता है परन्तु खाने के बाद थोड़ी ही देर में उससे मृत्यु हो जाती है।

(१८) (और हे माता पिता!) जो मुसाफिर अटवी (वीयां-बान जंगल) जैसे लम्बे मार्ग पर कलेवे के बिना मुसाफिरी करने को चल पड़ता है और आगे जा कर भूख प्यास से अत्यन्त पीडित होता है।

(१९) उसी तरह जो आत्मा धर्म धारण किये बिना पर भव में जाता है वह वहां जाकर अनेक प्रकार के रोगों तथा उपाधियों से पीडित होता है।

टिप्पणी—यह संसार एक प्रकार की अटवी है। जीव मुसाफिर है। तथा धर्म कलेवा है। जो साथ में धर्म रूपी कलेवा हो तो ही पर जन्म में शान्ति मिल सकती है और समस्त संसार रूपी अटवी को सकुशल पार कर सकता है।

(२०) जो मुसाफिर अटवी जैसे लम्बे मार्ग पर कलेवा साथ ले कर गमन करता है वह रास्ते में क्षुधा तथा तृषा से रहित सुख से गमन करता है।

(२१) उसी तरह जो आत्मा धर्म का पालन करके परलोक में जाता है वह वहां अल्पकर्मी होने से सदैव नीरोग रह कर सुख लाभ करता है।

(२२) और हे मातापिता! यदि घर में आग लग जाय तो घर का मालिक असार वस्तु को छोड़ कर सब से पहिले बहुमूल्य वस्तुएं ही निकालता है।

(२३) उसी तरह यह समस्त लोक जन्म, जरा, मरण से जल रहा है। यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं उसमें से (तुच्छ काम भोगों को छोड़ कर) केवल अपनी आत्मा को ही उबार लूं।

(२४) (तरुण पुत्र की उत्कट इच्छा देख कर) माता पिता ने कहा—हे पुत्र! साधुपन अत्यन्त कठिन है। साधु पुरुष को हजारों गुण धारण करने पड़ते हैं।

टिप्पणी—सच्चे साधु को समस्त दोषों को दूर कर हजारों गुणों का विकास करना पड़ता है।

(२५) जीवन पर्यन्त जगत के समस्त जीवों पर समभाव रखना पड़ता है। शत्रु तथा मित्र दोनों को एक दृष्टि से देखना पड़ता है और चलते, फिरते, खाते, पीते आदि प्रत्येक क्रिया में होने वाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा का त्याग करना पड़ता है। सचमुच ऐसी परिस्थिति प्राप्त करना सर्व सामान्य के लिये दुर्लभ है।

(२६) साधु जीवन पर्यन्त भूल में भी असत्य नहीं बोलता। सतत अप्रमत्त (सावधान) रहकर हितकारी किन्तु सत्य वचन ही बोलना यह बात बहुत बहुत कठिन है।

(२७) साधु दांत कुरेदने की सींक तक भी स्वेच्छा पूर्वक दिये बिना ग्रहण नहीं कर सकता। इस तरह की निर्दोष भिक्षा प्राप्त करना अति कठिन है।

टिप्पणी—दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में ४२ दोषों का वर्णन है। उन दोषों से रहित भोजन को ही ग्रहण करने की साधु को आज्ञा है।

(२८) कामभोगों के रस के जानकार के लिये अब्रह्मचर्य (मैथुन) से बिलकुल विरक्त होना अत्यन्त कठिन बात है। ऐसा घोर अखंड ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना अति अति कठिन है।

टिप्पणी—जिसने स्त्रीभोग विषयक रस को जानलिया है उसकी अपेक्षा आजन्म ब्रह्मचारी के लिये ब्रह्मचर्य पालन करना अधिक सरल है क्योंकि आजन्म ब्रह्मचारी को तो उस रसकी खबर न होने से संकल्प विकल्प या स्मरण होने का कारण ही नहीं है किन्तु जो उस रस को जानता है वह तो स्मरण, संकल्प विकल्प, तथा उसके बाद मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक ब्रह्मचर्य की बड़ी मुश्किल से रक्षा कर सकता है।

(२९) धन धान्य या दास दासी आदि किसी भी प्रकार का परिग्रह न रखना तथा हिंसादि सभी क्रियाओं का त्याग करना बड़ा ही कठिन है। त्याग करके भी आसक्ति का न रखना यह और भी कठिन है।

(३०) साधु अन्न, पानी, मेवा, या मुखवास इन चारों में से किसी भी प्रकार का आहार रात्रि को ग्रहण नहीं कर सकता तथा किसी भी वस्तु का दूसरे दिवस के लिये संग्रह नहीं कर सकता। यह छठा व्रत है और यह भी अति कठिन है।

टिप्पणी—जैन साधु को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का मन, वचन, काय से विशुद्ध रीति से आजीवन पालन करना पड़ता है। तथा रात्रि भोजन का भी सर्वथा त्याग करना पड़ता है।

साधु जीवन में आने वाले आकस्मिक संकट—

(३१) क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक (ध्यानावस्था में डांस मच्छरों द्वारा कष्ट पहुँचना), कठोर वचन, दुःखद स्थल, तृणस्पर्श, मल।

(३२) मारपीट, तर्जन, वध तथा बंधन आदि के कष्ट सहना भी आसान नहीं है। सदा भिक्षाचर्या करना, मांगने पर भी दिया हुआ ही ग्रहण करना, मांगने पर भी न मिलना आदि के दुःख सहना बड़ा कठिन है।

(३३) यह कापोती वृत्ति (कबूतर की तरह कांटे छोड़कर परिमित अन्नकरण का चुगना) संयमी जीवन, दारुण केश-लोंच तथा दुर्धर ब्रह्मचर्य पालन आदि का पालन शक्तिशालियों के लिये भी बड़ा ही कठिन है।

टिप्पणी—जैन मुनियों को आजन्म हाथ से अपने केश उखाड़ने की तपश्चर्या करनी पड़ती है। इसको केस लोंच कहते हैं।

(३४) मातापिता ने कहाः—हे पुत्र ! तू सुकोमल है; भोगविलासों में अति आसक्त रहा है तथा भोगविलासों ही के योग्य तेरा शरीर है। हे पुत्र ! तू सचमुच साधुत्व धारण करने को समर्थ नहीं है।

(३५) हे पुत्र ! लोहे के भारी बोझ के समान आजीवन अविश्रांत रूप से संयमी के उचित गुणों का भार वहन करना तेरे लिये दुष्कर है।

(३६) हे पुत्र ! गगनचुम्बी धवल शिखर वाले चूलहिमवंत पर्वत से निकलती हुई गंगा की धार रोकना अथवा दो हाथों से सागर को तर जाना जैसे अति कठिन है वैसे ही संयमी गुणों को पूर्णरूप से धारण करना तेरे लिये अति कठिन है।

(३७) रेत का कौर (ग्रास) जितना नीरस है उतना ही नीरस (विषय-सुख से रहित) संयम है। तलवार की धार पर

चलना जितना कठिन है उतना ही तपश्चर्या के मार्ग पर चलना कठिन है।

(३८) हे पुत्र ! जैसे सांप की तरह एकान्त सीधी (आत्म) दृष्टि से चारित्र मार्ग में चलना दुष्कर है; जैसे लोहे के चने चवाना कठिन है वैसा ही कठिन संयम पालन करना है।

(३९) जैसे प्रज्वलित अग्नि की शिखा को पीजाना कठिन है वैसे ही तरुण वय में संयम पालना कठिन है।

(४०) जैसे हवा से थैली भरना कठिन अथवा असाध्य है वैसे ही कायर द्वारा संयम का पालन होना कठिन है।

(४१) जैसे कांटे से एक लाख योजन वाले मेरु पर्वत को भेदना अशक्य है वैसे ही निर्वल मनोवृत्ति के पुरुषों द्वारा शंका रहित तथा निश्चल संयम का पालना कठिन है।

(४२) जैसे दो हाथों से विस्तीर्ण समुद्र को पार कर जाना कठिन है वैसे ही अनुपशांत (अशक्त) जीवों द्वारा दम (इंद्रिय निग्रह) रूपी सागर का पार कर जाना कठिन है।

(४३) इसलिये हे पुत्र ! अभी तो तू स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द इन पांचों इन्द्रियों के विषयों को मनमाना भोग और भुक्तभोगी होकर बाद में कभी चारित्रधर्म को खुशी से ग्रहण करना।

(४४) इस प्रकार मातापिता के वचन सुनकर मृगापुत्र ने कहा:—हे माता पिता ! आपने जो कहा सो सब सत्य है परन्तु निःस्पृही (इच्छा रहित) के लिये इस लोक में कुछ भी अशक्य नहीं है।

(४५) इस संसारचक्र में दुःख तथा भय उत्पन्न करने वाली शारीरिक तथा मानसिक वेदनाएं अनंत बार सहन कर चुका हूँ।

(४६) जरा तथा मरण से घिरे हुए तथा चार गति रूप भय से भरे हुए इस संसार में मैंने जन्म-मरण की महा भयंकर वेदनाएं बहुत बार सहन की हैं।

नरक भूमि के घोर दुःख—

(४७) यहां की अग्नि जितनी गरम होती है उससे अनन्त गुनी अधिक गरम नरक योनि की अग्नि होती है। नरक योनियों में ऐसी उष्ण वेदनाएं मैंने कर्मवशात् बहुत बार सहन की हैं।

(४८) यहां की ठंडी की अपेक्षा नरक योनि में अनंत गुनी अधिक ठंडी पड़ती है। मैंने (कर्मवशात्) अनेक बार नरक योनि में वैसी ठंडी की वेदनाएं सहन की हैं।

(४९) कंदु नाम की कुंभी (लोहे की कुप्पी) में विलाप करता करता पैर ऊपर तथा सिर नीचे (औंधा) किया जाकर अनेक बार मैं (देवकृत) अग्नि में पकाया गया हूँ।

टिप्पणी—नरक योनि में कन्दु आदि नाम के भिन्न २ कुंभी स्थान होते हैं जहाँ नारकी जीव उत्पन्न होते हैं। उन नारकी जीवों को परमाधार्मिक नामक वहां के अधिष्ठाता अनेक कष्ट देते हैं।

(५०) पूर्व काल में महा दावाग्नि के समान मरुभूमि की वज्र जैसी कठिन नली वाली कदंब वालुका नदी में मैं अनंत बार जला हूँ।

(५१) कन्दु कुंभियों में असहाय ऊंचा बँधा हुआ तथा जोर २ से चिल्लाता हुआ मैं आरा तथा क्रकच (शस्त्र विशेष) आदि द्वारा अनेक बार चीरा गया हूँ।

(५२) अति तीक्ष्ण कांटों से व्याप्त ऐसे सेंमल वृक्ष के साथ बाँधकर तथा आगे पीछे उल्टा सुल्टा खींचकर परमाधार्मिकों द्वारा दी गई यातनायें मैंने अनेक वार सहन की हैं।

टिप्पणी—सेंमल का वृक्ष ताड़ से भी अधिक ऊँचा होता है।

(५३) पापकर्म के परिणाम से मैं पूर्वकाल में बड़े २ यंत्रों में गन्ने की तरह अति भयंकर चीत्कार करता हुआ अनेक बार पेरा गया हूँ।

(५४) सूअर तथा कुत्ते के समान श्याम शवल जाति के परमाधार्मिक देवों ने अनेक बार तड़फा तड़फा कर मुझे जमीन पर दे मारा, शस्त्रादिकों से मुझे चीरफाड़ डाला तथा बचाओ, बचाओ की प्रार्थना करते हुए भी अनेक बार मेरे टुकड़े २ कर डाले हैं।

(५५) परमाधार्मिकों ने पापकर्म से नरक स्थान में गये हुए मेरे शरीर के सरसों के पुष्पवर्णी तलवार, खड्ग, तथा भालों से दो खंड, अनेक खंड तथा अति सूक्ष्म खण्ड २ कर डाले।

(५६) चमचमाते हुए धुरा तप्त जुआवाले तथा लोहे के रथ में परवशात् जोड़ कर तथा जुए के जोतों द्वारा बांध कर, जिस तरह लाठियों से रोज (पशु विशेष) को मारते हैं, वैसे ही मुझे भी मर्मस्थानों, अथवा जमीन पर डाल कर खूब मार मारी है।

(५७) चिताओं में रख कर जिस तरह भैंसों को भून डालते हैं, वैसे ही पापकर्मों से वेष्ठित मुझे पराधीन रूप से प्रदीप्त अग्नि में डाल कर भूना है तथा जला कर भस्म कर डाला है।

(५८) ढेंक तथा गिद्ध पक्षियों के रूप धर कर लोहे की सणसी के समान मजबूत चोंचों द्वारा रुदन करते हुए मुझ को परमाधार्मिकों ने अनंत बार चोंचें मार २ कर दुःख दिया है।

(५९) नरक गति में प्यास से बहुत पीड़ित होकर मैं इधर-उधर दौड़ता फिरा और वैतरणी नदी में पानी देखकर मैं उधर दौड़ पड़ा। किन्तु उस छुरा को सी पैनी धार वाले पानी ने मेरे अंगभंग कर डाले।

(६०) ताप से पीड़ित होकर असि (तलवार) पत्र नामक वन में (छाया की आशा से) गया था। वहां वृक्ष के नीचे बैठा ही था कि झट ऊपर से तलवार के समान धारवाले पत्तों के पड़ने से मैं अनन्तवार छेदा गया।

(६१) मुग्दर, मूसल नामक शस्त्रों, शूलों, तथा सलाखों द्वारा मेरे अंगउपांग सब छिद गये थे और ऐसे दुःख मैंने अनंतवार सहन किये हैं।

(६२) छुरी की तीक्ष्ण धार से मेरी अनन्तवार खाल उतारी गई तथा अनन्तवार मैं कैंचियों द्वारा काटा और छेदा गया हूँ।

(६३) (वहां) शिकारी की कपट जालों में पकड़ा जाकर मृग की तरह परवशता के कारण बहुत बार बांधा गया, रूँधा गया तथा मुझ पर बोझ लादा गया।

(६४) मोटे जाल के समान छोटी २ मछलियों को निगल जाने वाले मगरमच्छों के सामने एक छोटे से मच्छ की तरह परवशता के कारण बहुत बार मैं परमाधार्मिकों द्वारा पकड़ा गया, खींचा गया, फाड़ा गया और मारा गया।

(६५) जिस तरह कांटे वाली तथा लेपवाली जालों में पक्षी विशेषतः फांसे जाते हैं उसी तरह मैं परमाधार्मिकों द्वारा अनेक बार पकड़ा गया, लेपागया, बांधा गया तथा मारा गया।

(६६) बढ़ई जिस तरह वृक्ष के टुकड़े २ कर देता है वैसे ही परमाधार्मिकों ने कुल्हाड़ी तथा फरसों द्वारा मुझे चीर डाला, मूंज की तरह बंट डाला, कूट डाला तथा छील डाला।

(६७) जैसे लुहार चीमटा तथा घन से लोहे को टीपता है वैसे ही मैं भी अनंतवार कूटा गया हूँ, भेदा गया हूँ और मारा गया हूँ।

(६८) मेरे बहुत अधिक चीत्कार तथा रुदन करने पर भी तांबा, लोहा, सीसा, आदि धातुओं को खूब खौलती हुई गरम करके मुझे जबर्दस्ती पिलाया है।

(६९) (उक्त धातु प्रवाहों को मुझे पिलाते २ परमाधार्मिक यों कहते जाते थे:—) ओ अनार्य कार्य करने वाले! तुझे पूर्वभव में मांस बहुत प्रिय था तो ले यह मांस पिंड! ऐसा कह कर उनने अग्नि से लाल तप्त चिमटों से मेरे शरीर का मांस नोंच २ कर तथा उसे अग्नि में तपा कर जबर्दस्ती मेरे मुँह में अनेक बार ठूँसा था।

(७०) (तथा तुझे) पूर्वभव में गुड़ तथा महुडे आदि से

बनी हुई शराब बहुत पसंद थी तो यह ले शराब ! ऐसा कहकर उनने अनेक बार मेरे ही शरीर के रक्त तथा चरबी निकाल तथा तपाकर मुझे पिलाया है ।

(७१) भयसहित, उद्वेग सहित, दुःख सहित पीड़ित मैंने अत्यन्त दुःख पूर्ण वेदनाओं के अनेक अनुभव किये हैं ।

(७२) नरकयोनि में मैंने तीव्र, भयंकर, असह्य, महाभयकारक, घोर एवं प्रचंड वेदनाएं अनेक बार सहन की हैं ।

(७३) हे तात ! मनुष्य लोक में जैसी भिन्न २ प्रकार की वेदनाएं सही जाती हैं उससे अनन्त गुनी वेदनाएं नरक में भोगनी पड़ती हैं ।

(७४) हे माता-पिता ! जहां पलक मारने (पलमात्र) तक के लिये भी शांति नहीं है ऐसे सर्व भवों में मैंने असाताएं (वेदनाएं) सही हैं ।

(७५) यह सुनकर माता-पिता ने कहा:—"हे पुत्र ! जो तेरी इच्छा है तो भले ही खुशी से दीक्षा ग्रहण कर किंतु चारित्र धर्म में दुःख पड़ने पर प्रतिक्रिया (इलाज) नहीं होती— क्या यह तुझे खबर है"

(७६) मृगापुत्र ने जवाब दिया:—"आप जो कहते हैं वह सत्य है । परन्तु मैं आप से यह पूंछता हूँ कि जंगल में पशु-पक्षी विचरते हैं उनके ऊपर कष्ट पड़ने पर उनकी प्रतिक्रिया कौन करता है"

टिप्पणी—पशुपक्षियों के कष्ट जैसे उपाय किये बिना ही शान्त हो जाते हैं वैसे ही मेरा दुःख भी शान्त हो जायगा ।

(७७) जैसे जंगल में अकेला मृग सुख से विहार करता है वैसे

ही संयम तथा तपश्चर्या से मैं एकाकी (रागद्वेष रहित) होकर चारित्र धर्म में सुख पूर्वक विचरूँगा।

(७८) बड़े वन में एक बड़े वृक्ष के मूल में बैठे हुए मृग को जब (पूर्वकर्मोदय से) रोग उत्पन्न होता है तब वहाँ उसका इलाज कौन करता है ?

(७९) वहां जाकर उसे कौन औषधि देता है ? उसके सुख दुःख की चिन्ता कौन करता है ? कौन उसको भोजन पानी लाकर खिलाता है ?

टिप्पणी—जिसके पास अधिक साधन हैं उसीको सामान्य दुःख अति-दुःख रूप मालूम होते हैं।

(८०) जब वह नीरोग होता है तब वह स्वयमेव वन में जाकर सुन्दर घास तथा सरोवर ढूँढ़ लेता है।

(८१) घास खाकर, सरोवर का पानी पीकर तथा मृगचर्या करके फिर पीछे अपने निवास स्थान पर आजाता है।

(८२) इसी तरह उद्यमवंत साधु एकाकी मृगचर्या करके फिर ऊँची दिशा में गमन करता है।

(८३) जैसे एक ही मृग अनेक जुदे २ स्थानों में रहता है इसी तरह मुनि भी गोचरी (भिक्षाचरी) में मृगचर्या की तरह भिन्न २ स्थानों में विचरे और सुन्दर भिक्षा मिले या न मिले तो भी दाता का तिरस्कार या निंदा न करे।

(८४) इसलिये हे माता-पिता ! मैं भी उसी मृग की तरह (निरासक्त) चर्या करूँगा। इस प्रकार पुत्र का दृढ़ वैराग्यभाव देखकर माता-पिता के वात्सल्य से कठोर हृदय भी पिघल गये और उनने कहाः—हे पुत्र ! जिससे

तुमको सुख मिले वही काम खुशी से करो। इस तरह माता-पिता की आज्ञा मिलने पर वे (मृगापुत्र) अलंकारादि सब उपाधियों के त्यागने को तत्पर हुए।

(८५) पक्की आज्ञा लेने के लिये फिर मृगापुत्र ने कहा:—हे माता पिता! जो आप प्रसन्नचित्त से मुझे आज्ञा देते हों तो मैं अभी सब दुःखोंसे छुड़ानेवाले मृगधर्मी के समान संयम को ग्रहण करूँ। यह सुनकर मातापिता ने प्रसन्न चित्त से कहा:—हे प्यारे पुत्र! यथेच्छ विचरो।

(८६) इस तरह वहुत प्रकार से माता पिता को समझाबुझाकर तथा उनकी आज्ञा प्राप्त करके, जैसे महान हाथी युद्ध में शत्रुबख्तर को तोड़ डालता है उसी तरह उनके ममत्व का नाश किया।

(८७) जैसे वस्त्र पर लगी हुई धूल को सब कोई झाड़ देता है वैसे ही उनने धनदौलत, वैभव, मित्र, स्त्री, पुत्र तथा कुटुम्बीजन आदि सभी को त्याग दिया और संयम भार ग्रहण कर विहार किया।

(८८) पांच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुप्ति इनको ग्रहण कर आभ्यंतर (आंतरिक) तथा वाह्य तपश्चर्या में उद्यम करने लगे।

(८९) ममत्व, अहंकार, आसक्ति, तथा गर्व को छोड़कर त्रस तथा स्थावर जीवों पर अपनी आत्मा के समान (आत्मवत्) करुणा भाव दिखाने लगे।

(९०) तथा लाभालाभ में, सुख दुःख में, जीने मरने में, निंदा प्रशंसा में, तथा मानापमान में वे समदृष्टि बने।

(९१) अहंकार, कषाय, दंड, शल्य, भय, हास्य, शोक, तथा वासना से निवृत्त होकर वे स्वावलंबी बने।

टिप्पणी—दण्ड तीन प्रकार के होते हैं। (१) मन दण्ड, (२) वचन दण्ड, और (३) काय दण्ड। शल्य भी तीन प्रकार की होती हैं। (१) माया, (२) निदान (३) मिथ्यात्व। कषायें ४ प्रकार की हैं। (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

(९२) इस लोक तथा परलोक संबंधी आशा से रहित हुए। भोजन मिले या न मिले, कोई शरीर पर चंदन लगावे या मारे—वे दोनों दशाओं में समवर्ती हुए।

(९३) तथा पापों के अप्रशस्त आस्रव (कर्मागमन) से सब तरह से रहित बने तथा आत्म ध्यान के योगों द्वारा कषायों का नाश करके वे प्रशस्त शासन में स्थिर हुए।

(९४) इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, तथा विशुद्ध भावनाओं से अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाकर—

(९५) बहुत वर्षों तक चारित्र (साधुत्व) का पालन कर एक मास का अनशन कर अंत में श्रेष्ठ सिद्धगति को प्राप्त हुए।

टिप्पणी:—अनशन दो प्रकार के होते हैं। (१) मरणपर्यन्त का (आयु का अन्तकाल आया देखकर मरणपर्यन्त आहार न करना) (२) कालमर्यादित (अमुक मुद्दत तक आहार न करना)

(९६) जैसे राजर्षि मृगापुत्र तरुण वय में ही भोगोपभोगों से निवृत्त हो सके वैसे ही तत्वज्ञ पंडित पुरुष भोगों से सहसा निवृत्त होते हैं।

(९७) महा प्रभावशाली तथा महान यशस्वी मृगापुत्र का यह सौम्य चरित्र सुनकर उत्तम प्रकार की तपश्चर्या तथा संयम

की आराधना करके, तीन लोक में प्रसिद्ध उत्तम गति (मोक्ष) को लक्ष्य में रखकर—

(९८) तथा दुःख वर्धक, (चोर आदि) भय के महान निमित्त रूप तथा आसक्ति को बढ़ाने वाले धन के स्वरूप को बराबर पहिचान कर उसको त्याग करो तथा सच्चे सुख को लाने वाले, मुक्ति योग्य गुण को प्रकट करने वाले तथा सर्वश्रेष्ठ धर्मरूपी जुए को धारण करो।

टिप्पणी—सारा ही संसार दुःखमय है किन्तु यह संसार कहीं बाहर नहीं है। नरक या पशु गति में नहीं है। यह संसार तो आत्मा के साथ जकड़ा हुआ है। वासना ही संसार है—आसक्ति यही संसार है। इसी संसार से सुख दुःख पैदा होते हैं, पाले पोसे और बढ़ाये जाते हैं। बाहर के दूसरे शारीरिक कष्ट, या अकस्मात आई हुई स्थिति का दुःख ये तो पतंगरंग जैसा क्षणिक है। दुःखानुभूति का होना या न होना उसका आधार वासना पर अवलंबित है। जिसने इस बात को जाना, विचारा, तथा अनुभव किया वे ही इस संसार के पार जाने का प्रयत्न कर सके हैं—ऐसा मानना चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूँ:—

इस तरह 'मृगापुत्र संबंधी' उन्नीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।
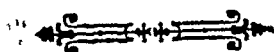
महा निर्ग्रंथीय

महा निर्ग्रंथ मुनि संबंधी

२०

शरीर की वेदना दूर करने की कदाचित कोई औषधि होगी। वाह्य बंधनों की वेदना को शांत करने के भी शस्त्र (औजार) मिल जांयगे, किन्तु गहरी उतरती जाती हुई आत्म-वेदना को दूर करने की औषधि बाहर (अन्यत्र) कहीं भी नहीं मिल सकती। आत्मा की अनाथता दूर करने में बाह्य कोई भी शक्ति काम नहीं आती। आत्मा की सनाथता के लिये आत्मा ही की सावधानता चाहिये। दूसरे अवलंब (साधन) तो जादूगर के तमाशे के समान केवल ढोंग हैं। आत्मा के अवलंबन ही आत्मा के सच्चे साधन हैं।

अनाथी नाम के योगीश्वर संसार की अनित्यता का अनुभव कर चुके थे। राज्य वैभव के समान ऋद्धि, अपार भोग विलास, रमणियों का आकर्षण तथा माता पिता का अपार अपत्यस्नेह आदि सभी को उनने बलपूर्वक त्याग दिया।

एक समय की बात है कि वे युवा तेजस्वी त्यागी किसी उद्यान के एकान्त कोने में ध्यानस्थ बैठे थे। उसी समय अकस्मात्

राजगृही का राजा श्रेणिक वहां आपहुंचा और उन युवा योगीश्वर की प्रसन्न मुखमुद्रा तथा देदीप्यमान आत्म ज्योति से प्रदीप्त त्यागी दशा देखकर उन पर मुग्ध हो गया। क्या ऐसे युवान भी त्यागी हो सकते हैं? यह प्रश्न वार २ उसके मन को क्षुब्ध करने लगा। इस योगी के विशुद्ध आन्दोलन ने श्रेणिक के हृदय में जो हलचल मचा दी थी उसका निरीक्षण करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये अत्यावश्यक है।

भगवान बोले:—

(१) अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु (संयमी पुरुषों) को भाव पूर्वक नमस्कार करके परमार्थ (मोक्ष) दाता धर्म की यथार्थ शिक्षा (व्याख्या) कहता हूँ सो तुम ध्यान पूर्वक सुनो:—

(२) अपार संपत्ति के स्वामी तथा मगध देश के नराधिप श्रेणिक महाराजा मंडितकुक्षि नामक चैत्य की तरफ विहार यात्रा के लिये निकले।

(३) भिन्न २ प्रकार की लतावृक्षों से व्याप्त, विविध पुष्पों तथा फलों से मंडित तथा विविध पक्षियों से सेवित वह उद्यान सचमुच नन्दनवन जैसा शोभित था।

(४) वहां एक वृक्ष के मूल में बैठे हुए सुख (भोगने) के योग्य सुकोमल, पद्मासन लगाये ध्यानस्थ एक संयमी साधु को उनने देखा।

(५) वह राजा (उस) योगीश्वर के उस रूप को देखकर अत्यन्त कौतूहल को प्राप्त हुआ।

(६) अहा ! कैसी इनकी कान्ति है ! कैसा इनका अनुपम रूप है ? अहा ! इन आर्य की कैसी अपूर्व सौम्यता, क्षमा, निर्लोभता तथा भोगों से निवृत्ति है ?

(७) उन मुनि के दोनों चरणों को नमस्कार करके, प्रदक्षिणा देकर न अति दूर और न अति पास इस तरह खड़ा हो, तथा हाथ जोड़कर महाराज श्रेणिक उनको इस तरह पूंछने लगे:—

(८) हे आर्य ! इस तरुणावस्था में भोगविलास के समय आपने दीक्षा क्यों ली है ? इस उग्र चारित्र में आपको ऐसी क्या प्रेरणा मिली जिससे आपने इस युवावय में अभिनिष्क्रमण किया ? आदि सभी बातें मैं आप से सुनना चाहता हूँ।

(९) मुनि ने कहा:—हे महाराज ! मैं अनाथ हूँ। मेरा रक्षक कोई नहीं है; और अभी तक ऐसा कोई कृपालु मित्र भी मुझे नहीं मिल सका है।

(१०) यह सुनकर मगध देश का अधिपति राजा श्रेणिक हँस पड़ा। क्या आप जैसे प्रभावशाली तथा समृद्धिशाली पुरुष को अभी तक कोई स्वामी नहीं मिल सका ?

टिप्पणी—योगीश्वर का ओजस् देखकर उनका सहायक कोई नहीं है यह बात असंगत (विश्वास के न योग्य) लगी और इसीलिये महाराजा ने यह पूंछा था।

(११) हे संयमिन् ! यदि आपका कोई सहायक नहीं है तो मैं (सहायक) होने को तैयार हूँ। मनुष्य भव (जन्म) सचमुच अत्यन्त दुर्लभ है। मित्र तथा स्वजनों से वेष्टित

होकर आप सुखपूर्वक हमारे पास रहो और भोगों को भोगो।

(१२) हे मगधेश्वर श्रेणिक! तू स्वयं ही अनाथ है! और जो स्वयं ही अनाथ है वह दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है?

(१३) मुनि के वचन सुनकर उस राजा को अति विस्मय हुआ। ऐसा वचन उसने कभी किसी से नहीं सुना था। इससे उसे व्याकुलता तथा संशय दोनों ही हुए।

टिप्पणी—उसको यह लगा कि यह योगी मेरी शक्ति, सामर्थ्य तथा सम्पत्ति नहीं जानता इसीसे ऐसा कहता है।

(१४) श्रेणिक ने अपना परिचय देते हुए कहा—घोड़ों, हाथियों तथा करोड़ों आदमियों, शहरों, नगरों (वाले अंगदेश तथा मगध देश) का मैं स्वामी हूँ। सुन्दर अन्तःपुर में मैं नरयोनि के सर्वोत्तम भोग भोगता हूँ। मेरी सत्ता (आज्ञा) तथा ऐश्वर्य अजोड़ (अनुपम) हैं।

(१५) इतनी विपुल मनवांछित संपत्ति होने पर भी मैं अनाथ कैसे हूँ? हे भगवन्! कहीं आपका कथन असत्य तो नहीं है?

(१६) (मुनि ने कहाः—) हे पार्थिव! तू अनाथ या सनाथ के परमार्थ को जान ही नहीं सका। हे राजन्! तू अनाथ तथा सनाथ के भाव (असली रहस्य) को बिलकुल नहीं समझ सका (इसीसे तुझे संदेह हो रहा है)।

(१७) हे महाराज! अनाथ किसे कहते हैं? मुझे अनाथता का भान कहां और किस तरह हुआ और क्यों मैंने यह दीक्षा ली—यह सर्व वृत्तान्त तू स्वस्थचित्त होकर सुन।

(१८) प्राचीन नगरों में सर्वोत्तम ऐसी कौशांबी नाम की एक नगरी थी और वहां प्रभूतधनसंचय नाम के मेरे पिता रहते थे।

(१९) एक समय हे महाराज! तरुण वय में मुझे यकायक आंख की अतुल पीड़ा हुई और उस पीड़ा के कारण तमाम शरीर को दाघज्वर लागू हो गया।

(२०) जैसे क्रुद्ध शत्रु शरीर के मर्मों पर अति तीक्ष्ण शस्त्रों से घोर पीड़ा पहुँचाता है वैसी ही तीव्र वह आंख की पीड़ा थी।

(२१) और उस दाघज्वर की दारुण पीड़ा इन्द्र के वज्र की तरह मेरी कमर, मस्तक तथा हृदय को पीड़ित करती थी।

(२२) उस समय वैद्यकशास्त्र में अति प्रवीण, जड़ीबूटी, मूल तथा मंत्रविद्या में पारंगत, शास्त्रविचक्षण तथा औषधि (निदान) करने में अति दक्ष अनेक वैद्याचार्य मेरे इलाज के लिये आये।

(२३) चार उपायों से युक्त ऐसी प्रसिद्ध चिकित्सा उनने मेरी की किन्तु वे महा सामर्थ्यवान वैद्य मुझे उस दुःख से छुड़ा न सके—यही मेरी अनाथता है।

(२४) मेरे लिए पिताजी सब संपत्ति लुटा देने को तैयार थे परन्तु वे भी मुझे दुःख से छुड़ाने में असमर्थ ही रहे—यही मेरी अनाथता है।

(२५) वात्सल्य के समुद्र की सी मेरी माता मेरे दुःख से अति दुःखित—अति व्याकुल—हो जाती थी, किन्तु उससे भी मेरा दुःख छूटा नहीं—यही मेरी अनाथता है।

(२६) एक ही माता के पेट से जन्मे हुए मेरे छोटे बड़े भाई भी मुझे मेरी पीड़ा से छुड़ा न सके—यही मेरी अनाथता है।

(२७) हे महाराज ! छोटी और बड़ी मेरी सगी बहनें भी मुझे इस दुःख से न बचा सकीं—यह मेरी अनाथता नहीं है तो क्या है ?

(२८) हे महाराज ! उस समय मुझ पर अत्यन्त प्रेम करनेवाली पतिव्रता पत्नी आंसूभरे नेत्रों द्वारा मेरे हृदय को भिगो रही थी।

(२९) मेरा दुःख देख कर वह नवयौवना मुझ से जान-अंजाने में अन्न, पान, स्नान या सुगन्धित पुष्पमाला अथवा विलेपन आदि कुछ भी (शृङ्गार) नहीं करती थी। (सब शृङ्गार का उसने त्याग कर रक्खा था।)

(३०) और हे महाराज ! एक क्षण के लिये भी वह सहचारिणी मेरे पास से दूर न होती थी। (इतनी अगाध सेवा द्वारा भी) वह मेरी इस वेदना को दूर न कर सकी—यही मेरी अनाथता है।

(३१) इस प्रकार चारों तरफ से असहायता का अनुभव होने से मैंने सोचा कि इस अनन्त संसार में ऐसी वेदनाएं सहन करनी पड़ें यह बात बहुत असह्य है।

(३२) इसलिये जो अबकी बार मैं इस दारुण वेदना से छूट जाऊँ तो मैं क्षांत(क्षमाशील) दान्त तथा निरारम्भी हो कर तत्क्षण ही संयम धारण करूंगा।

(३३) हे राजन् ! रात्रि को ऐसा निश्चय करके मैं सो गया और

ज्यों ज्यों रात्रि व्यतीत होती गई त्यों त्यों मेरी वह दारुण वेदना भी क्षीण होती गई।

(३४) उसके बाद प्रातःकाल तो मैं बिलकुल नीरोग होगया और उक्त सभी सगे सम्बन्धियों की आज्ञा लेकर क्षांत, दांत, तथा निरारम्भी होकर मैं संयमी बन गया।

(३५) संयम धारण करने के बाद मैं अपने आपका तथा समस्त त्रस (द्वीन्द्रियादिक) जीवों तथा स्थावर (एकेन्द्रियादिक) जीवों—सब का नाथ (रक्षक) होगया।

टिप्पणी—आसक्ति के बन्धन छूटने से अपनी आत्मा छूटती है। इसी आत्मिक स्वावलम्बन का अपर नाम सनाथता है। ऐसी सनाथता मिल जाने पर बाह्य सहायताओं की इच्छा ही नहीं रहती। जिस जीव को ऐसी सनाथता प्राप्त होती है वह जीवात्मा दूसरे जीवों का भी नाथ बन सकता है। बाह्य बन्धनों से किसी को छुड़ा देना इसीका नाम सच्ची रक्षा नहीं है किन्तु दुःखी प्राणियों को आन्तरिक बन्धन से छुड़ाना इसी का नाम सच्चा स्वामित्व—सच्ची दया—है। ऐसी सनाथता ही सच्ची सनाथता है इसके सिवाय की दूसरी बातें सभी अनाथताएं ही हैं।

(३६) हे राजन्! क्योंकि यह आत्मा ही (आत्मा के लिये) वैतरणी नदी तथा कूटशाल्मली वृक्ष के समान दुःखदायी है और वही कामधेनु तथा नन्दन वन के समान सुखदायी भी है।

टिप्पणी—यह जीवात्मा अपने ही पाप कर्मों द्वारा नरक गति जैसे अनन्त दुःख भोगता है और वही अपने ही सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग आदि के विविध दिव्य सुख भी भोगता है।

(३७) यह जीवात्मा ही सुख तथा दुःखों का कर्ता तथा भोक्ता है और यह जीवात्मा ही (यदि सुमार्ग पर चले तो) अपना सबसे बड़ा मित्र है और (यदि कुमार्ग पर चले तो) स्वयं अपना सब से बड़ा शत्रु है।

इस प्रकार अपनी पूर्वावस्था की प्रथम अनाथता का वर्णन कर अब दूसरे प्रकार की अनाथता बताते हैं।

(३८) हे राजन्! बहुत से कायर पुरुष निर्ग्रन्थ धर्म को अंगीकार तो कर लेते हैं किन्तु उसका पालन नहीं कर सकते हैं। यह दूसरे प्रकार की अनाथता है। हे नराधिप! इस बात को तू बराबर शान्तचित्त होकर सुन।

(३९) जो कोई पहिले पाँच महाव्रतों को ग्रहण कर, बाद में अपनी असावधानता के कारण उनका यथोचित पालन नहीं करता और अपनी आत्मा का अनिग्रह (असंयम) कर रसादि स्वादों (विषयों) में आसक्त हो जाता है ऐसा भिक्षु राग तथा द्वेष रूपी संसार के बन्धनों का मूलोच्छेदन नहीं कर सकता।

टिप्पणी—प्रव्रज्या (दीक्षा) का उद्देश्य आसक्ति के बीजों का उखाड़ना है। किसी भी वस्तु को छोड़ देना सरल है किन्तु तत्सम्बन्धी आसक्ति को दूर कर देना जरा टेढ़ी खीर है। इसलिये मुनि को सदैव इसका ही प्रयत्न करना चाहिये।

(४०) (१) ईर्या (उपयोगपूर्वक गमनागमन,) (२) भाषा, (३) ऐषणा (भोजन, वस्त्र आदि ग्रहण करने की वृत्ति), (४) भोजन, पात्र, कंबल, वस्त्रादि का उठाना

रखना, तथा कारणवशात् बची हुई (५) अधिक वस्तु का योग्य स्थान में त्याग—इन पांच समितियों का जो साधु पालन नहीं करता वह महावीर द्वारा प्ररूपित जैन-धर्म के मार्ग में नहीं जा सकता—आराधना नहीं कर सकता।

(४१) जो बहुत समय तक साधुव्रत की क्रिया करके भी अपने व्रत नियमों में अस्थिर हो जाता है तथा तपश्चर्या आदि अनुष्ठानों से भ्रष्ट हो जाता है, ऐसा साधु बहुत वर्षों तक (त्याग, संयम, केशलोंच तथा दूसरे) कष्टों द्वारा अपने शरीर को सुखाने पर भी संसारसागर के पार नहीं जा सकता।

(४२) वह पोली मुट्ठी अथवा छाप बिना के खोटे सिक्के की तरह सार (मूल्य) रहित हो जाता है और वैडूर्यमणि के सामने जैसे काच का टुकड़ा निरर्थक (व्यर्थ) है वैसे ही ज्ञानी-जनों के समीप वह निर्मूल्य हो जाता है (गुणवानों में उसका आदर नहीं होता)।

(४३) जो इस (मनुष्य) जन्म में रजोहरणादि मुनि के मात्र बाह्य चिन्ह रखता है तथा मात्र आजीविकाके लिये ही वेशधारी साधु बनता है, ऐसा मनुष्य त्यागी नहीं है और त्यागी न होते हुए भी अपने को झूँठमूँठ ही साधु कहलवाता है। ऐसे कुसाधु को पीछे से बहुत काल तक (नरकादि जन्मों की) पीड़ा भोगनी पड़ती है।

(४४) तालपुट (ऐसा दारुण विष जिसको हथेली पर रखते ही तालु फूट जाय) विष खाने से, उल्टो रीति से शस्त्र

ग्रहण करने से, तथा विधिरहित मंत्र जाप करने से जैसे स्वयं धारण करनेवाले का ही नाश हो जाता है वैसे ही विषयवासनाओं की आसक्ति से युक्त चारित्रधर्म अपने ग्रहण करनेवाले का ही नाश कर डालता है।

टिप्पणी—जो वस्तु उन्नति पथ में ले जाती है वही अयोग्य या उल्टी रीति से प्रयुक्त होने पर अवनति के गड्ढे में भी डाल देती है।

(४५) सामुद्रिक शास्त्र (लक्षण शास्त्र), स्वप्नविद्या, ज्योतिष तथा विविध कौतूहल (जादूगरी आदि) विद्याओं में अनुरक्त तथा हलकी विद्याओं को सीखकर उनके द्वारा आजीविका चलानेवाले कुसाधु को (अन्त समय) उसकी कुविद्याएं शरणभूत नहीं होती।

टिप्पणी—विद्या वही है जो आत्म विकास करे। जो अपना ही पतन करे उसे विद्या कैसे कहा जाय?

(४६) वह वेशधारी कुशील साधु अपने अज्ञानरूपी अंधकार से सदा दुःखी होता है तथा चारित्रधर्म का घात कर इसी भव में अपमान भोगता है तथा परलोक में नरक या पशुगति में जाता है।

(४७) जो साधु अग्नि की तरह सर्वभक्षी बनकर अपने निमित्त बनाई गई, मोल ली गई, अथवा केवल एक ही घर से प्राप्त सदोष भिक्षा ग्रहण किया करता है वह कुसाधु अपने पापों के कारण दुर्गति में जाता है।

टिप्पणी—जैन साधु को बहुत शुद्ध तथा निर्दोष भिक्षा ही लेने का विधान किया गया है। भिक्षा के लिये उसे बहुत कठिन नियमों का पालन करना पड़ता है।

(४८) शिरच्छेद करनेवाला शत्रुभी अपना वह अपकार नहीं करता जो स्वयं यह जीवात्मा कुमार्ग में जाकर कर डालता है। किन्तु जब यह कुमार्ग पर चलता है तब उसे अपनी कृति का ध्यान ही नहीं आता। जब मृत्यु आकर गला दबाती है तभी उसको अपना भूतकाल याद आता है और तब वह बहुत पछताता है।

टिप्पणी—पर उस समय का पश्चात्ताप 'अब पछिताये होय का, चिड़ियां चुग गई खेत,' की तरह व्यर्थ जाता है।

(४९) ऐसे कुसाधु का सारा कष्टसहन (त्याग) भी व्यर्थ जाता है और उसका सारा पुरुषार्थ विपरीत (उल्टा फल देनेवाला) होता है। जो भ्रष्टाचारी है उस को इस लोक या परलोक—उभय लोक—में थोड़ी सी भी शान्ति नहीं मिल सकती। वह (आंतरिक तथा बाह्य) दोनों प्रकार के कष्टों का भोग बन जाता है।

(५०) जैसे भोग रस की लोलुप (मांस खानेवाली) पक्षिणी स्वयं दूसरे हिंसक पक्षी द्वारा पकड़ी जाकर खूब ही परिताप पाती है वैसे ही दुराचारी तथा स्वच्छंदी साधु जिनेश्वर देवों के इस मार्ग की विराधना करके मरणांत में बहुत २ पश्चात्ताप करता है।

(५१) ज्ञान तथा गुण से युक्त ऐसी इस मधुर शिक्षा को सुन कर दूरदर्शी तथा बुद्धिमान साधक दुराचारियों के मार्ग को दूर से ही छोड़ कर महातपस्वी मुनीश्वरों के मार्ग पर गमन करे।

(५२) इस प्रकार ज्ञानपूर्वक चारित्र के गुणों से भरपूर साधक श्रेष्ठ संयम का पालन कर निष्पाप हो जाते हैं तथा वे पूर्वसंचित कर्मों का नाश कर अन्त में सर्वोत्तम तथा अक्षय ऐसे मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं।

(५३) इस प्रकार कर्मशत्रुओं के घोर शत्रु, दाँत, महातपस्वी, विपुल यशस्वी, दृढ़व्रती, महामुनीश्वर अनाथी ने सच्चे निर्ग्रंथ मुनिका महाश्रुत नामक अध्ययन अति विस्तार से श्रेणिक महाराज को सुनाया।

(५४) सनाथता के सच्चे अर्थ को सुनकर श्रेणिक महाराज अत्यंत सन्तुष्ट हुए और उनने दोनों हाथ जोड़कर कहा— हे भगवन्! आपने मुझे सच्ची अनाथता का स्वरूप बड़ी ही सुन्दरता के साथ समझा दिया।

(५५) हे महर्षि! आपका मानव जन्म पाना धन्य है! आपकी यह दिव्य कांति, देदीप्यमान ओजस्, शान्त प्रभाव और उज्ज्वल सौम्यता धन्य है! जिनेश्वर भगवान के सत्यमार्ग में चलनेवाले सचमुच आप ही सनाथ तथा सबांधव हो।

(५६) हे संयमिन्! अनाथ जीवों के तुम ही नाथ हो! सब प्राणियों के आप ही रक्षक हो! हे भाग्यवन्त महापुरुष! मैं अपनी (अज्ञानता की) आपसे क्षमा मांगता हूँ और साथ ही साथ आपके उपदेश का इच्छुक हूँ।

टिप्पणी—संयमी पुरुष की आवश्यकताएं परिमित होने से अनेक जीवों को उससे आराम पहुँचता है। वह स्वयं अभय होने से, सब कोई उससे निर्भय रह सकते हैं। सारांश यह है कि एक संयमी करोड़ों का नाथ बन सकता है।

(५७) हे संयमिन् ! आप के पूर्वाश्रम का वृत्तान्त आपको पुनः पुनः पूंछ कर, आपके ध्यान में भंग डालकर और भोग भोगने की अयोग्य सलाह देकर मैंने आपका जो अपराध किया है उसकी मैं आपसे पुनः क्षमा मांगता हूँ।

(५८) राजाओं में सिंह के समान ऐसे राजकेशरी महाराजा श्रेणिक ने इस प्रकार परम भक्तिपूर्वक उस श्रमणसिंह की स्तुति की और तबसे वे विशुद्ध चित्तपूर्वक अपने अन्तःपुर की (सब रानियों, तथा दासीदासों) स्वजनों तथा सकल कुटुम्बी जनों सहित जैन धर्मानुयायी हुए।

टिप्पणी—श्रेणिक महाराज पहिले बौद्धधर्मी थे किन्तु अनाथी मुनि के प्रबल प्रभाव से आकर्षित होकर वे जैन धर्मानुयायी बने थे ऐसी परंपरानुसार मान्यता है।

(५९) मुनीश्वर के अमृतोपम इस समागम से उनका रोम रोम प्रफुल्लित हो गया। अन्त में अनाथी मुनि की प्रदक्षिणा देकर तथा शिरसा वंदन कर वे अपने स्थान को पधारे।

(६०) तीन गुप्तियों से गुप्त, तथा तीन दंडों (मन दंड, वचन दंड, तथा काय दंड) से विरक्त, गुणों की खान, ऐसे अनाथी मुनि अनासक्त भाव से निर्द्वन्द पक्षी की तरह अप्रतिबंध विहारपूर्वक इस पृथ्वी पर सुख समाधि से विचरने लगे।

टिप्पणी—साधुता में ही सनाथता है। आदर्श त्याग में ही सनाथता है। आसक्ति में अनाथता है। भोगों का प्रसंग करने में अनाथता है और इच्छा तथा वासना की परतन्त्रता में भी अनाथता है। अना-

थता को छोड़कर सनाथ होना—अपने आपही अपना मित्र बनना—ये सब प्रत्येक मुमुक्षु के कर्तव्य हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'महानिर्ग्रंथ' नामक बीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।
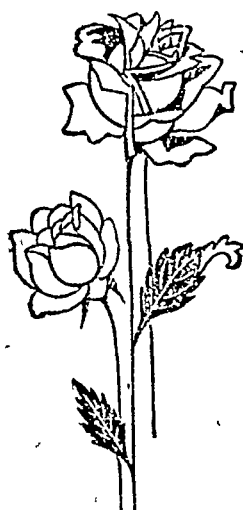
समुद्रपालीय

समुद्रपाल का जीवन

२१

बोया हुआ बीज कभी व्यर्थ नहीं जाता। आज नहीं तो कल—कभी न कभी वह उगेगा ही। शुभ बोकर शुभ पाना तथा बाद में शुद्ध होना—यही तो अपने जीवन का उद्देश्य है।

समुद्रपाल ने पूर्वभव में शुभ बोकर शुभस्थान में संयोजित होकर मनवांछित साधन पाये। उसने उनको खूब भोगा भी और अन्त में उनका त्याग भी किया सही परंतु उसका हेतु कुछ दूसरा ही था। और हेतु की सिद्धि के लिये ही—मानों फांसी के तख्ते पर जाते हुए चोर को देखा ही था कि उसको देखते ही उसकी आंखें खुल गईं। मात्र बाह्य वस्तु पर ही नहीं किंतु वस्तु के परिणाम पर भी उसकी अन्तर्दृष्टि जा पहुँची। बोया हुआ अब उदित हुआ, संस्कार जागृत हुए, पवित्र होने की भावना बलवती हुई और इस समर्थ आत्मा ने अपनी साधना पूरी की।

भगवान बोले—

(१) चम्पा नाम की नगरी में पालित नामक एक व्यापारी रहता था। वह जाति का वणिक और महाप्रभु भगवान महावीर का श्रावक शिष्य था।

(२) वह श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचनों (शास्त्रों) में बहुत कुशल पंडित था। एक बार व्यापार करने के लिये वह जहाज द्वारा पिहुण्ड नामक नगर में आया।

टिप्पणी—इस पिहुण्डनगर में वह बहुत वर्षों तक रहा था और वहाँ उसका व्यापार भी खूब चमक उठा था। तथा वहाँ के एक वणिक की स्वरूपवती कन्याके साथ उसने अपना विवाह किया था। अन्य ग्रन्थों में यह कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। जिनको जानना हो वे उन्हें पढ़ लेवें। यहाँ तो केवल प्रसंग सम्बन्धी भाग ही दिया है।

(३) पिहुंड नगर में व्यापारी तरीके रहते हुए उसके साथ किसी दूसरे वणिक ने अपनी पुत्री ब्याह दी। बहुत दिनों के बाद वह गर्भवती हुई और उस गर्भवती पत्नी को साथ ले कर अब वह व्यापारी, बहुत दिन पीछे देखने की इच्छा से अपने देश आने के लिये रवाना हुआ।

(४) वे जहाज द्वारा आ रहे थे। पालित की आसन्न प्रसवा स्त्री ने समुद्र में ही पुत्र प्रसव किया और समुद्र में पैदा होने के कारण उस बालक का नाम समुद्रपाल रक्खा गया था।

(५) पालित अपने नवजात पुत्र तथा स्त्री के साथ सकुशल चंपा-

नगरी में अपने घर पहुँच गया और वह बालक वहां सुख-पूर्वक बढ़ने लगा।

(६) सब को प्रिय लगनेवाला और सौम्य कांतिधारी वह बुद्धिमान बालक धीमे २ बहत्तर कलाओं तथा नीतिशास्त्र में पारंगत हुआ और कांतिमान यौवन को प्राप्त हुआ।

(७) पुत्र की युवा वय देखकर उसके पिता ने उसका विवाह अप्सरा जैसी एक महास्वरूपवती कन्या के साथ कर दिया। उसके साथ समुद्रपाल रमणीय महल में दो गुन्दक (विलासी) देव के समान भोग भोगने लगा।

(८) (इस तरह भोगजन्य सुख भोगते भोगते कुछ समय बाद) एक दिन वह अपने महल की खिड़की में से नगरचर्या देख रहा था कि इतने ही में मृत्युदंड के चिन्ह सहित वध्यभूमि की तरफ ले जाये जाते हुए एक चोर पर उसकी निगाह पड़ी।

टिप्पणी—पहिले जमाने में प्राणदण्ड देने के पहिले, गुन्हेगार को अत्यंत विरूपित कर धूमधाम के साथ उसको लेजाते थे। मृत्युदण्ड के चिन्हस्वरूप उसके गले में कन्हेर की माला और फूटा हुआ ढोल पहिना दिया जाता था तथा उसको गधेपर बिठा कर नगर में घुमाया जाता था।

(९) उस चोर को देखकर उसको तरह तरह के विचार आने लगे। वैराग्यभाव से वह स्वयं कहने लगा, अहो! अशुभ कर्मों के कैसे कड़ुए फल यहां प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

टिप्पणी—"जो जैसा करता है वैसा वह भोगता है?"—यह अटल सिद्धांत समुद्रपाल के प्रत्येक अंग में व्याप्त हो गया। कर्म के

अटल नियम ने उसको कँपा दिया। भोगजन्य इन सुखों के कैसे दुःखदायी परिणाम होंगे! अरे रे! मैं क्या कर रहा हूँ? मेरा यहाँ आनेका कारण क्या? इत्यादि अनेक प्रकार के तर्क वितर्क उसके मन में होने लगे।

(१०) और उसी समय गहरे चिंतन के परिणाम स्वरूप उसको जाति-स्मरण ज्ञान पैदा हुआ। सच्चे तत्त्व की झांखी हुई, और परम संवेग भाव जागृत हुआ। सच्चे वैराग्य के कारण माता पिता को संतुष्ट कर, और उनकी आज्ञा प्राप्त कर उसने दीक्षा अंगीकार की और संयम धारण कर साधु बन गया।

(११) महाक्लेश, महाभय, महामोह, तथा महाआसक्ति के मूल कारण रूपी धन, वैभव तथा कुटुम्बी जनों के मोह संबंध को छोड़कर उसने रुचिपूर्वक त्याग धर्म स्वीकार किया तथा वह पांच महाव्रत तथा सदाचारों का पालन करने लगा और आनेवाले परिषहों को जीतने लगा।

टिप्पणी—पाँच महाव्रत ये मुनि के मूलगुण हैं। ये साधु जीवन के अणु अणु में ओत प्रोत हो जाने चाहिये। दूसरे जो उत्तर गुण हैं वे केवल मूलगुणों को पुष्ट करने के लिये हैं।

(१२) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों को अङ्गीकार करके वे विद्वान मुनिश्वर जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित धर्म पर गमन करने लगे।

जैन साधु का उद्दिष्ट मार्ग

(१३) साधु का कर्तव्य है कि वह विश्व (संसार) के समस्त जीवों पर दया भाव रक्खे। 'सत्त्वेषु मैत्री', का भाव

रक्खे और जो २ कष्ट उस पर आवें उनको समभाव-पूर्वक सहन करे। सदा अखण्ड ब्रह्मचर्य तथा संयम से रहे। इन्द्रियों को अपने वश में रक्खे और पाप के योग (व्यापार) को सर्वथा त्यागकर समाधिपूर्वक भिक्षुधर्म में गमन करे।

(१४) जिस समय में जो क्रिया करनी चाहिये, वही करे। देशप्रदेश में विचरता रहे। कोई भी कार्य करने के पहिले अपनी शक्ति-अशक्ति का माप ले। यदि कोई उसे कठोर या असभ्य शब्द भी कहे तो भी वह सिंह के समान निडर रहे किन्तु बदले में असभ्य बनकर उसकी प्रतिक्रिया न करे।

टिप्पणी—किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो, साधु को अपनी जीवनचर्या के अनुसार ही आचरण रखना चाहिये। भिक्षा के समय स्वाध्याय करना अथवा स्वाध्याय के समय सो जाना इत्यादि प्रकार की अकाल क्रियाएं न करे और सम्पूर्ण व्यवस्थित रहे।

(१५) साधु का कर्तव्य है कि प्रिय अथवा अप्रिय जो कुछ भी हो उससे तटस्थ रहे। यदि कष्ट आ पड़े तो उसकी उपेक्षा कर समभाव से उसे सह ले, और यही भावना रक्खे कि जो कुछ होता है, अपने कर्मों के कारण ही होता है इसलिये कभी भी निरुत्साह न हो। अपनी निन्दा या प्रशंसा की तरफ वह लक्ष्य न दे।

टिप्पणी—साधु पुजा की कभी इच्छा न रक्खे और निन्दा को मनमें न लावे। केवल सत्य शोधक होकर सत्याचरण ही करता रहे।

(१६) मनुष्यों के तरह तरह के अभिप्राय होते हैं (इसलिये यदि कोई मेरी निंदा करता है तो यह उसके मन की बात है, इसमें मेरी क्या बुराई है।) इस प्रकार वह अपने मन को सान्त्वना दे। मनुष्य, पशु अथवा देव द्वारा किये गये उपसर्गों को शांतिपूर्वक सहन करे।

टिप्पणी—यहाँ लोक रुचि तथा लोक मानस (लोगों के जुदे २ विचार) को पहिचानने तथा समभाव से उसका समन्वय (छान-बीन) करना योग्य बता कर त्यागी का कर्तव्य क्या है उसका निर्देश किया है। इस प्रकार समुद्रपाल मुनि विहार किया करते थे।

(१७) जब दुःसह्य परिषह आते हैं तब कायर साधक शिथिल हो जाते हैं किन्तु युद्धभूमि में सब से आगे रहनेवाले हाथी की तरह वे भिक्षु (समुद्रपाल मुनि) कुछ भी खेद-खिन्न नहीं होते थे।

(१८) उसी प्रकार से आदर्श संयमी ठंडी, गर्मी, दंशमशक, रोग आदि परिषहों को समभाव (मनमें विकार लाये विना) पूर्वक सहन करे और उन परिषहों को अपने पूर्वकर्मों का परिणाम जानकर उन्हें सहकर कर्मों का नाश करे।

(१९) विचक्षण साधु हमेशा राग, द्वेष तथा मोह को छोड़ कर, जिस तरह वायु से मेरु नहीं कांपता उसी तरह परिषहों से कांपे नहीं (भयभीत न हों) किन्तु मन को वश में रखकर सब कुछ समभावपूर्वक शान्ति से सह ले।

(२०) भिक्षु कभी गर्विष्ट न हो और न कभी कायर ही बने। कभी पूजा या निंदा की इच्छा न करे किन्तु समुद्रपाल

मुनि की तरह सरल भाव धारण करे और राग से विरक्त होकर (ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र द्वारा) मोक्षमार्ग की उपासना करे।

(२१) साधु को यदि कभी संयम में अरुचि अथवा असंयम में रुचि पैदा हो तो उनको दूर करे। आसक्ति भाव से दूर रहे और आत्मचिंतन में लीन रहे। शोक, ममता, तथा परिग्रह की तृष्णा छोड़ कर समाधि की प्राप्ति कर परमार्थ पद में स्थिर हो।

(२२) इस तरह समुद्रपाल योगीश्वर आत्मरक्षक तथा प्राणीरक्षक बनकर उपलेप रहित तथा परनिमित्तक (दूसरों के निमित्त बनाये गये) एकांत स्थानों में विचरते थे तथा विपुल यशस्वी महर्षियों ने जिस मार्ग का अनुसरण किया था उसीका वे भी अनुसरण करते थे। ऐसा करते हुए उनने उपसर्गों तथा परिषहों को शान्तिपूर्वक सहन किया।

(२३) ऐसे यशस्वी तथा ज्ञानी समुद्रपाल महर्षि निरंतर ज्ञान मार्ग में आगे २ बढ़ते गये तथा उत्तम धर्म (संयम धर्म) का पालन कर अन्त में केवलज्ञान रूपी अनन्त लक्ष्मी के स्वामी हुए और आकाशमंडल में जैसे सूर्य शोभित होता है वैसे ही इस महीमंडल में अपने आत्मप्रकाश से दीप्त होने लगे।

(२४) पुण्य और पाप इन दोनों प्रकार के कर्मों को नाश कर शरीर के मोह से वे सब प्रकार से छूट गये। शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए और इस संसार-समुद्र के पार जाकर वे महामुनि समुद्रपाल अपुनरागति (वह गति जहां

जाकर फिर लौटना न पड़े) अर्थात् मोक्ष गति को प्राप्त हुए ।

टिप्पणी—शैलेशी अवस्था अर्थात् अडोल अवस्था । जैनदर्शन में ऐसी स्थिति निष्कर्मा योगीश्वर की बताई है और इस उच्च दशा को प्राप्त होकर तत्क्षण ही वे आत्मसिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए । हो जाता है

सरल भाव, तितिक्षा, निरभिमानिता, अनासक्ति, निंदा या प्रशंसा में समभाव, प्राणीमात्र पर मैत्रीभाव, एकांत वृत्ति, तथा सतत अप्रमत्तता—ये आठ गुण त्यागधर्म रूपी इमारत की नींव हैं । यह नींव जितनी दृढ़ तथा मजबूत होगी उतना ही त्यागी-जीवन उच्च तथा सुवासित होगा । इस सुवास में अनन्त भवों की वासनारूपी दुर्गंधि नष्टभ्रष्ट हो जाती है और आत्मा ऊँचो होते होते अन्तिम ध्येय को प्राप्त कर लेती है ।

ऐसा मैं कहता हूँ:—

इस प्रकार 'समुद्रपालीय' नामक इक्कीसवां अध्ययन समाप्त हुआ ।

रथनेमीय

(रथनेमि संबंधी)

२२

शरीर, संपत्ति तथा साधन ये सब शुभकर्म (रूप पुण्य) के उदय से ही मिलते हैं। यदि पुण्यानुबंधी (पुण्य का वह फल जिसका पुण्य कार्यों में ही व्यय हो) पुण्य होगा तो प्राप्त साधनों का उपयोग सन्मार्ग में ही होगा तथा वे उपादान में भी सहकारी होंगे।

शुद्ध उपादान अर्थात् जीवात्मा की उन्नत दशा। ऐसी उन्नत दशावाली आत्मा भोगों के प्रबल प्रलोभनों में पड़नेपर भी केवल छोटा सा निमित्त मिलते ही आसानी से छूट भागती है।

नेमिनाथ कृष्ण वासुदेव के चचेरे भाई थे। पूर्वभव के प्रबल पुरुषार्थ से उनका उपादान शुद्ध हुआ था। उनकी आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल थी। इससे भी अधिक उन्नत उसे जाना था इसीलिये वह इस उत्तम राजकुल में मनुष्य रूप में अवतीर्ण हुई थी।

यौवनपूर्ण सर्वांग सौम्य शरीर तथा विपुल समृद्धि के

स्वामी होने पर भी उनका मन उसमें आसक्त न था किन्तु कृष्ण महाराज के अति आग्रहवशात् उनकी सगाई उग्रसेन महाराज की रंभा के समान सुन्दरी पुत्री राजीमती के साथ की गई।

भरपूर ठाठबाट से समस्त यादवकुल के साथ वे कुमार विवाह के लिये चले। रास्ते में वाड़े में बंद किये हुए पशुओं की पुकार सुनकर उनने अपने सारथी से पूंछा कि ये विचारे क्यों दुःखी हो रहे हैं? सारथी ने कहाः—प्रभो! आपके विवाह में आये हुए मेहमानों के भोजन के लिये ये वाड़े में बंद कर रक्खे गये हैं।

अरे, रे! मेरे विवाह के लिये यह घोर हिंसा! समझदार को सिर्फ इशारा ही काफ़ी होता है। सारथी के एक वाक्य ने राजकुमार के सामने 'मेरा, विवाह, ये दीन निर्दोष पशु, इन का बलिदान, आत्मा, आत्मा की शक्ति, संसार और उसके विषयों का परिणाम' आदि सभी का मूर्तिमंत चित्र उपस्थित कर दिया। एक क्षण में ही क्या से क्या हो गया! विवाह के हर्ष से प्रफुल्लित मुखारविंद वैराग्य के ओजस से कुम्हला गया। जिसकी किसी को भी कल्पना तक न थी वह सामने आकर खड़ा हो गया! राजकुमार विवाह किये विना ही वहीं से लौट पड़े। कंकण, मौर आदि विवाह के चिन्ह रथ ही में छोड़ दिये और पूर्ण युवावस्था में ही राजपाट, भोग-विलास आदि सब सांसारिक वैभवों को छोड़ कर वे महायोगी बन गये।

एक छोटा सा विचार, एक क्षुद्र घटना, कैसा अजब परिवर्तन कर डालती है! भाविक आत्मा एक छोटे से छोटा निमित्त

पाकर किस प्रकार सावधान हो जाती है। और ऐसी साव-धान आत्मा क्या नहीं कर सकती आदि के आदर्श दृष्टांत इस अध्ययन में वर्णित हैं।

भगवान बोले—

(१) पूर्वकाल में, शौर्यपुर (सौरीपुर) नामक नगर में राज लक्षणों से युक्त तथा महान ऋद्धिमान वसुदेव नामका राजा हो गया है।

(२) उस राजा वसुदेव के देवकी तथा रोहिणी नामकी दो रानियां थीं। उनमें से रोहिणी के बलभद्र (बलदेव) तथा देवकी के कृष्ण वासुदेव ये दो सुन्दर पुत्र थे।

(३) उसी सौरीपुर नगर में एक दूसरे महान ऋद्धिमान तथा राज लक्षणों से युक्त समुद्रविजय नामके राजा रहते थे।

(४) उनके शिवा नामकी रानी थी और उसके उदर से महा-यशस्वी, समस्त लोक का स्वामी, इन्द्रियों के दमन करने वालों में श्रेष्ठ अरिष्टनेमि नामका भाग्यवान पुत्र उत्पन्न हुआ था।

(५) वह अरिष्टनेमि शौर्य, गम्भीर आदि गुणों से तथा सुस्वर से युक्त थे तथा उनका शरीर स्वस्तिक, शंख, चक्र, गदा, आदि एक हजार आठ उत्तम लक्षणों से युक्त था। उनके गोत्र का नाम गौतम था। तथा शरीर का रंग श्याम था।

(६) वे वज्रऋषभनाराचसंघयण तथा समचतुरस्र संस्थान (चारों तरफ से जिस शरीर की आकृति समान हो) के धारक थे। उनका उदर मच्छ के समान रमणीय था। उन नमीश्वर

के साथ विवाह करने के लिये श्रीकृष्ण महाराज ने राजीमती नाम की कन्या की मंगनी की थी।

टिप्पणी—संघयण (संहनन) अर्थात् शरीर का गठन। गठन की दृष्टि से शरीर पांच प्रकार के होते हैं और उनमें से वज्रऋषभनाराच-संघयण सबसे श्रेष्ठ होता है। यह शरीर इतना तो मजबूत होता है कि महापीड़ा को भी वह आसानी से सह सकता है। नेमिराज बाल्यकाल से ही सुसंस्कारी थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की उनकी लेशमात्र भी इच्छा न थी। वे तो वैराग्य में डूबे हुए थे। परन्तु अपने चचेरे भाई कृष्ण महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करके वे चुप रहे। उस मौन का "मौन अर्धसम्मति" के अनुसार यथेच्छ मतलब लेकर कृष्ण महाराज ने उग्रसेन महाराजा से उनकी रूपवन्ती कन्या राजीमती की मंगनी की।

(७) वह राजीमती कन्या भी उत्तम कुल के राजा उग्रसेन की पुत्री थी। वह सुशीला, सुनयना, तथा स्त्रियों के सर्वोत्तम लक्षणों से युक्त थी। उसकी कांति बिजली जैसी दीप्तिमान थी।

(८) (जब कृष्ण महाराज ने उसकी मंगनी की तब) उसके पिता ने विपुल समृद्धिशाली वासुदेव को सन्देश भेजा कि यदि कुमार श्री नेमिनाथ विवाह के लिये यहां पधारेंगे तो मैं अपनी कन्या उनको अवश्य व्याह दूंगा।

टिप्पणी—उन दनों क्षत्रिय कुल में ऐसा रिवाज था (और यह रिवाज अब भी महाराष्ट्र में बहुत जगह प्रचलित है) कि वधु के सगे सम्बन्धी उसको लेकर वर राजा के नगर में आ जाते थे और वहीं मण्डप रच कर बड़ी धूम धाम के साथ विवाह करते थे। किसी किसी राज कुटुम्बों में ऐसा रिवाज था कि वधू का विवाह वरराजा के बदले उसकी तलवार या ऐसे ही किसी अन्य चिन्ह के साथ करा

दिया जाता था। इससे ऐसा मालूम होता है कि उग्रसेन ने यह एक नये प्रकार की मांग की थी।

(९) नेमिराज को नियत तिथि पर उत्तम औषधियों (सुगन्धित उवटनों) का लेप किया गया और अनेक मंगलाचारों के साथ उनके माथे पर मंगल तिलक भी लगाया गया। इस के बाद उन्हें उत्तम प्रकार के वस्त्र पहिनाये गये तथा उन्हें हार, कण्ठा, कंकण आदि रत्न जटित उत्तम प्रकार के आभूषणों से विभूषित किया।

(१०) वासुदेव राजा के ४२ लाख हाथियों में से सबसे बड़े मदोन्मत्त गन्धहस्ति पर वे आरूढ़ हुए और जैसे मस्तक पर चूड़ामणि शोभित होता है वैसे ही उस हाथी पर आरूढ वे शोभित होते थे।

(११) उनके सिर पर उत्तम छत्र लटक रहा था और उनके दायें बायें दोनों तरफ चंवर ढुल रहे थे और दश, दशार्ह आदि सब यादव उनको चारों तरफ से घेरे हुए थे।

(१२) उनके साथ में हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल इन चारों प्रकारों की सुव्यवस्थित सुसज्जित सेना थी। उस समय भिन्न भिन्न बाजों के दिव्य तथा गगनस्पर्शी शब्द से तमाम आकाश गूंज रहा था।

(१३) इस तरह सर्वोत्तम समृद्धि तथा शरीर की उत्तम कान्ति से शोभित वे यादवकुलभूषण नेमिश्वर अपने घर से विवाह के लिये बाहर निकले।

(१४) अपने श्वसुर गृह के लग्न मण्डप में पहुँचने के पहिले ही रास्ते में जाते जाते वाड तथा पिंजरों में बन्द किये

हुए दुःखी तथा मृत्यु के भय से पीड़ित पशु पक्षियों को उनने सामने देखा।

टिप्पणी—ये जानवर विवाह में आये हुए मेहमानों के जीमन के लिये रक्खे गये थे क्योंकि उन दिनों बहुत से अजैन क्षत्रिय राजा मांसाहार करते थे।

(१५) जिनके मांस से जीमन होने वाला था ऐसे मृत्यु के पास पहुँचे हुए उन प्राणियों को देख कर वे बुद्धिमान नेमिनाथ सारथी को लक्ष्य करके इस प्रकार बोले:—

(१६) सुख के इच्छुक इन प्राणियों को बाड़े और पिंजराओं में क्यों बन्द कर रक्खा है?

(१७) यह प्रश्न सुन कर सारथी ने कहा—"प्रभो! इन सब निर्दोष प्राणियों को आपके विवाह में आये हुये लोगों को जिमाने के लिये यहां बन्द कर रक्खा है।"

(१८) "आपके विवाह के कारण इतने जीवों की हिंसा"—यह वचन सुन कर सब प्राणियों पर असीम अनुकम्पा के धारक बुद्धिमान नेमिराज बड़े ही सोचविचार में पड़ गये।

(१९) यदि केवल मेरे ही कारण से ये असंख्य निर्दोष जीव मारे जाते हों तो ऐसी वस्तु मेरे लिये इस लोक तथा परलोक दोनों में ही लेशमात्र भी कल्याणकारी नहीं है।

टिप्पणी—अनुकम्पा वृत्ति के दिव्य प्रभाव ने उनके हृदय में हल चल मचादी। सबसे पहिले तो उनको यह विचार हुआ कि विवाह जैसी सामान्य क्रिया में भी ऐसी घोर हिंसा! उफ्! ज़रा से रसास्वाद में इतना अनर्थ, संसार के पामर (नीच) जीव क्या दूसरों के दुःखों को

जानने की भावना को बिलकुल ही खो बैठे हैं? ऐसा सामान्य विचार भी उनको क्यों न होता होगा! ठीक है, जहां वह दृष्टि ही नहीं है वहां विचार कहां से पैदा हो सकता है? जहां परम्परा का अन्धा अनुकरण किया जाता है वहां विवेक कहां से आवे? ऐसे अनर्थ संयोगों से क्या लाभ? ऐसे सम्बन्धों से पतन के सिवाय उन्नति कहां थी? ऐसा विचार करने के परिणाम स्वरूप उन्हें तीव्र निर्वेद (वैराग्य) हुआ जिससे उनकी सांसारिक आसक्ति उड़ गई। रमणी (स्त्री) के कोमल प्रलोभन का चेप उनको लुभा न सका।

(२०) तुरन्त ही उन यशस्वी नेमिनाथ ने अपने कानों के दोनों कुंडल, लग्न के चिन्ह (मोर मुकुट, कंकण आदि), तथा अन्य समस्त आभूषण उतार कर सारथी को दे दिये और रथ से उतर वहीं से पीछे लौट चले।

टिप्पणी—ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि नेमिनाथ आगे न जाकर घर की तरफ पीछे लौट पड़े थे। इस आकस्मिक परिवर्तन से उनके सगे सम्बन्धी तथा तमाम बरातियों को बड़ा दुःख हुआ और उनने उन्हें बहुत समझाया-बुझाया, अनुनय-विनय की, सब कुछ किया किन्तु वे पीछे न लौटे। दिन प्रति दिन उनका वैराग्य भाव प्रबल होता गया। वर्षीदान (प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षा लेने के पहिले एक वर्ष तक महामूलादान किया करते हैं उसे) देकर अन्त में एक हजार साधकों के साथ वे दीक्षित हुए।

(२१) नेमिनाथ ने घर आकर ज्यों ही चारित्र धारण करने का विचार किया त्योंही उनके पूर्व प्रभाव से प्रेरित होकर दिव्य ऋद्धि तथा बड़ी परिषद् (समूह) के साथ बहुत से लोकांतिक देव भगवान का निष्क्रमण तप कल्याणक मनाने के लिये मनुष्यलोक में उतरे।

टिप्पणी—जैन धर्मानुसार नेमिनाथ चौवीस तीर्थंकरों में से बाईसवें तीर्थंकर है। अनेक जन्मों में तीव्रतर पुरुषार्थ करते रहने के बाद ही तीर्थंकर पद मिलता है। जिस समय तीर्थंकर भगवान अभिनिष्क्रमण करते (दीक्षा लेते) हैं उस समय देवों में भी प्रशस्त देव वहां आकर्षित होकर उपस्थित होते हैं। उन्हें लोकांतिक देव कहते हैं।

(२२) इस प्रकार अनेक देवों तथा मनुष्यों के परिवारों से घिरे हुए वे नेमिश्वर रत्न की पालकी पर सवार हुए और द्वारका नगरी (अपने निवासस्थान) से निकल कर रैवतक (गिरनार) पर्वत के उद्यान में गये।

(२३) उद्यान में पहुँच कर वे देवनिर्मित पालकी से उतर पड़े और एक हजार साधकों के साथ उनने चित्रानक्षत्र में दीक्षा अंगीकार की।

टिप्पणी—श्रीकृष्ण के ८ पुत्र, बलदेव के ७२ पुत्र, श्रीकृष्ण के ५६२ भाई, उग्रसेन के ८ पुत्र, नेमिनाथ के २८ भाई, देवसेन मुनि आदि १०० तथा २१० यादव पुत्र, ८ बड़े राजा, पुत्र सहित अक्षोभ और वरदत्त इस तरह सब मिलकर १००० साधकों के साथ चित्रा नक्षत्र में भगवान नेमिनाथ ने दीक्षा धारण की थी।

(२४) पालकी में से उतर कर दीक्षा धारण करते समय उनने हाथ से अपने सुगंधमय, सुकोमल घुंघराले बालों का पंचमुष्टि लोंच किया तथा समाधिपूर्वक साधुत्व ग्रहण किया।

(२५) जितेन्द्रिय तथा लुंचित केश उनको देखकर श्रीकृष्ण महाराज ने कहा:—हे संयतीश्वर! आप अपने अभीष्ट श्रेय (मुक्ति) को शीघ्र प्राप्त करो।

(२६) और ज्ञान, दर्शन, तथा चारित्र से तथा क्षमा, निर्लोभता आदि गुणों के द्वारा नित्य आगे आगे बढ़ते रहो।

टिप्पणी—ज्ञान, दर्शन, तथा चारित्र इन तीन की पूर्ण प्राप्ति होने से जैनधर्म मुक्ति होना मानता है। ज्ञान अर्थात् आत्मा की पहिचान दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन और चारित्र का अर्थ आत्मरमणता है। इस त्रिपुटी की तन्मयता की ज्यों २ वृद्धि होती जाती है त्यों २ कर्मों के बन्धन ढीले पड़ते जाते हैं और जब आत्मा कर्मों से सर्वथा अलिप्त हो जाता है उस स्थिति को मुक्ति कहते हैं।

(२७) इस प्रकार बलभद्र, कृष्ण महाराज, यादव तथा अन्य नगरनिवासी जन अरिष्टनेमि को प्रणाम कर फिर वहाँ से द्वारिका नगरी में आये।

(२८) इस तरफ़ वह राजकन्या राजीमती, अरिष्टनेमि के यकायक दीक्षा धारण के समाचार सुनकर हास्य तथा आनन्द से रहित होकर शोक की अधिकता से मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी।

(२९) होश आने पर राजीमती विचार करने लगी कि युवान राजकुमार ने तो मुझे त्याग दिया और राजपाट तथा भोग सुख छोड़कर तथा दीक्षा धारण कर वे योगी बन गये और मैं अभी यहीं (घर ही में) हूँ। मेरे जीवन को धिक्कार है। मुझे भी दीक्षा लेनी चाहिये—इसीमें मेरा कल्याण है।

(३०) इसके बाद पूर्ण वैराग्य से प्रेरित होकर उन धैर्यशील राजीमती ने भौंरों के समान काले तथा कंघी से काढे

हुए अपने नरम केशों को स्वयमेव लुंचन कर दीक्षा धारण की।

(३१) कृष्ण वासुदेव ने मुंडित तथा जितेन्द्रिय राजीमती को आशीर्वाद दिया :—"हे पुत्री! इस भयंकर संसार को शीघ्र पार करो।"

(३२) जब ब्रह्मचारिणी तथा विदुषी राजीमती ने दीक्षा ली थी तब उनके साथ उनकी बहुत सी सहेलियों तथा सेविकाओं ने दीक्षा धारण की।

(३३) एक बार गिरनार पर्वत पर जाते हुए, मार्ग में बहुत वर्षा होने से राजीमती के वस्त्र पानी में तरबतर हो गये और अंधकार के घिर आने से वे पास की एक गुफा में खड़ी हो गईं।

टिप्पणी—अकस्मात से जिस गुफा में जाकर राजीमती खड़ी हुई थी उसीमें समुद्रविजय के पुत्र राजकुमार रथनेमि, जिनने पूर्ण यौवन में दीक्षा ली थी, वे भी ध्यान धरे बैठे हुए थे।

(३४) गुफा में कोई नहीं है ऐसा अनुमानकर तथा अन्धकार के कारण राजीमती अपने भींजे हुए कपड़ों को उतारने लगी और बिलकुल नग्न होकर उनको सुखाने लगीं। इस दृश्य से रथनेमि का चित्त विषयाकुल हो गया। इसी समय राजीमती की दृष्टि भी उस पर पड़ी।

टिप्पणी—एकान्त अति भयंकर वस्तु है। आत्मा में बीज रूप में छिपी हुई वासनाएं एकान्त देखकर, राख में छिपी हुई आग की तरह, फिर चमकने लगती हैं, फिर उसमें स्त्री का और वह भी नग्न—का सहवास तो अडोल योगी को भी चलायमान कर डालता है। प्रौढ़

तपस्वी रथनेमि केवल एक छोटे से निमित्त से क्षणभर में नीचे गिर पड़ता है !

(३५) (रथनेमि को देखते ही) एकान्त में उन संयमी को देखकर राजीमती भयभीत होगई। (जाने विना, एक मुनि के सामने नग्न होगई इस भय से) उनकी देह कांपने लगी और अपने दोनों हाथों से गुह्यांगों को छिपा कर वे नीचे बैठ गई।

टिप्पणी—वस्त्र दूर पर सूख रहे थे। स्थल भी एकान्त था। स्त्रीजातिसुलभ लज्जा तथा भय के आवेगों का द्वंद (युद्ध) चल रहा था। इस समय मर्कटवद्ध आसन से बैठ कर उनने दोनों हाथों से अपने गुह्य अङ्ग छिपा लिये।

(३६) उसी समय समुद्रविजय के अंगजात (पुत्र) राजकुमार रथनेमि राजीमति को भयभीत देखकर इस तरह बोले:—

(३७) हे सरले ! मैं रथनेमि हूँ। हे रूपवती ! हे मंजुभाषिणी ! मुझ से तुझे लेशमात्र भी दुःख नहीं पहुँचेगा। हे कोमलांगि ! आप मुझे सेवन करो।

(३८) यह मनुष्य भव दुर्लभ है, इसलिये चलो, हम दोनों भोगों को भोगें। उनसे तृप्त होने के वाद, भुक्तभोगी होकर फिर हम दोनों जिनमार्ग का अनुसरण करेंगे (संयम ग्रहण करेंगे)।

(३९) इस प्रकार संयम में कायर वने हुए तथा विकारों को जीतने के उद्योग में बिलकुल निष्फल हुए उस रथनेमि को देखकर राजीमती होश में आई। स्त्रीशक्ति से अपनी

आत्मा को उन्नत बनाकर उनने उसी समय वस्त्रों को लेलिया और अपना शरीर ढंक लिया।

(४०) अपनी प्रतिज्ञा तथा व्रत में दृढ़ होकर तथा अपनी जाति, कुल, तथा शील का रक्षण करते हुए उस राजकन्या ने रथनेमि को इस प्रकार उत्तर दिया:—

(४१) यदि कदाचित् तू रूप में कामदेव भी होता, लीला (हाव-भाव) में नलकुबेर होता अथवा साक्षात् शक्रेन्द्र ही क्यों न होता तो भी मैं तेरी इच्छा नहीं करती।

अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प प्रज्वलित अग्नि में जल कर मर जाना पसंद करते हैं किन्तु उगले हुए विप को पुनः पीना पसंद नहीं करते।

(४२) हे अपयश के इच्छुक! तुझे धिकार है कि तू वासनामय जीवन के लिये वमन किये हुए भोगों को पुनः भोगने की इच्छा करता है। ऐसे पतित जीवन की अपेक्षा तो तेरा मर जाना बहुत अच्छा है।

(४३) मैं भोजकविष्णु की पौत्री तथा महाराज उग्रसेन की पुत्री हूं और तुम अधंकविष्णु के पौत्र तथा समुद्रविजय महाराज के पुत्र हो। देखो हम दोनों गंधनकुल के सर्प न बनें! हे संयमीश्वर! निश्चल होकर संयम में स्थिर होओ।

(४४) हे मुनि! जिस किसी भी स्त्री को देखकर यदि तुम इस तरह काममोहित हो जाया करोगे तो समुद्र के किनारे पर खड़ा हुआ हड नाम का वृक्ष जैसे हवा के एक ही झोंके से गिर पड़ता है वैसे ही तुम्हारी आत्मा उच्च भूमिका (पदस्थ) से नीचे गिर पड़ेगी।

(४५) जिस तरह ग्वाला गायों को चराता है किन्तु वह उनका मालिक नहीं है, वह तो केवल अपनी लाठी का ही धनी है; और जैसे भंडारी भंडार में रक्खे हुए धन धान्य का मालिक नहीं है किन्तु केवल चाबीका ही धनी है; वैसे ही यदि तुम भी विषयाभिलाषी बने रहोगे तो हे रथनेमि ! संयम पालने पर भी तुम चारित्र के नहीं किन्तु वेश मात्र के ही धनी रहोगे।

इसलिये हे रथनेमि ! क्रोध, मान, माया और लोभ को दबाकर अपनी पांचों इन्द्रियों को वश कर, अपनी आत्मा को विषयभोगों से पीछे मोड़ो ।

(४६) ब्रह्मचारिणी उस साध्वी के इन आत्मस्पर्शी अर्थपूर्ण वचनों को सुनकर, जैसे अंकुश से हाथी वश में आता है वैसे ही रथनेमि शीघ्र ही वश में आगये और संयम धर्म में बराबर स्थिर हुए ।

टिप्पणी—यहां हाथी का दृष्टांत दिया है तो रथनेमि को हाथी, राजीमती को महावत तथा उनके उपदेश को अंकुश समझना चाहिये। रथनेमि का विकार क्षणमात्र में शांत होगया। आत्मभान जागृत होने पर उन्हें अपनी इस कृति पर घोर पश्चात्ताप भी हुआ। किन्तु जिस तरह आकाश में बादल आने से कुछ देर के लिये सूर्य ढँक जाता है किन्तु बाद में पुनः अपने प्रचंड ताप से चमकने लगता है वैसे ही वे भी अपने संयम से दीप्त होने लगे। सच है, संयम का प्रभाव क्या नहीं करता ?

धन्य है, वह जगज्जननी ब्रह्मचारिणी मैया ! मातृशक्ति के ये दिव्य आंदोलन आज भी स्त्रीशक्ति की भव्यता की साक्षी दे रहे हैं !

(४७) रथनेमि तबसे मन, वचन और काय से सुसंयमी तथा सर्वोत्कृष्ट जितेन्द्रिय हो गये और आजीवन अपने व्रत में अखंड रूप से दृढ़ रहे और जब तक जिये तब तक अपने चारित्र धर्म को शोभित करते रहे।

टिप्पणी—राजीमती का उपदेश उनके रोम रोम में व्याप्त होगया और वे अपने चारित्र धर्म में मेरु के समान अडोल अकंप स्थिर हुए।

(४८) इस प्रकार अन्त में उग्र तपश्चर्या करके ये दोनों जीव (राजीमती तथा रथनेमि) केवलज्ञानधारी हुए और सर्व कर्मों के बंधनों को तोड़ कर सर्वोत्तम गति—अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए।

(४९) जिस तरह उन पुरुष शिरोमणि रथनेमि ने अपने मन को विषयभोग से क्षणमात्र में हठा लिया वैसे ही विचक्षण तथा तत्त्वज्ञ पुरुष भी विषयभोगों से निवृत्त होकर परम पुरुषार्थ में संलग्न हों।

टिप्पणी—स्त्रीशक्ति कोमल है, उसकी गति मंद है, उसका ऐश्वर्य भय से आक्रांत है, स्त्रीशक्ति का सूर्य लज्जा के बादलों से घिरा हुआ है—यह सब कुछ सच है, पर कब तक? जब तक उपयुक्त अवसर न आवे तबतक। अवसर के आते ही लज्जा के बादल बिखर जाते हैं, सहजसुलभ कोमलता प्रचंडता के रूप में पलट जाती है और वह तेजस्वी सूर्य के समान चमचमाने लगती है। उस समय जगत का सारा बल परास्त होता है। पुरुषशक्ति का आवेश पूर्ण होकर उतर जाता है और अन्त में इसी शक्ति की विजय होती है।

रथनेमि यद्यपि पूर्वजन्म के योगीश्वर थे, आत्मध्यान में मस्त रहनेवाले थे, किन्तु आत्मा में अनंत काल से रहीं हुईं वासनाओं के बीजों को भस्मीभूत करने के लिये उनका अब तक का इतना

ज्ञान, ध्यान और वैराग्य अपूर्ण था। हाथी को खींचने के लिये हाथी की ही जरूरत पड़ती है। अनंतकालीन वासनाओं के बीजों को नष्ट करने के लिये आत्मशक्ति का सूर्य अत्यंत प्रखर होना चाहिये। रथनेमि अभी तक उस कक्षा को प्राप्त नहीं हुए थे इसीलिये लेशमात्र निमित्त पाते ही वे डाँवाडोल हो गये।

इस प्रसंग में राजीमती का तीव्र तपोबल तथा निर्विकारिता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। ऐसे कठिन प्रसंग में उनका यह धैर्य तथा पराक्रम ये दोनों उनके सीमातीत आत्मबल के अकाट्य प्रमाण हैं।

रथनेमि भी पूर्वयोगी थे इसीलिये तो एक संकेत मात्र से अपने मार्ग पर आगये; नहीं तो परिणाम क्या आता उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। उन्हें केवल एक संकेत की जरूरत थी और वह उन्हें राजीमती द्वारा मिल गया।

धन्य हो, धन्य हो, उस योगिनी और योगीश्वर को! प्रलोभन के प्रबल निमित्त में फंस जाने पर भी ये दोनों आत्माएं अडोल-अकंप रहीं और उत्तम आचार पर स्थिर रहकर दोनों ही आत्मज्योति में स्थिर हुईं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'रथनेमीय' नामक बाईसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

केशिगौतमीय
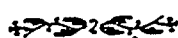
केशिमुनि तथा गौतम का संवाद

२३

पांच महाव्रत—ये साधु के 'मूलगुण' कहलाते हैं। आत्मोन्नति के ये ही सच्चे साधन हैं। बाकी की दूसरी क्रियाएं 'उत्तर गुण' कहलाती हैं और उनका उद्देश्य मूलगुणों को पुष्ट करना है।

मूल उद्देश्य कर्मबंधन से मुक्त होना अथवा मोक्ष की सिद्धि (प्राप्ति) करना है और उस मार्ग में जाने के मूलभूत तत्त्वों में तो किसी काल में, किसी भी समयमें, किसी भी परिस्थिति में परिवर्तन नहीं होता। सत्य सदैव त्रिकालाबाधित होता है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता।

किन्तु उत्तर गुणों तथा क्रियाओं के विधिविधानों में काल, समय तथा परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन हुए हैं, होते हैं, और होंगे भी। समयधर्म की आवाज की तरफ ध्यान दिये विना चलते जाने में भय तथा हानि होने की संभावना है। समयधर्म को पहिचान कर सरल मार्ग से केवल आत्मलक्ष को

सामने रखकर गति करते जाने में ही सत्य की, धर्म की, तथा शासन की रक्षा अन्तर्हित है।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर के समय की यह कथा है। भगवान महावीर ने समयधर्म को पहिचान कर साधुजीवन की चर्या में महान परिवर्तन किया था। पहिले से आती हुई श्री पार्श्वनाथ की परंपरा में बहुत कुछ नवीनता ला दी थी तथा कठिन विधिविधान स्थापित कर जैनधर्म का पुनरुद्धार किया था। समयधर्म को बराबर पहिचानने के कारण ही जैनशासन की धर्मध्वजा तत्कालीन वेद तथा बौद्ध धर्मों के शिखर पर फरकने लगी थी।

भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा को माननेवाले केशिश्रमण सपरिवार विहार करते हुए श्रावस्तीनगरी में पधारे थे। उसी समय भगवान महावीर के गणधर गौतम भी सपरिवार वहां पधारे। दोनों समुदायों का मिलाप वहां हुआ। एक संघ के शिष्यों को दूसरे संघ के शिष्यों को एक ही धर्म किंतु दूसरी क्रिया पालते हुए देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। शिष्यों की शंका का निवारण करने के लिये दोनों ऋषिपुंगव (केशीमुनि तथा गौतम) मिले—भेंटे। परस्पर विचारों का समन्वय किया और अन्त में वहीं पर केशीमुनीश्वर ने समयधर्म को स्वीकारा और भगवान महावीर की परंपरा में दीक्षित होकर जैनशासन का जयजयकार कराया।

भगवान बोले—

(१) सर्वज्ञ (सब पदार्थों तथा तत्त्वों के संपूर्ण ज्ञाता), सद्धर्म रूप तीर्थ के स्थापक तथा समस्त लोक द्वारा पूजनीय पार्श्वनाथ नाम के अर्हन् जिनेश्वर हो गये हैं।

टिप्पणी—जब की यह घटना है उस समय भगवान महावीर का शासन प्रवर्त रहा था। भगवान महावीर के पहिले २३ तीर्थंकर—धर्म के पुनरुद्धारक पुरुष—और हो गये हैं। उनमें से २३वें तीर्थंकर का नाम पार्श्वनाथ है। भगवान पार्श्वनाथ की आत्मा तो बहुत पहिले ही सिद्धपद प्राप्त कर चुकी थी, इस समय मात्र उनके दिव्य आन्दोलन तथा उनका अनुयायी मंडल ही मौजूद था।

(२) लोकालोक के समस्त पदार्थों को अपने ज्ञानप्रदीप (ज्योति) के प्रकाश द्वारा प्रकट करनेवाले उन महाप्रभु के शिष्य, महायशस्वी तथा ज्ञान एवं चारित्र के पारगामी केशीकुमार नाम के श्रमण उस समय विद्यमान थे।

(३) वे केशीकुमार मुनि, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान इन तीन ज्ञानों के धारक थे। एक बार बहुत से शिष्यों के साथ गामगाम विचरते हुए वे श्रावस्तीनगरी में पधारे।

टिप्पणी—जैनदर्शन में ज्ञान की ५ श्रेणियाँ हैं :—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान तथा (५) केवलज्ञान। मतिज्ञान (अथवा मति अज्ञान) तथा श्रुत ज्ञान (अथवा श्रुत अज्ञान)—ये दो ज्ञान तो यावन्मात्र प्राणियों को तरतम (कमज्यादा) प्रमाण में होते हैं। शुद्ध ज्ञान को ही सज्ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान अशुद्ध अथवा विपर्यासवाला होता है उसे अज्ञान कहते हैं। सम्यक् अवबोध (जानना) इसका नाम मतिज्ञान है और इससे भी अधिक विशिष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान जिसको जितनी मात्रा में अधिक होगा उतना ही उसका बुद्धिवैभव भी अधिक होगा। अवधिज्ञान केवल उच्च कोटि के मनुष्यों तथा देवों को ही होता है और उसके द्वारा सुदूरस्थ पदार्थों की भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी पर्यायों को

जाना जा सकता है। ये तीनों ज्ञान अशुद्ध भी हो सकते हैं और यदि ये अशुद्ध हों तो उनके नाम क्रमशः मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान तथा विभंग ज्ञान (कुअवधिज्ञान) होते हैं। मनःपर्यय यह केवल शुद्ध ज्ञान है और यह ज्ञान छट्टे से बारहवें गुणस्थानक वर्ती संयमी साधु को ही होता है। इस ज्ञान के द्वारा वह दूसरे के मन की बात यथावत् जान सकता है। सब से अधिक विशुद्ध केवल आत्मभानरूप जो ज्ञान होता है उसे 'केवल-ज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान घातिया कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शना-वरणीय, मोहनीय तथा अंतराय) के नाश होने पर ही प्रकट होता है और इस ज्ञान के धारक को 'केवली' (सर्वज्ञ) कहते हैं। ऐसे सर्वज्ञों को संसार में फिर दुबारा जन्म नहीं लेना पड़ता। ज्ञान के प्रकारों का विस्तृत वर्णन नंदीजी आदि सूत्रों में दिया है, जिन्हें देखना हो वे वहां देख लेवें।

(४) उस श्रावस्तीनगरी में नगरमण्डल के बाहर तिन्दुक नामका एक एकान्त (ध्यान धरने योग्य) उद्यान था। वहां पवित्र तथा अचित्त घास की शय्या तथा आसनों की याचना कर उस विशुद्ध भूमि में उनने वास किया।

(५) उस समय में वर्तमान उद्धारक तथा धर्मतीर्थ के संस्थापक जिनेश्वर भगवान वर्धमान समस्त संसार में सर्वज्ञ तरीके प्रसिद्ध हो चुके थे।

(६) लोक में ज्ञान प्रद्योत से प्रकाशमान प्रदीप स्वरूप उन भग-वान के ज्ञान तथा चारित्र के पारगामी महायशस्वी गौतम नाम के एक शिष्य थे।

(७) बारह अंगों के प्रखर ज्ञाता वे गौतम प्रभु भी बहुत से शिष्य समुदायके साथ गामगाम विचरते हुए उसी श्रावस्ती-नगरी में पधारे।

टिप्पणी—अब भी उन १२ अंगों में से ११ अंग मौजूद हैं, केवल एक दृष्टिवाद नाम का अंग उपलब्ध नहीं है। उन अंगों में पूर्व तीर्थंकरों तथा भगवान महावीर के अनुभवी वचनामृतों का संग्रह किया गया है।

(८) उस नगरमंडल के समीप कोष्टक नाम का एक उद्यान था। वहाँ पर विशुद्ध स्थान तथा तृणादि की अचित्त शय्या की याचना कर उनने निवास किया।

(९) इस तरह श्रावस्तीनगरी में कुमार श्रमण केशीमुनि और महायशस्वी गौतम मुनि ये दोनों सुखपूर्वक तथा ध्यान-मग्न समाधिपूर्वक रहते थे।

टिप्पणी—उन दिनों गाँव के बाहर उद्यानों में त्यागी पुरुष निवास करते थे और गाँव में भिक्षा मांगकर संयमी जीवन बिताते थे।

(१०) एक समय (भिक्षाचरी करने के निमित्त) निकले हुए उन दोनों के शिष्यसमुदाय को जो पूर्ण संयमी, तपस्वी, गुणी तथा जीवरक्षक (पूर्ण अहिंसक) था, एक ही धर्म के उपासक होने पर भी एक दूसरे के वेश तथा साधु-क्रियाओं में अन्तर दिखाई देने से, एक दूसरे के प्रति यह विचार (सन्देह) उत्पन्न हुआ।

(११) भला यह धर्म कौनसा है? और जो हम पालते हैं वह धर्म कौनसा है? इनके आचारधर्म की क्रिया कैसी है और जिसको हम पालते हैं उसकी क्रियायें कैसी हैं?

टिप्पणी—भगवान पार्श्वनाथ का काल ऋजु तथा प्राज्ञ काल था। उस समय के मनुष्य अति सरल तथा बुद्धिमान थे इसीलिये उस प्रकार की धर्मरचना प्रवर्तती थी। उस समय केवल ४ महाव्रत थे। साधु रंगीन मनोहर वस्त्र पहिनते थे क्योंकि सुन्दर वस्त्र परिधान में या जीर्ण वस्त्र परिधान में तो मुक्ति है नहीं, मुक्तितो निरासक्ति में है-ऐसी मान्यता के कारण वैसी प्रणालिका चालू हुई थी और उस दिन तक मौजूद थी। एक ही जैनधर्म को मानते हुए भी बाह्य क्रिया में इतना अधिक अन्तर क्यों? उनको यह शंका होना स्वाभाविक था। ये दोनों गणधर तो ज्ञानी थे, उनको इस वस्तु में कोई महत्त्व या निकृष्टत्व नहीं लगता था परन्तु शिष्यवर्ग को ऐसी शंका होना स्वाभाविक था। उसका समाधान करने के लिये परस्पर मिल कर समन्वय कर लेना—यह भी उन महापुरुषों की उदारता तथा समयसूचकता का ही द्योतक है।

(१२) धर्म चार महाव्रत स्वरूप है, जैसा कि भगवान पार्श्वनाथ ने कहा है अथवा पंच महाव्रत स्वरूप है जैसा कि भगवान महावीरने कहा है? तो उस भेद का कारण क्या है?

(१३) तथा अल्पोपधि (श्वेत वस्त्र और वस्त्ररहित) वाले साधु आचार में जो भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित किया गया है तथा पँचरंगी वस्त्र धारण करने के साधु आचार में जो भगवान पार्श्वनाथ द्वारा प्ररूपित है, इन दोनों प्रकार के आचारों में सच्चा साधु आचार कौनसा है? इन दोनों में क्यों ऐसा अन्तर है? जब इन दोनों का ध्येय एक ही है तो इनकी क्रियाओं (बाह्याचारों) में इतना अन्तर क्यों है?

टिप्पणी—उस समय दोनों प्रकार के मुनि थे जिनमें से एक का नाम 'जिनकल्पी' तथा दूसरे का नाम 'स्थविरकल्पी' था। जिनकल्पी साधु देहाध्यास का सर्वथा त्याग कर केवल आत्मपरायण रहते थे। किंतु स्थविरकल्पियों का काम उनसे अधिक क्लिष्ट था क्योंकि उनको समाज के साथ २ मिल कर रहते हुए भी निरासक्त भाव से काम करने पड़ते थे तथा आत्मकल्याण के साथ ही साथ परकल्याण कर इन दोनों हेतुओं की सिद्धि करते हुये आगे बढना पड़ता था। इसलिये यद्यपि वे स्वल्प परिग्रह रखते थे फिर भी वे उसमें ममत्व नहीं रखते थे। वे परिग्रह रखते हुए भी जिनकल्पी की महान उन्नत आत्मा जैसी उज्जवलता तथा सावधानी(अप्रमत्त भाव) रखते थे।

(१४) केशीमुनि तथा गौतममुनि इन दोनों महापुरुषों ने अपने शिष्यों का यह संशय जानकर उसकी निवृत्ति के लिये सब शिष्यसमूह के साथ परस्पर समागम करने की इच्छा व्यक्त की।

टिप्पणी—केशीमुनि की अपेक्षा गौतम मुनि उमर में छोटे थे किन्तु ज्ञान में बड़े थे। उस समय गौतम मुनि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान इन चार ज्ञानों के धारी थे।

(१५) विनय, भक्ति तथा अवसर के ज्ञानी गौतमस्वामी अपने शिष्यसमुदाय सहित केशीमुनि (पार्श्वनाथ के अनुयायी हैं इसलिये) के कुल को बड़ा मान कर तिन्दुक वन में उनके सन्निकट स्वयं जाकर उपस्थित हुए।

टिप्पणी—भगवान पार्श्वनाथ भगवान महावीर के पहिले हुए हैं इसलिये उनके अनुयायी भी बड़े माने जांयगे। इसीलिये ज्ञानवृद्ध होने पर भी केवल विनय पालने के लिये वे स्वयं वहां जाकर उपस्थित हुए। यही नम्रता ज्ञानपाचन का चिन्ह है।

(१६) शिष्यसमुदाय सहित गौतमस्वामी को स्वयं आते हुए देख कर केशीकुमार हर्ष में फूले न समाये और वे उनका अत्यंत प्रेमपूर्वक स्वागत करने लगे।

टिप्पणी—वेश तथा समाचरी भिन्न २ होने पर भी जहां पर संभोग—साम्प्रदायिक व्यवहार—का भूत सवार न हुआ हो, जहां विशुद्ध प्रेम (स्वामीवात्सल्य) उछलता हो और सम्प्रदायजन्य कदाग्रह न हो वहां का वातावरण अत्यंत प्रेमालू तथा विषमताशून्य हो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अहा! वे क्षण धन्य हैं, वे पलें सुफल हैं, वे समय अपूर्व हैं जहां ऐसा सच्चा मिलन होता है! संत-समागम का ऐसा एक ही क्षण करोड़ों जन्मों के पापसमूह को जलाकर भस्म कर देता है।

(१७) श्रमण गौतम भगवान को आते देखकर उत्साहपूर्वक उनके अनुरूप तथा प्रासुक (अचित्त शाली धान, व्रीहि, कौदरी तथा राल नामकी वनस्पति) चार प्रकार के पराल (सूखी घास) तथा पाँचवे डाभ तथा तृण के आसन ले लेकर केशीमुनि तथा उनके शिष्यसमुदाय ने गौतममुनि और उनके शिष्यसमुदाय को उन पर बिठाया।

(१८) उस समय का दृश्य अनुपम दिखाई देता था। कुमार केशीश्रमण तथा महायशस्वी गौतममुनि ये दोनों महापुरुष वहाँ बैठे हुए सूर्य तथा चंद्रमा के समान शोभित हो रहे थे।

(१९) इस पारस्परिक प्रश्नोत्तररूप चर्चा का कौतूहल देखने के लिये मृग समान बहुत से अज्ञ (भोले भाले अजान) साधु, बहुत से उत्सुक जन तथा बहुत से पाखंडी साधु भी वाँह

उपस्थित थे और लाखों की संख्या में वहाँ गृहस्थ भी मौजूद थे।

(२०) (आकाश मार्ग में अदृश्य रूप से) देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर तथा अदृश्य अनेक भूत भी वह दृश्य देखने के लिये वहां इकट्ठे हुए थे।

(२१) उस समय सबसे पहले केशीमुनि ने गौतम से यह कहा:— हे भाग्यवंत ! मैं आपसे कुछ प्रश्न पूंछना चाहता हूँ। उसके उत्तर में भगवान गौतम ने केशी महाराजर्षि को यह कहा—

(२२) हे भगवन् ! जो कुछ आप पूँछना चाहें वह आनंद के साथ पूँछिये। इस प्रकार जब गौतममुनि ने केशीमुनि को उदारतापूर्वक कहा तब अनुज्ञाप्राप्त केशी भगवान ने गौतम-मुनि से यह प्रश्न पूंछा:—

(२३) हे मुने ! भगवान पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतरूप धर्म कहा है; किन्तु भगवान महावीर पाँच महाव्रतरूप धर्म बताते हैं।

टिप्पणी—याम शब्द का अर्थ यहाँ महाव्रत किया है।

(२४) तो एक ही कार्य (मोक्षप्राप्ति) की सिद्धि के लिये नियोजित इन दोनों (तीर्थंकरों द्वारा निरूपित धर्म) के ये भिन्न भिन्न वेश तथा भिन्न भिन्न आचार रखने का प्रयोजन क्या है ? हे बुद्धिमान गौतम ! इस एक ही मार्ग में दो प्रकार के विधिकर्म क्यों हैं ? (इससे आपको क्या संशय अथवा आश्चर्य नहीं होता ?)

(२५) केशीश्रमण के इस तरह प्रश्न पूँछने के बाद गौतम मुनि ने उनको यह उत्तर दियाः—"शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही धर्म-तत्त्व का तथा परमार्थ का निश्चय किया जा सकता है।"

टिप्पणी—जब तक ऐसी शुद्ध तथा उदार बुद्धि (निष्पक्षता) नहीं होती तब तक साधक, साध्य (लक्ष्य) की अपेक्षा साधन की ही तरफ़ विशेष झुका रहता है। इसीलिये महापुरुषों ने काल को देखकर वैसी कठिन क्रियाओं का विधान किया है।

(२६) (२४ तीर्थंकरों में से) प्रथम तीर्थंकर (भगवान ऋषभ) के समय के मनुष्य बुद्धि में जड़ होने पर भी प्रकृति के सरल थे। और अन्तिम तीर्थंकर (भगवान महावीर) के समय के मनुष्य जड़ (बुद्धि का दुरुपयोग करनेवाले) तथा प्रकृति के कुटिल हैं। इन दोनों के बीच के तीर्थंकरों के समयों के जीव सरल बुद्धिवाले तथा प्राज्ञ थे। इसीलिये परिस्थिति को देखकर उसके अनुसार भगवान महावीर ने कठिन विधिविधान किये हैं।

(२७) ऋषभ प्रभु के अनुयायी पुरुषों को धर्म समझना कठिन होता था परन्तु समझने के बाद उसे धारण करने में समर्थ होने के कारण वे भवसागर पार उतर जाया करते थे किंतु इन अन्तिम भगवान (महावीर स्वामी) के अनुयायियों को धर्म समझाना तो सरल है परन्तु उनसे पलाना कठिन है। यही कारण है कि इन दोनों भगवानों के समय में पंचमहाव्रत स्वरूप यतिधर्म था और बीच के २२ तीर्थंकरों के समय में चार महाव्रतस्वरूप धर्म था।

टिप्पणी—समझने में कठिनता होने का कारण बुद्धि की जड़ता (मंदता) है किन्तु चारित्र धारण करने की कठिनता का कारण तत्कालीन मनुष्यों में चारित्रशैथिल्य का बढ़ जाना था।

(२८) यह स्पष्ट उत्तर सुनकर केशीस्वामी बोले:—हे गौतम! आप की बुद्धि सुन्दर है। हमारी इस शंका का समाधान हो गया। अब मैं अपनी दूसरी शंका कहता हूँ, हे गौतम! आप उसका समाधान करो।

(२९) हे महामुने! भगवान महावीर ने साधु समुदाय को प्रमाणपूर्वक केवल सफेद वस्त्र ही पहिरने की आज्ञा दी है किन्तु भगवान पार्श्वनाथ ने तो विविध रंग के वस्त्र पहिरने की साधुओं को छूट दी है।

टिप्पणी—"अचेलक" शब्द का अर्थ कोई कोई "अवस्त्र अथवा वस्त्रहीन" करते हैं। यद्यपि सामान्यरीति से नञ् समास का अर्थ नकारवाची किया जाता है और उस दृष्टि से यह अर्थ लिया भी जा सकता है परन्तु उस कालमें भी समस्त साधुसमुदाय वस्त्ररहित (दिगम्बर) न था। बहुत से दिगम्बर साधु थे बहुत से वस्त्रसहित साधु भी थे, क्योंकि भगवान महावीर ने वस्त्र की अपेक्षा वस्त्रजन्य मूर्छा को दूर करने पर विशेष ज़ोर दिया था। इसलिये यहां पर "नञ्" समास के छ अर्थों में से "ईषत् (अल्प)" अर्थ करना विशेष युक्ति-युक्त है।

(३०) ये दोनों (प्रकार के) साधु एक ही उद्देश्य सिद्धि में लगे हुए हैं फिर भी इस प्रकार के प्रत्यक्ष जुदे २ वेश चिन्ह धारण करने का अन्तर क्यों रखते हैं? हेबुद्धिमान्! क्या आपको इस विषय में शंका नहीं होती?

(३१) इस प्रकार प्रश्न पूंछे जाने के बाद गौतम मुनि ने केशी-मुनि को यह उत्तर दिया:—हे महामुने! समय का खूब विज्ञानपूर्ण सूक्ष्म निरीक्षण कर तथा साधुओं के मानस (चित्तवृत्ति) को देखकर ही उन महापुरुषों ने इस प्रकार के भिन्न २ बाह्य धर्मसाधन रखने का विधान किया है।

टिप्पणी—भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य सरल स्वभावी तथा बुद्धिमान थे इसलिये वे विविध रंग के वस्त्रों को भी—वे केवल शरीर ढंकने के साधन हैं, शृंगार के लिये नहीं हैं—ऐसा मानकर अनासक्त भाव से उनका उपयोग कर सकते थे किन्तु भगवान महावीर ने देखा कि इस काल में पतन के बहुत से निमित्त मिलते रहते हैं, इसलिये निरासक्त रहना अति कठिन है, इसीलिये उनने मुनि को प्रमाणपूर्वक तथा सादा वेश रखने की आज्ञा दी है। (अर्थात् महापुरुषों ने यह सब कुछ सोचसमझ कर तथा समय देखकर ही किया है। यह भेद करना सकारण था, निष्कारण नहीं)

(३२) ऐसा सादा वेश रखने के कारण ये हैं—(१) इस समय लोक में भिन्न भिन्न प्रकार के विकल्पों तथा वेशों का प्रचार है। इस वेश को देख कर लोगों को यह विश्वास हो कि "यह जैन साधु है"; (२) साधु को भी इस वेश से यह हमेशा ध्यान रहे कि "मैं साधु हूँ" तथा (३) इस वेश द्वारा संयम निर्वाह सब से उत्तम रीति से हो सकता है। लोक में वेश धारण करने के ये ही प्रयोजन हैं।

टिप्पणी—"वेश" साध्य तो है नहीं, मात्र बाह्य साधन है। यह बाह्य साधन आंतरिक साधन की पुष्टि करे तथा आत्मविकास में मददरूप हो बस इतना ही इसका प्रयोजन है।

(३३) और साधु का वेश तो दुराचार न होने पावे उसको सतत जागृति रखने के लिये व्यवहार नय मात्र एक साधन है; निश्चय न. से तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये ही तीन मोक्ष के साधन हैं। इन वास्तविक साधनों में तो भगवान पार्श्वनाथ तथा भगवान महावीर दोनों का एक ही मत है (मौलिकता में तो लेशमात्र भी अन्तर नहीं है)।

टिप्पणी—वेश भले ही भिन्न हो परन्तु तत्त्व में कुछ भी भेद नहीं है। भिन्न वेश रखने का कारण वही है जो ऊपर लिखा है।

(३५) केशीस्वामी ने कहा—हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है (अर्थात् तुम बहुत अच्छा समन्वय कर सकते हो)। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मैं तुमसे दूसरा एक प्रश्न पूँछता हूँ, उसका भी हे गौतम ! तुम समाधान करो।

(३५) हे गौतम ! हजारों शत्रुओं के बीच में तुम रहते हो और वे सब तुम पर आक्रमण कर रहे हैं, फिर भी तुम उन सब को किस तरह जीत लेते हो ?

(३६) (गौतम ने कहा:—) मैं मात्र एक (आत्मा) को ही जीतने का सतत प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि उस एक को जीतने से पांच (इंद्रियों) को और उन पांच (इंद्रियों) को जीतने से दस को और उन दस को जीत लेने पर सब शत्रु स्वयमेव जीत लिये जाते हैं।

(३७) केशीमुनि ने गौतम से फिर प्रश्न किया:—हे महात्मन् ! वे शत्रु कौन से हैं सो कहो। केशीमुनि का यह प्रश्न सुनकर गौतम ने इस प्रकार उसका उत्तर दिया:—

(३८) हे मुने ! (मनकी दुष्ट प्रवृत्तिओं में फंसा हुआ) एक जीवात्मा यदि न जीता जाय तो वह अपना शत्रु है (क्योंकि आत्मा को न जीतने से कषायें उत्पन्न होती हैं) और इस शत्रु के कारण चार कषाएं और पांचों इन्द्रियां भी अपनी शत्रु हो जाती हैं (अर्थात् पंचेन्द्रियों तथा कषाय से 'योग' होता है और यही योग कर्मबन्धन का तथा दुःखपरंपरा का कारण है)। इस तरह समस्त शत्रुपरंपरा को जैनशासन के न्यायानुसार जीत कर मैं शान्तिपूर्वक विहार किया करता हूँ।

टिप्पणी—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें कहलाती हैं। इन चार के तरतम भाव से १६ भेद होते हैं। दुष्ट मन भी अपना शत्रु है। पांच इन्द्रियां भी असद्वेग होने से शत्रुरूप ही हैं। यद्यपि ये आत्मा के शत्रु हैं फिर भी इन सब का मूल कारण केवल एक है और वह है आत्मा की दुष्ट प्रवृत्ति। इसलिए एक दुष्टात्मा को जीत लेने से समस्त शत्रुपरंपरा स्वयमेव जीत ली जाती है। जैनशास्त्र का न्याय यह है कि बाह्य युद्ध की अपेक्षा आत्मयुद्ध करना अधिक उत्तम है और क्षमा, दया, तपश्चर्या तथा त्याग ये ही युद्ध के शस्त्र हैं। इन्हीं शस्त्रों द्वारा ही कर्मरूपी शत्रु मारे जाते हैं।

(३९) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है। तुमने मेरी शंका का सुन्दर समाधान किया है। अब मैं तुमसे एक दूसरा प्रश्न पूंछता हूँ, उसका तुम समाधान करो।

(४०) इस संसार में बहुत से बिचारे जीव कर्मरूपी जाल से जकड़े हुए दिखाई देते हैं। इस परिस्थिति में हे मुनि! तुम किस प्रकार बंधन से रहित होकर वायु की तरह हलके होकर अप्रतिबंध (बिना रुकावट) विहार कर सकते हो?

(४१) (गौतम केशीमुनीश्वर को उत्तर देते हैं:—कि) हे मुने! शुद्ध उपायों से उन जालों (बंधनों) को तोड़कर मैं बंधन-रहित होकर वायु की तरह अप्रतिबंध रूप से विचरता हूँ।

(४२) तब केशीमुनि ने गौतम से फिर प्रश्न किया:—हे गौतम! वे बंधन कौन से हैं? वे आप मुझे कहें। यह प्रश्न सुनकर गौतम ने केशीमुनि को यह जवाब दिया:—

(४३) हे महामुने! राग, द्वेष, मोह, परिग्रह तथा स्त्री, कुटुम्बी जन, आदि पर जो आसक्ति भाव हैं वे ही तीव्र, गाढ़े और भयंकर स्नेहबन्धन हैं। इन बन्धनों को तोड़कर जैन-शासन के न्यायानुसार रहकर मैं अपना विकास करता हूँ और निर्द्वन्द्व विहार करता हूँ।

(४४) यह उत्तर सुनकर केशीमुनि कहने लगे:—हे गौतम! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मैं तुमसे दूसरा प्रश्न करता हूँ उसका भी समाधान करो।

(४५) हे गौतम! हृदय के गहरे भागरूपी जमीन में एक बेल उगी है और उस बेल में विष के समान जहरीले फल लगे हैं। उस बेल का मूलोच्छेदन तुमने कैसे किया इस बात का जवाब मुझे दो।

(४६) केशीमुनि के प्रश्न को सुनकर गौतम बोले:—उस विष वेल को तो मैंने उखाड़ कर फेंक दिया है तभी तो मैं उस वेल के विषफलों के असर से मुक्त होकर जिनेश्वर के न्यायमय शासन में आनन्दपूर्वक विचर रहा हूँ।

(४७) केशीमुनि ने गौतम से पूंछा:—"वह बेल कौनसी है? सो आप मुझे कहो।" यह सुनकर गौतम ने केशीमुनि को यह उत्तर दिया:—

(४८) हे मुनीश्वर! महापुरुषों ने संसार को बढ़ानेवाली इस तृष्णा को ही विषबेल कहा है। वह बेल भयंकर तथा ज़हरी फलों को देकर जीवों के जन्म-मरण करा रही है। उसका यह स्वरूप बराबर जानकर मैंने उसे उखाड़ डाली है और इसीलिये अब मैं जिनेश्वर के न्यायशासन में सुखपूर्वक चल सकता हूँ।

(४९) केशीमुनि ने कहा:—हे गौतम! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरी शंका का समाधान कर दिया। अब मैं दूसरा प्रश्न पूंछता हूँ, उसका भी आप समाधान करो।

(५०) हे गौतम! हृदय में खूब ही जाज्वल्यमान और भयंकर एक अग्नि जल रही है जो शरीर में ही रहती हुई इसी शरीर को जला रही है। उस अग्नि को तुमने कैसे बुझाया?

(५१) (यह सुनकर गौतम ने कहा:—) महामेघ (बड़े बादल) से उत्पन्न हुए जल प्रवाह से पानी लेकर सतत मैं उस अग्नि को बुझाया करता हूँ और इसीलिये वह बुझी हुई अग्नि मुझे लेशमात्र भी जला नहीं सकती।

(५२) केशीमुनि ने गौतम से फिर पूंछा:—"वह अग्नि कौन सी है सो आप मुझसे कहो"। केशीमुनि के इस प्रश्न को सुनकर गौतम ने उनको यह उत्तर दिया:—

(५३) कषायें ही अग्नि हैं (जो शरीर, मन तथा आत्मा को सतत जला रही हैं) और (तीर्थंकररूपी महामेघ से बरसी हुई) ज्ञान, आचार और तपश्चर्यारूपी जल की धाराएं हैं। सत्यज्ञान की धाराओं के जल से बुझाई हुई मेरी कषायरूपी अग्नि बिल्कुल शांत पड़ गई है और इसीलिये अब वह मुझे बिलकुल भी जला नहीं सकती।

(५४) हे गौतम! तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मैं दूसरा प्रश्न पूंछता हूं उसका भी आप समाधान करो।

(५५) केशीमुनि ने पूंछा:— हे गौतम! महाउद्धत, भयंकर तथा दुष्ट (अपने सवार को गड्ढे में डाल देनेवाला ऐसा एक) घोड़ा खूब दौड़ रहा है। उस घोड़े पर बैठे हुए भी तुम सीधे मार्ग पर कैसे जा रहे हो? वह घोड़ा तुम्हें उन्मार्ग (खोटे मार्ग) में क्यों नहीं ले जाता?

टिप्पणी—दुष्ट स्वभाव का घोड़ा मालिक को कभी न कभी दगा दिये बिना नहीं रहता। किन्तु तुम तो उस पर सवार हो फिर भी सीधे २ अपने मार्ग पर चले जा रहे हो —भला इसका क्या कारण है?

(५६) केशीमहाराज को गौतम ने उत्तर दिया:—उस सपाट दौड़ते हुए घोड़े को शास्त्ररूपी लगाम से कब्जे में रखता

हूँ। ज्ञानरूपी लगाम से वश हुआ वह घोड़ा कुरस्ते न जाकर मुझे सुमार्ग पर ही ले जाता है।

(५७) केशीमुनि ने फिर प्रश्न किया:—"हे गौतम! वह घोड़ा कौनसा है? यह कृपा कर मुझे कहो।" यह सुनकर गौतम-ऋषि ने केशीमुनि को उत्तर दिया:—

(५८) मनरूपी घोड़ा बड़ा ही उद्धत, भयंकर, तथा दुष्ट है। वह सांसारिक विषयों में इधरउधर सपाट दौड़ता फिरता है। धर्मशिक्षा रूपी लगाम से खान्दानी घोड़े की तरह इसका बराबर निग्रह करता हूँ।

(५९) हे गौतम! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरा संशय दूर कर दिया। अब दूसरा एक प्रश्न पूंछता हूँ उसका भी आप समाधान करो।

(६०) हे गौतम! इस संसार में कुमार्ग बहुत हैं जिन पर जाने से दृष्टिविपर्यास (दृष्टिफेर होने) के कारण जीव सच्चे मार्ग को पहिचान नहीं पाते और इसीलिये कुमार्ग में जाकर बहुत दुःखी होते हैं। तो हे गौतम! आप कुरस्ते न जाकर सुमार्ग पर कैसे दृढ़ रहते हो?

(६१) (गौतम ने उत्तर दिया कि हे महामुने!) मैंने कुमार्ग और सुमार्ग पर जाने वाले सभी जीवों को जान लिया है (अर्थात् कुमार्गी तथा सुमार्गी जीव के आचरण का मैंने खूब विश्लेषण कर लिया है इसीलिये मुझे कुमार्ग तथा सुमार्ग का ध्यान हमेशा रहता है।) और इसी कारण मैं अपने मार्ग पर बराबर चला जाता हूँ; गुमराह अथवा पथभ्रष्ट नहीं होता हूँ।

(६२) केशीमुनि ने फिर प्रश्न किया:—"हे गौतम ! वह मार्ग कौनसा है ?" यह प्रश्न सुनकर गौतम ने केशीमुनि को यह उत्तर दिया—

(६३) स्वकल्पित मतों में जो स्वच्छन्द-पूर्वक आचरण करता है वे सब पाखण्डी हैं। वे सब कुमार्ग पर भ्रमण कर रहे हैं और वे अन्त तक भवसमुद्र में गोते खाते रहेंगे। संसार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हुए जिनेश्वरों ने सत्य का जो मार्ग बताया है वही उत्तम है।

(६४) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि बहुत उत्तम है। मेरे संशय को तुमने दूर कर दिया। मुझे एक दूसरी शंका है, कृपा कर उसका भी निरसन (समाधान) करो।

(६५) जल के महाप्रवाह में डूबते हुए प्राणियों को उस दुःख से बचानेवाला शरणरूप कौन है ? वह स्थान कौनसा है ? उस गति का नाम क्या है ? और आधार-स्वरूप वह द्वीप कौनसा है ?

(६६) और हे गौतम ! उस जल के महाप्रवाह में भी एक महाविस्तीर्ण द्वीप है जहां पानी के उस महाप्रवाह का आना जाना नहीं होता।

(६७) केशीमुनि ने गौतम से पूँछा:—हे मुने ! उस द्वीप का नाम क्या है सो कहो। यह सुनकर गौतम ने यह उत्तर दिया:—

(६८) जरा (बुढ़ापा) तथा मरणरूपी जल के महाप्रवाह में इस संसार के सभी प्राणी डूब रहे हैं। उनको शरणरूप,

स्थानरूप, अथवा गतिरूप या आधाररूप द्वीप जो कुछ भी कहो वह केवल एक धर्म ही है।

(६९) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मै तुम से दूसरा एक प्रश्न पूंछना चाहता हूँ, उसका आप समाधान करो।

(७०) एक महाप्रवाहवान् समुद्र में एक नाव चारों तरफ घूमती फिरती है। हे गौतम ! आप उस नाव पर बैठे हो, तो तुम पार कैसे उतरोगे ?

(७१) जिस नाव में छेद है वह पार न जाकर बीचही में डूब जाती है और उसमें बैठनेवालों को भी डुबा देती है। बिना छेद की नाव ही पार पहुँचाती है।

(७२) 'हे गौतम ! वह नाव कौनसी है ?' केशीमुनि के इस प्रश्न को सुनकर गौतम ने इस प्रकार उत्तर दिया:—

(७३) शरीररूपी नाव है, संसाररूपी समुद्र है और जीवरूपी नाविक (मल्लाह) है। उस संसाररूपी समुद्र को शरीर द्वारा महर्षि पुरुष ही तर जाते हैं।

टिप्पणी—शरीर यह नाव है इसलिये इसमें कहीं से भी छेद न हो जाय, अथवा यह टूटफूट न जाय—इसकी संभाल लेना तथा संयमपूर्वक बैठे हुए नाविक (आत्मा) को पार उतारना यह महर्षि पुरुषों का कर्तव्य है।

(७४) (केशीमुनि ने कहा:–) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरा सन्देह दूर कर दिया। मुझे एक और शंका है, उसका भी आप समाधान करो।

(७५) इस समग्र लोक में फैले हुए घोर अंधकार में बहुत से प्राणी रूँधे पड़े हैं। इन सब प्राणियों को प्रकाश कौन देगा?

(७६) (गौतम ने उत्तर दिया:—) समस्त लोक में प्रकाश देनेवाला जो सूर्य प्रकाशित होरहा है वही इस लोक के समस्त जीवों को प्रकाश देगा।

(७७) गौतम के इस उत्तर को सुनकर केशीमुनि ने फिर पूंछा:—"हे गौतम! वह सूर्य आप किसको कहते हो?" गौतम ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया:—

(७८) संसार के समस्त गाढ़ अंधकार का नाश कर अनन्त ज्योतियों से प्रकाशमान सर्वज्ञरूपी सूर्य ही इस समस्त लोक के प्राणियों को प्रकाश देगा।

टिप्पणी—जिन प्रबल आत्माओं का अज्ञान अंधकार नष्ट होगया है, और जो सांसारिक सभी बंधनों से सर्वथा मुक्त हुए हैं ऐसे महापुरुष ही अपने अनुभव का मार्ग जगत् को बताकर उसे सब दुःखों से छुड़ा सकते हैं।

(७९) केशीमुनि ने कहा:—हे गौतम! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मेरे एक दूसरे प्रश्न का आप सामाधान करो। वह प्रश्न इस प्रकार है:—

(८०) हे मुने! सांसारिक जीव शारीरिक तथा मानसिक दुःख से पीड़ित हो रहे हैं। उनके लिये कल्याणकारी, निर्भय, निरुपद्रव तथा पीड़ारहित कौनसा स्थान है? क्या आप उसे जानते हो।

(८१) (गौतम ने उत्तर दिया:—हे मुने !) हां, जानता हूं किन्तु वहां जाना बहुत २ कठिन है। लोक के अंतिम भाग पर सुन्दर एवं निश्चल एक ऐसा स्थान है जहां जरा, मरण, व्याधि, वेदना आदि एक भी दुःख नहीं है।

(८२) यह सुनकर फिर केशीमुनि ने प्रश्न किया:—"हे गौतम ! उस स्थान का नाम क्या है ? क्या आप उस स्थाम को जानते हो ?" ! गौतम ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया:—

(८३) जरा-मरण की पीड़ा से रहित, परम कल्याणकारी और लोकाग्रस्थित उस स्थान का नाम सिद्धस्थान या निर्वाण-स्थान है। वहां केवल महर्षि ही जा सकते हैं।

(८४) हे मुने ! वह स्थान लोक के अग्र भाग में स्थित है किन्तु उसकी प्राप्ति अत्यंत कठिनता से होती है। वह निश्चल तथा परम सुखद स्थान है। संसाररूपी समुद्र का अंत पाने की शक्तिधारी महात्मा ही वहां पहुंच पाते हैं। वहां पहुंचने के बाद क्लेश, शोक, जन्म, जरा आदि दुःख कभी भी नहीं होते और वहां पहुँचने पर पुनः कभी संसार में नहीं आना पड़ता।

(८५) हे गौतम ! तुम्हारी वुद्धि सुन्दर है। तुमने मेरे सभी प्रश्नों का बड़ा ही सुन्दर समाधान किया है। हे संशयातीत ! हे सर्व सिद्धांत के पारगामी गौतम ! तुमको नमस्कार हो।

(८६) प्रवल पुरुषार्थी केशीमुनीश्वर ने इस प्रकार (शिष्यों) के संदेहों का समाधान होने पर महायशस्वी गौतम मुनिराज को शिरसा वंदन (हाथ जोड़ कर तथा सिर झुकाकर) प्रणाम करके—

(८७) उसी स्थान पर (भगवान महावीर के) पंच महाव्रतरूपी धर्म को भावपूर्वक स्वीकार किया और उस सुखमार्ग में गमन किया कि जिस मार्ग की प्ररूपणा प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर भगवानों ने की थी।

(८८) बाद में भी, जब तक श्रावस्तीनगरी में ये दोनों समुदाय रहे तब तक केशी तथा गौतम का समागम नित्यप्रति होता रहा और शास्त्रदृष्टि से किया हुआ शिक्षाव्रतादि का निर्णय उनके ज्ञान एवं चारित्र इन दोनों अंगों में वृद्धि-कर हुआ।

टिप्पणी—केशी तथा गौतम इन दोनों गण के शिष्यों को वह शास्त्रार्थ तथा वह समागम बहुत लाभदायक हुआ क्योंकि शास्त्रार्थ करने में उन दोनों की उदार दृष्टि थी। दोनों में से किसी एक को भी कदाग्रह न था और इसीलिये शास्त्रार्थ भी सत्यसाधक हुआ। कदाग्रह होता तो शास्त्र के बहाने से बहुत कुछ अनर्थ हो जाने की संभावना थी किन्तु सच्चे ज्ञानी सदैव कदाग्रह से दूर रहते हैं और सत्य वस्तु को, चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते।

(८९) (इस शास्त्रार्थ से) समस्त परिषद को अत्यंत सन्तोष हुआ। सबों को सत्यमार्ग की झांकी हुई। श्रोताओं को भी सच्चे मार्ग का ज्ञान हुआ और वे सब इन दोनों महर्षियों कीस्तुति प्रार्थना करने लगे। "केशीमुनि तथा गौतम ऋषि सदा जयवंत रहो" ऐसे आशीर्वचन कहते हुए सब देव, दानव और मनुष्य अपने २ स्थानों को गये।

टिप्पणी—निश्चयधर्म अर्थात् इस काल में, इस समय में, और इस परिस्थिति में शासन की उन्नति कैसे हो—इस बात का हृदयतल-स्पर्शी विचारणापूर्वक लक्ष्य नियत करना—यह अबाधित सत्य है। इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता, किन्तु उन्नति कैसे करनी चाहिये। उसके लिये कौन २ से साधनों का उपयोग करना चाहिये आदि सभी बातों का निर्णय समयधर्म के हाथ में है। उनमें परिवर्तन होना संभव है।

समय धर्म की पुकार सब किसी के लिये है। समाज संस्था समय धर्म से बहुत अधिक संबंधित है। श्रमणवर्ग तथा श्रावक वर्ग ये दोनों समाज के अंग हैं। कोई भी अंग उस तरफ उपेक्षा भाव न रखकर शास्त्रोक्त सत्य को पहिचान कर खूब प्रयत्न करे और सुव्यस्थित रह कर जैनशासन की उन्नति करे यही अभीष्ट है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'केशिगौतमीय' नामक २३वां अध्ययन समाप्त हुआ।

समितियां

२४

संयम, त्याग, और तप—ये तीनों मुक्ति के क्रियात्मक साधन हैं। भवबंधनों से मुक्त करने में केवल ये तीन ही उपाय समर्थ हैं—अन्य कोई नहीं। मुक्तिप्राप्ति के लिये तो हम सभी उम्मेद्वार हैं। यावन्मात्र प्राणियों को मोक्षमार्ग में जाने का अधिकार है मात्र उसपर चलने की तैयारी होनी चाहिये।

इस अध्ययन में मुनिवरों के संयमी जीवन को पुष्ट करने वाली माताओं का वर्णन किया गया है फिर भी उनका अवलम्बन तो सभी मुमुक्षुओं के लिए एक सरीखा उपकारी है। सब कोई अपना क्षेत्र, काल, भाव तथा सामर्थ्य देखकर उनका विवेकपूर्वक उपयोग कर सकते हैं।

भगवान बोले—

(१) जिनेश्वर देवों ने जिन पांच समितियों और तीन गुप्तियों का वर्णन किया है इन ८ प्रवचनों को माता की उपमा दी है।

टिप्पणी—जिस तरह माता अपने पुत्र पर अत्यन्त प्रेम रखती है, उसका कल्याण करती है वैसे ही ये आठ गुण साधु जीवन के कल्याणकारी होने से जिनेश्वरों ने उनको 'मुनि की माताओं' की उपमा दी है।

(२) ईर्या, भाषा, एषणा, आदानभंडनिक्षेपण, तथा उच्चारादि प्रतिष्ठापन ये पांच समितियां तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां हैं।

टिप्पणी—(१) ईर्याः—मार्ग में बराबर उपयोगपूर्वक देखकर चलना। (२) भाषाः—विचारपूर्वक सत्य, निर्दोष तथा उपयोगी वचन बोलना। (३) एषणाः—निर्दोष तथा परिमित भिक्षा तथा अल्प वस्त्रादि उपकरण ग्रहण करना। (४) आदानभंडनिक्षेपणः—वस्त्र, पात्रादि उपकरण (संयमी जीवन के उपयोगी साधन) उपयोग-पूर्वक उठाना तथा रखना। (५) उच्चारादिप्रतिष्ठापन :—मलमूत्र बलगम आदि कोई भी त्याज्य वस्तु किसी को दुःख न पहुँचे ऐसे एकान्त स्थान में निक्षेपण करना।

(१) मनोगुप्तिः—दुष्ट चिन्तन में लगे हुए मनको वहाँ से हटा कर अच्छे उपयोग में लगाना। (२) वचनगुप्तिः—वचन का अशुभ व्यापार न करना। (३) कायगुप्तिः—कुमार्ग में जाते हुए शरीर को रोक कर सुमार्ग पर लगाना।

(३) जिन इन आठ प्रवचन माताओं का संक्षेप से ऊपर वर्णन किया है उनमें जिनेश्वर कथित १२ अंगों का समावेश हो जाता है। (सब प्रवचन इन माताओं में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं)

टिप्पणी—बारह अंगों (अंगभूत शास्त्रों) के प्रवचन उच्च आचार के द्योतक हैं और ये आठ गुण यदि बराबर क्रिया में आवें तो ही उच्च आचार सिद्ध हुआ माना जाय। साध्य ही जब हाथ में

आगया तो साधन तो सरल ही समझना चाहिये। जो ज्ञान आचरण में परिणित होता है वही सफल है।

ईर्यासमिति आदि की स्पष्टता

(४) (१) आलंबन, (२) काल, (३) मार्ग और (४) उपभोग—इन चार कारणों से परिशुद्धि हुई ईर्यासमिति से साधु को गमन करना चाहिये।

(५) ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र ये तीन साधन ईर्यासमिति के अवलंबन हैं। दिवस यह ईर्या का काल है। (रात्रि को ईर्या शुद्ध न होने से संयमीको अपने स्थान से वाहर निकलने की मनाई है)। टेढेमेढे मार्ग से न जाकर सीधे सरल मार्ग से जाना—यह ईर्यासमिति का मार्ग है (कुमार्ग में जानेसे संयम की विराधना होजाने की संभावना है।)

(६) ईर्यासमिति का चौथा कारण उपयोग है। उस उपयोग के भी ४ भेद हैं उन्हें मैं विस्तारपूर्वक यहां कहता हूँ सो तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(७) दृष्टि से उपयोगपूर्वक देखना इसे 'द्रव्य उपयोग' कहते हैं; मार्ग में चलते हुए चार हाथ प्रमाण आगे देखकर चलना इसको 'क्षेत्र उपयोग'; जवतक दिन रहे तभी तक चलना इसको 'काल उपयोग' और चलते समय अपना उपयोग (ज्ञान व्यापार) ठीक २ रखना इसको 'भाव उपयोग' कहते हैं।

टिप्पणी—चलने में कोई सूक्ष्म जीव भी पग तले आकर कुचल न जाय अथवा दूसरा कुछ नुकसान न हो इसलिये वहुत संभालपूर्वक चलना पड़ता है। यह ईर्यासमिति अहिंसा धर्मकी अत्यन्त सूक्ष्मता को सिद्ध करती है।

(८) चलते समय पांच इन्द्रियों के विषयों तथा पांच प्रकार के स्वाध्यायों को छोड़कर मात्र चलने की क्रिया को ही मुख्यता देखकर और उसीमें ही उपयोग रखकर गमन करना चाहिये।

टिप्पणी—स्पर्श, रूप, रस, गंध, वर्ण या किसी भी इन्द्रिय के विषय में मन के चले जाने से चलने में यथेष्ट ध्यान नहीं लग पाता और प्रमाद में जीवहिंसा हो जाने की सम्भावना है। इसी तरह चलते चलते वांचना (पढ़ना) अथवा गहरा विचार करने से भी उपरोक्त दोष हो जाने की सम्भावना है। यद्यपि वांचन तथा मनन उत्तम क्रियाएं हैं किन्तु चलते समय उनको मुख्यता देने से "गमन उपयोग" का भंग होता है। इस उपदेश द्वारा भवान्तर रूप में समयानुसार कार्यनिष्ठ होने का उपदेश दिया है और जो समय जिस काम के लिये नियत है उसमें वही करने का विधान किया है। जैनदर्शन बहुत जोरों के साथ यह प्रतिपादन करता है कि प्रमाद ही पाप है और उपयोग यही, धर्म है। (उपयोग अर्थात् सावधान रहना)।

(९) क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, निद्रा, तथा विकथा (अनुपयोगी कथा-वार्तालाप)—

(१०) इन आठों दोषों को बुद्धिमान साधक त्याग दे और उनसे रहित निर्दोष, परिमित, तथा उपयोगी भाषा ही बोले। (इसे भाषा समिति कहते हैं)—

(११) आहार, अधिकरण (वस्त्र, पात्र, आदि साथ में रखने की वस्तुएं), शय्या, (स्थानक, पाट या पाटला) इन तीनों वस्तुओं को शोधने में, ग्रहण करने में अथवा उप-

योग करने में संयमधर्म पूर्वक संभाल रखना—इसे एषणा समिति कहते हैं।

(१२) ऊपर की प्रथम गवेषणा (अर्थात् उद्गमन) तथा उत्पादन (भिक्षा प्राप्त करने) में तथा दूसरी ग्रहणैषणा में तथा तीसरी उपयोगैषणा (उपयोग करने) में लगनेवाले दोषों से संयमी साधु को उपयोगपूर्वक दूर रहना चाहिये।

टिप्पणी—दातार गृहस्थ के उद्गमन सम्बन्धी १६ दोष हैं। उसको इन दोषों से रहित भिक्षाका ही दान करना चाहिये। उत्पादन (भिक्षा प्राप्त करने) के १६ दोष साधु के भी हैं और उन दोषों को बचाकर ही साधु को भिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। ग्रहणैषणा के १० दोष हैं वे गृहस्थ तथा भिक्षु दोनों को लागू पड़ते हैं और उन दोषों से बचना इन दोनों का ही कर्तव्य है। इनके सिवाय ४ दोष भिक्षा भोगन (खाने) के भी हैं, उन दोषों का परिहार कर साधु भोजन करे।

(१३) औघिक तथा औपग्रहिक इन दोनों प्रकार के उपकरण या पात्र आदि संयमी जीवन के उपयोगी साधनों को उठाते और रखते हुए भिक्षु को इस विधि का बराबर पालन करना चाहिये।

टिप्पणी—औघिक वस्तुएँ वे हैं जो उपभोग करने के बाद लौटा दी जाती हैं जैसे उपाश्रय का स्थान, पाट,पाटला, आदि तथा औपग्रहिक वस्तुएँ वे हैं जो शास्त्रविधि पूर्वक ग्रहण करने के बाद वापिस नहीं की जातीं, जैसे वस्त्र, पात्र, आदि साधु के उपकरण।

(१४) अच्छी तरह निगाह से पहिले वस्तु को देखे, फिर उसे झाड़े, उसके बाद ही उसे ले या रक्खे अथवा उपयोग में ले।

टिप्पणी—छोटा गोच्छा (छोटा ओघा) जो संयमी का झाड़ने का साधन माना जाता है उससे सूक्ष्म जीवों की भी विराधना न हो इस प्रकार पात्र आदि को झाड़ने-पोंछने की क्रिया को 'परिमार्जन' क्रिया कहते हैं ।

(१५) मल, मूत्र, थूंक, नाक, शरीर का मैल, अपथ्य आहार, पहिना न जासके ऐसा फटा वस्त्र, किसी साधु का शव (मृत शरीर), अथवा अन्य कोई फेंक देने की अनुपयोगी वस्तुएं हों तो उनको जहां तहां न फेंक (या डाल) कर उचित (जीव रहित एकांत) स्थल में ही छोड़े ।

टिप्पणी—परिहार्य वस्तुएं अस्थान में फेंक देने से गंदगी, रोग, तथा उपद्रव पैदा होते हैं, जीवजन्तुओं की उत्पत्ति और उनकी हिंसा होती है, आदि अनेक दोष होते हैं इसीलिये फेंक देने जैसी गौण क्रिया में भी इतना अधिक उपयोग रखने का उपदेश देकर जैनधर्म ने वैज्ञानिक, वैद्यक, तथा धार्मिक दृष्टियों का सर्वमान्य तथा सुन्दर समन्वय कर दिखाया है ।

(१६) वह स्थान १० विशेषणों से युक्त होना चाहिये जिनमें से प्रथम विशेषण के ये चार भेद कहे हैं:—(१) उस समय वहां कोई भी मनुष्य आता जाता न हो और वहां किसी की दृष्टि भी न पड़ती हो ऐसा स्थान; (२) यद्यपि पास से कोई मनुष्य आता जाता न हो किन्तु दूर से किसी की दृष्टि वहां पड़ सकती हो ऐसा स्थान; (३) यद्यपि मनुष्य पास से निकल जाते हैं फिर भी उनकी दृष्टि वहां पर नहीं पड़ सकती ऐसा गुप्त स्थान; (४) जहां लोग आते जाते भी हैं और जहां सबकी निगाह भी पड़ती है ऐसा (खुला) स्थान ।

(१७) (१) उपरोक्त ४ प्रकार के स्थानों में से केवल प्रथम प्रकार (अर्थात् जहां कोई आता जाता न हो और न किसी की दृष्टि ही पड़ती हो ऐसे गुप्त) के स्थान में ही वैसी क्रिया करें। (२) उस स्थान का दूसरा विशेषण यह है कि वैसे एकान्त स्थान का उपयोग करने से किसी की हानि या किसी को दुःख न पहुँचे ऐसा निरापद होना चाहिये। (३) वह स्थान सम (ऊँचा नीचा न) हो।

(१८) (४) वह स्थान घास पत्तों से रहित हो; (५) वह स्थान अचित्त (चींटी, कुन्थु आदि जीवों से रहित) हो; (६) वह स्थान एकदम तंग न हो किन्तु चौड़ा हो; (७) उसके नीचे भी अचित्त भूमि हो, (८) अपने निवास स्थान से अत्यन्त पास न हो किन्तु दूर हो, (९) जहां पर चूहे आदि जमीन के अन्दर रहने वाले जन्तुओं के बिल (छिद्र) न हो, (१०) जहां प्राणी अथवा बीज न फैले हों—उपर्युक्त १० विशेषणों से सहित स्थान में ही मलमूत्र त्यागने की क्रिया करे।

(१९) (भगवान सुधर्मस्वामी ने जंबूस्वामी से कहा:—)हे जम्बू! पांच समितियों का स्वरूप यहां अति संक्षेप में ऊपर कहा है। अब तीन गुप्तियों का क्रम से वर्णन करता हूँ सो ध्यानपूर्वक सुनो।

टिप्पणी—समितियों का सविस्तरवर्णन आचारांगादि सूत्रों में किया है, जिज्ञासु वहां देख लेवें।

(२०) मनोगुप्ति के चार भेद हैं:—(१) सत्य मनोगुप्ति,

(२) असत्य मनोगुप्ति, (३) सत्यमृषा (मिश्र) मनोगुप्ति, और (४) असत्याऽमृषा (व्यवहार) मनोगुप्ति ।

टिप्पणी—जहां सत्य की तरफ ही मन का वेग रहता है उसे सत्य मनोगुप्ति, जहां असत्य वस्तु की तरफ मन का झुकाव हो उसे असत्य मनोगुप्ति, कभी सत्य और कभी असत्य की तरफ मन के झुकाव को अथवा जहां सत्य में थोड़ा असत्य भी मिला हो और उसे सत्य मानकर चिन्तवन करना उसे मिश्र मनोगुप्ति, तथा संसार के शुभाशुभ व्यवहार में ही चित्त का लगा रहना उसे व्यवहार मनोगुप्ति कहते हैं ।

(२१) संरंभ, समारंभ, और आरंभ इन तीनों क्रिया में जाते हुए मन को रोक कर शुद्ध क्रिया में ही प्रवृत्ति करना यह मनोगुप्ति है इसलिये संयमी पुरुष को वैसी दूषित क्रियाओं में जाते हुए मन को रोक कर मनोगुप्ति की साधना करनी ही उचित है ।

टिप्पणी—संरंभ, समारंभ और आरम्भ ये तीनों हिंसक क्रियाएं हैं । प्रमादी जीवात्मा हिंसादि कार्य करने का जो संकल्प करता है उसे संरंभ कहते हैं और उस संकल्प की पूर्ति के लिये साधन सामान इकट्ठा करना या जुटाना उसे समारंभ कहते हैं और बाद में उन सब के द्वारा कोई काम करना उसे आरंभ कहते हैं । कार्य का विचार करने से लेकर उनको पूर्ण करने तक ये तीनों अवस्थायें क्रमशः होती हैं ।

(२२) वचनगुप्ति भी इन्हीं चार प्रकार की है:—(१) सत्य वचन गुप्ति, (२) असत्य वचन गुप्ति, (३) सत्यमृषा (मिश्र) वचन गुप्ति, और (४) असत्याऽमृषा (व्यवहार) वचन गुप्ति ।

(२३) संयमी को चाहिये कि वह ऐसे वचन न बोले जिससे संरंभ, समारंभ, आरंभ में से एक भी क्रिया हो। वह उपयोगपूर्वक ऐसे वचनों से बचे।

(२४) (सुधर्मास्वामी ने जंबूस्वामी से कहा:—हे जम्बू ! संक्षेप में वचनगुप्ति का लक्षण मैंने कहा है) अब मैं कायगुप्ति का लक्षण कहता हूँ सो ध्यानपूर्वक सुनो:—कायगुप्ति के ५ प्रकार हैं:—(१) खड़े होने में, (२) बैठने में, (३) लेटने में, (४) नाली आदि को लांघने में, तथा (५) पांचों इन्द्रियों की प्रवृत्तियों (व्यापारों) में—

(२५) यदि संरंभ, समारंभ, अथवा आरंभ में से कोई भी क्रिया संपन्न हो जाती हो तो संयमी को उचित है कि वह अपनी काया को उपयोगपूर्वक रोक रक्खे और वह काम न करे—इसे 'कायगुप्ति' कहते हैं।

टिप्पणी—मन, वचन और काय की केवल आत्मलक्षी प्रवृत्ति ही हो और उसका बाह्य व्यवहार में भी स्मरण रहे तथा पाप कर्मों से मन, वचन, काय की प्रवृत्तियां रुक जांय—ऐसी जब आत्मा की स्थिति हो जाय तभी मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति की सिद्धि हुई, ऐसा मानना चाहिये।

(२६) उपरोक्त पांच समितियां चारित्र (संयमी जीवन) विषयक प्रवृत्तियों में अति उपयोगी है और तीनों गुप्तियां अशुभ व्यापारों से सर्वथा निवृत्त होने में उपयोगी हैं।

(२७) इस प्रकार इन आठों प्रवचन माताओं को सच्चे हृदय से समझ कर उनकी जो कोई उपासना करेगा वह बुद्धिमान साधक मुनि शीघ्र ही इस संसार के बंधनों से मुक्त हो जायगा।

टिप्पणी—नवीन आनेवाले कर्मों के प्रवाह से दूर रहना और पूर्व संचित कर्मों का नाश करना—इन दोनों क्रियाओं का नाम ही संयम है। ऐसे संयम के लिये ही त्यागी जीवन की रचना की गई है और उसी दृष्टि से त्याग की उत्तमता का वर्णन किया गया है।

ऐसी योग्यता प्राप्त करने के लिये सबसे पहले बुद्धि की स्थिरता की आवश्यकता है। बुद्धि को स्थिर बनाने के लिये अभ्यास तथा संयम ये दो ही सर्वोत्तम साधन हैं। यद्यपि ये दोनों शक्तियां अन्तःकरण में अलक्षित रूप में विद्यमान हैं फिर भी उनको जागृत करने के लिये शास्त्रों तथा महापुरुषों के सहवास की आवश्यकता है।

यदि आते हुए कर्मों का प्रवाह रोक दिया गया और पूर्व-संचित कर्मों को भस्म करने की उत्कट अभिलाषा जागृत हो गई तो इसके सिवाय और चाहिये ही क्या? इतना ही बस है फिर अग्रिम मार्ग तो स्वयमेव समझ में आता जाता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'समिति' संबन्धी चौवीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

यज्ञीय

यज्ञ सम्बन्धी

२५

सारे वेद यज्ञों के निरूपण से भरे पड़े हैं। जैन शास्त्रों का भी यही हाल है। किन्तु संसार में सच्चे यज्ञ को समझनेवाला कोई विरला ही होता है।

बाह्य यज्ञ—यह तो द्रव्य यज्ञ है। आन्तरिक (भाव) यज्ञ ही सच्चा यज्ञ है। बाह्य यज्ञ कदाचित् हिंसक भी हो सकता है किन्तु आन्तरिक यज्ञ में हिंसा का विष नहीं है, उसमें तो केवल अहिंसा का अमृत ही लबालब भरा हुआ है।

बाह्य यज्ञ से होनेवाली विशुद्धि तो क्षणिक और खंडित है किन्तु आन्तरिक यज्ञ की पवित्रता अखंड तथा नित्य है। सामान्य यज्ञ तो हरकोई कर सकता है, उसके लिये अमुक योग्यता अथवा पात्रता आवश्यक नहीं है परन्तु सच्चा यज्ञ करने की तो याजक को योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है।

विजयघोष और जयघोष ये दोनों ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे। (कोई कोई इतिहासकार उन्हें सगा भाई मानते हैं)। उन दोनों पर ब्राह्मण संस्कृति के गहरे संस्कार पड़े हुए थे।

परन्तु संस्कृति दो प्रकार की होती है—एक कुलगत तथा दूसरी आत्मगत। कुलगत संस्कृति की छाप कई बार भूल में डाल देती है, वास्तविक रहस्य नहीं समझने देती और जीवात्मा को सत्य से दूर धकेल ले जाने में सहायक होती है किन्तु जिस जीवात्मा में आत्मगत संस्कृति का बल अधिक होता है वही आगे बढ़ती है, वही सत्य को प्राप्त होती है और वहां सम्प्रदाय, मत, वाद तथा दर्शन संबंधी झगड़े खड़े रह नहीं सकते।

जयघोष वेदों के धुरन्धर विद्वान थे। वेदमान्य यज्ञ करने का उन्हें व्यसनसा लगा था किन्तु उन यज्ञों द्वारा प्राप्त हुई पवित्रता उन्हें क्षणिक मालूम पड़ी, यज्ञों के फलस्वरूप जिस स्वर्ग-मुक्ति की प्राप्ति का वर्णन वेद करते हैं वह प्राप्ति उन्हें इन यज्ञों द्वारा अस्वाभाविक, असत्य जैसी मालूम पड़ी। आत्मगत संस्कृति के बल से कुलगत संस्कृति के पटल उड़ गये। तत्क्षण ही उस वीर ब्राह्मण ने सच्चा ब्राह्मणत्व अंगीकार किया और सच्चे यज्ञ में चित्त देकर सच्ची पवित्रता प्राप्त की।

विजयघोष यज्ञशाला में कुलपरंपरागत यज्ञ करने में व्यस्त थे। उसी समय जयघोष याजक वहां आ निकले, मानों पूर्व के प्रबल ऋणानुबन्ध ही उन्हें वहां खींच लाये थे!

जयघोष का त्याग, जयघोष की तपश्चर्या, जयघोप की साधुता, जयघोप का प्रभाव, तथा जयघोष की पवित्रता आदि सद्गुण देखकर अनेक ब्राह्मण आकर्षित हुए और तब उनके द्वारा वे सच्चे यज्ञ का स्वरूप समझे। इन दोनों के बहुत ही शिक्षापूर्ण संवाद से यह अध्ययन अलंकृत हुआ है।

भगवान बोले—

(१) पहिले बनारस नगरी में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी

पांच महाव्रतरूपी भावयज्ञ करनेवाले जयघोष नाम के एक महायशस्वी मुनि हो गये हैं।

(२) पांचों इन्द्रियों के सर्व विषयों का निग्रह करनेवाले और केवल मोक्ष मार्ग में ही चलनेवाले (मुमुक्षु) ऐसे वे महामुनि गाम गाम विचरते हुए फिर एकबार उसी बनारस (अपनी जन्मभूमि) नगरी में आये।

(३) और उनने बनारस नगरी के बाहर मनोरम नाम के उद्यान में निर्दोष स्थान शय्यादि की याचना कर निवास किया।

(४) उसी काल में उसी बनारस नगरी में चारों वेदों का ज्ञाता विजयघोष नामका ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था।

(५) उपर्युक्त जयघोष मुनि मासखमण की महातपश्चर्या के पारणे के लिये उस विजयघोष ब्राह्मण की यज्ञशाला में (उसी समय) भिक्षार्थ आकर खड़े हुए।

(६) मुनिश्री को आते देखकर वह याजक उनको दूर ही से वहां आने से रोकता है और कहता है:—हे भिक्षु! मैं तुझे भिक्षा नहीं दे सकता। कहीं दूसरी जगह जाकर मांग।

(७) हे मुने! जो ब्राह्मण धर्मशास्त्र के तथा चारों वेदों के पारगामी, यज्ञार्थी तथा ज्योतिषशास्त्र सहित छहों अंगों के जानकर, और जितेन्द्रिय हों ऐसे—

(८) तथा अपनी आत्मा को और दूसरों की आत्मा को (इस भवसागर से) पार करने में समर्थ हों ऐसे ब्राह्मणों को ही यह षड्रस मनोवांछित भोजन देने का है।

(९) उत्तम अर्थ की शोध करने वाले वे महामुनि इस प्रकार वहां निषेध किये जाने पर भी न तो खिन्न ही हुए और न

प्रसन्न ही हुए (अर्थात् उनके भावों में विकार न हुआ)।

(१०) अन्न, पानी, वस्त्र अथवा अन्य किसी भी पदार्थ की इच्छा से नहीं किन्तु केवल विजयघोष का अज्ञान दूर करने के लिये ही उन मुनीश्वर ने ये वचन कहे:—

(११) हे विप्र ! तुम वेद के मुख को, यज्ञों के मुख को, नक्षत्रों के मुख को तथा धर्मों के मुख को जानते ही नहीं हो।

टिप्पणी—'मुख' शब्द का आशय यहाँ 'रहस्य' है। यहां वेद, यज्ञ, नक्षत्र तथा धर्म इन चार का नामनिर्देश करने का कारण यह है कि विजयघोष ने ब्राह्मणों को इन चारों का जानकार होने का दावा किया था।

(१२) अपनी तथा पर की आत्मा को (इस भवसागर से) पार करने में जो समर्थ हैं उनको भी तुम नहीं जानते। यदि जानते हो तो कहो।

महातपस्वी तथा ओजस्वी मुनि के इन प्रभावशाली प्रश्नों को सुनकर ब्राह्मणों का सब समूह निरुत्तर होगया।

(१३) मुनि के प्रश्न का ऊहापोह करके (उत्तर देने में) असमर्थ वह ब्राह्मण तथा वहां उपस्थित समस्त विप्रसमूह अपने दोनों हाथ जोड़कर उस महामुनि से इस प्रकार निवेदन करने लगे:—

(१४) (तो) आपही वेदों का, यज्ञों का, नक्षत्रों का तथा धर्म का मुख बताओ।

(१५) अपनी तथा पर की आत्मा का उद्धार करने में जो समर्थ हैं वे कौन हैं ? ये सभी हमारी शंकाएं हैं तो हमसे पूंछे हुए इन प्रश्नों का आप ही खुलासा करो।

(१६) (मुनि ने उत्तर दिया:—) वेदों का मुख अग्निहोत्र है (अर्थात् जिस वेद में सच्चे अग्निहोत्र का प्रधानता से वर्णन किया गया है वही वेद वेदों का मुख है)। यज्ञों का मुख यज्ञार्थी (संयमरूपी यज्ञ करनेवाला साधु) है, नक्षत्रों का मुख चंद्रमा है तथा धर्म के प्ररूपकों में भगवान ऋषभदेव, वीतराग होने के कारण उनके द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ सत्य धर्म–यही सब धर्मों का मुख (श्रेष्ठ) है।

टिप्पणी—अग्निहोत्र यज्ञ में जीवरूपी कुंड है तथा तपरूपी वेदिका है, कर्मरूपी ईंधन, ध्यानरूपी अग्नि, शुभोपयोग रूपी कड़छी, शरीररूपी होता (याजक) तथा शुद्ध भावनारूपी आहुति है। जिन शास्त्रों में ऐसे यज्ञों का विधान होता है उन्हें 'वेद' कहते हैं और जो कोई भी ऐसे यज्ञ करते हैं वे ही सर्वोत्तम याजक हैं।

(१७) जैसे चन्द्र के आगे अन्य ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं और तरह २ की मनोहर स्तुतियां कर वन्दन करते हैं वैसे ही उन उत्तम काश्यप (भगवान् ऋषभदेव) को इन्द्रादि नमस्कार करते हैं।

(१८) सत्य ज्ञान तथा ब्राह्मण के सत्य कर्म से अज्ञान मूढ़ पुरुष केवल 'यज्ञ यज्ञ' शब्द चिल्लाया करते हैं किन्तु वे यज्ञ का असली रहस्य नहीं जानते और जो केवल वेद का अध्ययन एवं शुष्क तपश्चर्या किया करते हैं वे सब ब्राह्मण नहीं हैं किन्तु राख से ढँके हुए अंगार के समान हैं।

टिप्पणी—केवल ऊपर से भोले भाले शांत दीखते हैं किन्तु उनके हृदयों में तो कषायरूपी अग्नि प्रदीप्त होरही है।

सच्चा ब्राह्मण कौन है ?

(१९) इस लोक में जो शुद्ध अग्नि की तरह पापरहित होने से पूज्य हुआ है उसीको कुशल पुरुष 'ब्राह्मण' मानते हैं और इसीलिये हम भी उसे ब्राह्मण कहते हैं।

(२०) जो स्वजनादि (कुटुम्ब) में आसक्त नहीं होता और संयम धारण कर (उसके कष्टों के कारण) शोक नहीं करता तथा महापुरुषों के वचनामृतों में आनन्दित होता है, उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२१) जिस प्रकार शुद्ध हुआ सोना कालिमा तथा किट्टिमा आदि मैलों से रहित होता है इसीतरह जो मल तथा पाप से रहित है; राग, द्वेष, भय आदि दोषों से परे (दूर) है उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२२) जो सदाचारी, तपस्वी तथा दमितेन्द्रिय है, तथा जिसने उग्र तपस्या द्वारा अपने शरीर के रक्त मांस सुखा डाले हों कृशगात्र हो तथा कषायों के शांत होने से जिसका हृदय शांति का सागर हो रहा हो उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२३) जो त्रस तथा स्थावर जीवों की मन, वचन तथा काय से किसी भी प्रकार हिंसा नहीं करता उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२४) जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय के वशीभूत होकर कभी भी असत्य वचन नहीं बोलता उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२५) जो सचित्त (चेतनासहित जीव, पशु इत्यादि) तथा अचित्त (चेतनारहित सुवर्णादिक) को थोड़ी भी मात्रा में बिना दिये अथवा हक्क सिवाय ग्रहण नहीं करता उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२६) जो देवता, मनुष्य अथवा तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन, तथा काया से सेवन नहीं करता—

(२७) जैसे कमल जल में उत्पन्न होने पर भी उससे अलग रहता है उसी तरह जो कामभोगों से अलिप्त (वासनारहित) रहता है उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२८) जो रसलोलुपी न हो, मात्र धर्मनिर्वाह के निमित्त ही भिक्षा मांगकर जीवित रहता (भिक्षाजीवि) हो, तथा गृहस्थों में जो आसक्त न हो ऐसे अकिंचन (परिग्रह-रहित) त्यागी को ही हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(२९) जो पूर्व संयोग (माता, पिता, भाई, स्त्री आदि के संयोगों) को, ज्ञातिजनों के संयोग को तथा कुटुम्ब परिवार को एकबार त्याग कर वाद में उनके राग में या भोगों में आसक्त नहीं होता उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(३०) हे विजयघोष ! जो वेद पशुवध करने का उपदेश देते हैं वे तथा पापकृत्य कर होमीं हुई आहुतियां उस यज्ञ करने-वाले दुराचारी को अन्त में शरणभूत नहीं होतीं क्योंकि कर्म अपना २ फल दिये विना नहीं रहते।

(३१) हे विजयघोष ! माथा मुंडा लेने से कोई साधु नहीं बन जाता, 'ॐकार' उच्चारण करने से कोई ब्राह्मण नहीं

हो जाता। उसी तरह घर छोड़कर जंगल में रहने मात्र से मुनि और भगवा वस्त्र पहिन लेने मात्र से कोई तापस नहीं हो जाता।

(३२) जो समभाव रखता है वही साधु है; जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वही ब्राह्मण है, जो ज्ञानवान् है वही मुनि है और जो तपस्या करता है वही तापस है—

(३३) वस्तुतः वर्णव्यवस्था जन्मगत (जन्म लेने मात्र से) नहीं है किन्तु कर्म (कार्य) गत है। कर्मों (कार्यों) से ही ब्राह्मण होता है, कर्मों से ही क्षत्रिय होता है, कर्मों से ही वैश्य होता है, और कर्मो से ही शूद्र होता है।

टिप्पणी—ब्राह्मण—ब्राह्मणी के यहां जन्म लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। ब्राह्मण जैसे कृत्य करने से ही सच्ची ब्राह्मणता प्राप्त होती है। ब्राह्मण होकर भी चांडाल के कृत्य करनेवाला ब्राह्मण कभी नहीं हो सकता और शूद्र भी ब्राह्मण के कृत्य कर ब्राह्मण हो सकता है।

(३४) इन सब बातों को भगवान् ने बड़े विस्तार के साथ खुले तौर पर समझाई हैं। स्नातक (उच्च ब्राह्मण) भी उक्त गुणों को धारण करने से ही हो सकता है। इसीलिये समस्त कर्मों से मुक्त अथवा मुक्त होने के लिये जो प्रयत्नशील होरहा है उसे ही हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

(३५) उपरोक्त गुणों से सहित जो उत्तम ब्राह्मण हैं वे ही स्व-पर तारक (अपनी तथा दूसरी आत्माओं का उद्धार करने में समर्थ) हैं।

(३६) इस प्रकार संशय का समाधान होने पर वह विजयघोष ब्राह्मण उन पवित्र वचनामृतों को अपने हृदय में उतार कर फिर जयघोष मुनिको संबोधन कर—

(३७) तथा सन्तुष्ट हुआ विजयघोष हाथ जोड़कर इस तरह कहने लगा—हे भगवन् ! आपने सच्चा ब्राह्मणत्व आज मुझे समझाया !

(३८) सचमुच आप ही यज्ञों के याजक (यज्ञ करनेवाले) हैं; आप ही वेदों के सच्चे ज्ञाता हैं; आप ही ज्योतिष शास्त्रादि अंगों के जानकार विद्वान् हैं और आप ही धर्मों के पारगामी हैं।

(३९) आपही स्व-पर आत्माओं के उद्धार करने में समर्थ हैं; इसलिये हे भिक्षूत्तम ! भिक्षाग्रहण करने की आप मुझ पर कृपा करें।

(४०) [साधु जयघोष ने उत्तर दिया:—] हे द्विज ! मुझे तेरी भिक्षा से कुछ मतलब नहीं है। तू शीघ्र ही संयममार्ग की आराधना कर। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग आदि संकटों द्वारा घिरे हुए इस संसारसागर में अब तू अधिक गोते न खा।

(४१) कामभोगों से कर्मबन्धन होता है और उससे यह आत्मा मलीन होती है। भोगरहित जीवात्मा शुद्ध होने से कर्मों से लिप्त नहीं होता है। भोगी आत्माएं हीं इस संसार-चक्र में परिभ्रमण करती रहती हैं और भोगमुक्त आत्माएं संसार को पार कर जाती हैं।

(४२) गीली और सूखी मिट्टी के दो लौंदे हैं। इनको भीत से मारने से जो लौंदा गीला है वहीं भीत से चिपट जाता है और सूखा नहीं चिपटता।

(४३) इसी तरह कामभोगों में आसक्त, दुष्टबुद्धि जीव तो पाप कर्म करके संसार से चिपट जाता है और जो विरक्त पुरुष हैं वे तो सूखी मिट्टी के ढेले के समान संसार से नहीं चिपकते हैं।

(४४) इस प्रकार जयघोष मुनिवर के समीप श्रेष्ठ धर्मोपदेश श्रवण कर उस विजयघोष नामक ब्राह्मण ने संसार की आसक्ति से रहित होकर दीक्षा अंगीकार की।

(४५) इस तरह संयम तथा तपश्चर्या द्वारा अपने सकल पूर्व सञ्चित कर्मों का नाश कर जयघोष तथा विजयघोष ये दोनों मुनिवर सर्वश्रेष्ठ ऐसी मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त हुए।

टिप्पणी—जन्म से सभी जीव समान होते हैं। वे समानजीवि, समानलक्षी तथा समान प्रयत्नशील होते हैं। सच पूंछा जाय तो जन्म से तो सभी शूद्र ही हैं किन्तु संस्कार होने से ही द्विज (जिनका संस्कार द्वारा दूसरा जन्म हुआ हो ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) बनते हैं। सारांश यह है कि पतन और विकास ये ही दो बातें ऊँच नीच की सूचक हैं। जन्मगत ऊँचनीचके भेद मानना यह तो कोरा ढोंग है—भ्रममात्र है।

जाति से तो कोई भी चांडाल, ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य नहीं है। बहुत से मनुष्य जाति के चांडाल होने पर भी ब्राह्मण के समान होते हैं, बहुत से ब्राह्मणकुलजात मनुष्य चांडाल जैसे नीच होते हैं। बहुत से क्षत्रियकुलोत्पन्न मनुष्य वैश्य जैसे कायर होते हैं और बहुत से जाति के वैश्य क्षत्रियों के समान पराक्रमी होते

हैं। इसलिये जीव अपने कर्म से ही ब्राह्मण, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होते हैं, जन्म के कारण नहीं। जैसे जो कोई कर्म करेगा—जैसी जिसकी क्रिया होगी तदनुसार ही उसकी जाति मानी जायगी। गुणों की न्यूनाधिकता से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा चांडाल आदि के भेद किये गये हैं।

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, त्याग तथा तपश्चर्यादि गुणों का ज्यों ज्यों विकास होता जाता है त्यों २ ब्राह्मणत्व का विकास होता जाता है। सच्चा ब्राह्मणत्व साधन कर ब्रह्म (आत्मस्वरूप) या आत्म-ज्योति प्राप्त करना—यही सबका एकतम लक्ष्य है। जातिपांति के क्लेशोंको छोड़ कर सच्चे ब्राह्मणत्व की आराधना करना यही सबका कर्तव्य होना चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'यज्ञीय' नामक पच्चीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

समाचारी
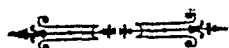
२६

समाचारी का अर्थ है सम्यक् दिनचर्या। अर्थात् शरीर, इन्द्रियां तथा मन—ये साधन जिस उद्देश्य से मिले हैं उस उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर उन साधनों का सदुपयोग करना—यही चर्या का अर्थ है।

रात दिन मन को उचित प्रसंग में लगाये रखना और निरंतर उसी एक कार्य में जुटे रहना—यही साधक की दिनचर्या है।

ऐसा करने से पूर्व जीवनगत दुष्ट प्रकृतियों को वेग नहीं मिलता और नित्य नूतन पवित्रता प्राप्त होती रहने से ज्यों २ परंपरागत दुष्ट भावनाएं निर्वल होकर अन्त में झड़ती जाती हैं त्यों त्यों मोक्षार्थी साधक अपने आत्मरस के घूंट अधिकाधिक पी पीकर अमर वनता जाता है।

इस प्रकरण में त्यागी जीवन की समाचारी का वर्णन किया है। त्यागी जीवन सामान्य गृहस्थ साधक के जीवन की अपेक्षा अधिक ऊंचा, सुन्दर तथा पवित्र होता है इससे उसकी दिनचर्या भी उतनी ही शुद्ध तथा कड़ी हो—यह स्वाभाविक ही है।

अपने आवश्यक कार्य के सिवाय अपना स्थान न छोड़ने की वृत्ति (स्थान स्थिरता), प्रश्नचर्चा तथा चिन्तन में लीनता, दोषों का निवारण, सेवाभाव, नम्रता तथा ज्ञानप्राप्ति-इन सभी अंगों का समाचारी में समावेश होता है।

समाचारी होना तो संयमी जीवन की व्यापक क्रिया है। प्राण और जीवन का जितना सहभाव (सम्बन्ध) है उतना ही सहभाव समाचारी और संयमी जीवन में है। एक के विना दूसरा टिक नहीं सकता।

भगवान बोले—

(१) हे शिष्य ! संसार के समस्त दुःखों से छुडानेवाली समाचारी (दस प्रकारकी साधु की समाचारी) का उपदेश करता हूँ जिसको धारण कर, आचार परिणत कर निर्ग्रन्थ साधु इस भवसागर को पार कर जाते हैं।

(२) पहिली का नाम आवश्यकी, दूसरी का नाम नैषेधिकी, तीसरी का आपृच्छना और चौथीका नाम प्रतिपृच्छना है।

(३) पांचवीं का नाम छन्दना, छट्ठी का नाम इच्छाकार, सातवीं का मिथ्याकार तथा आठवीं का नाम तथ्येतिकार है।

(४) और नौवीं का नाम अभ्युत्थान तथा दसवीं का नाम उपसंपदा है। इस प्रकार दस तरह की साधु समाचारी महापुरुषों ने कही है।

(५) (अब उन दस समाचारियों को विशद करते हैं) साधु गमन (उपाश्रय, गुरुकुल स्थान से बाहर जाते) समय आवश्यकी समाचारी का पालन करे अर्थात आवश्यक कार्य

के लिये बाहर जाय। (२) नैषेधिकी क्रिया उपाश्रय में आने के बाद करे अर्थात् अब मैं बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर उपाश्रय में दाखल हुआ हूँ। अब नितान्त आवश्यक कार्य के सिवाय बाहर जाना निषिद्ध है—ऐसा मान कर आचरण करे। (३) आपृच्छना क्रिया का यह अर्थ है कि अपना कोई भी कार्य करने के लिये अपने गुरु अथवा बड़े साधु की आज्ञा प्राप्त करना। (४) प्रतिपृच्छना अर्थात् दूसरे के कार्य के लिये गुरुजी से पूंछना।

टिप्पणी—पहिली तथा दूसरी क्रिया में किसी भी आवश्यक क्रिया के सिवाय गुरुकुल न छोड़ने का विधान कर साधक की क्या जवाबदारी है उसकी तरफ इशारा किया है। तीसरे में विनय साधक का परम कर्तव्य है उस बात का, तथा चौथी में अन्य मुनियों की सेवा तथा विचारों का ऊहापोह बताया है।

(६) (५) पदार्थसमूहों में छन्दना, अर्थात् अपने साथ के प्रत्येक भिक्षुको वस्तुओं का निमन्त्रण देना जैसे भिक्षादि लाने के बाद दूसरे मुनियों को आमन्त्रण करे कि "आप भी कृपा कर इसमें से कुछ ग्रहण करें"—ऐसे व्यवहार को "छन्दना" कहते हैं। (६) इच्छाकार—अर्थात् एक दूसरे की इच्छा जान कर तदनुकूल आचरण करना। (७) मिथ्याकार—अर्थात् भूल में या गफलत से अपने द्वारा कुछ त्रुटि हो जाय तो उसके लिये खूब पश्चात्ताप करना तथा प्रायश्चित्त लेकर उसको मिथ्या (निष्फल) बनाने की क्रिया करना। (८) प्रतिश्रुते तथ्येतिकार—यह उस क्रिया को कहते हैं कि जिसमें गुरुजन या बड़े

साधक भिक्षुओं की आज्ञा स्वीकार कर उनकी आज्ञा सर्वथा यथार्थ एवं उचित है—ऐसा जानकर उसका आदर मान किया जाता है।

टिप्पणी—पांचवीं समाचारी में केवल अपने ही पेट की तृप्ति की भावना को दूर कर उदारता दिखाने का निर्देश किया है। छट्ठी में साथी साधुओं का पारस्परिक प्रेम, सातवीं में सूक्ष्म से सूक्ष्म त्रुटि का भी निवारण तथा आठवीं समाचारी में गुरु का आज्ञाधीन होने का विधान किया है।

(७) (९) गुरूपूजा में अभ्युत्थान—अर्थात् उठते बैठते अथवा अन्य सभी क्रिया मे गुरु आदि की तरफ अनन्य गुरुभक्ति करने तथा उनके गुणों की पूजा करने की क्रिया को कहते हैं। (१०) अवस्था तथा उपसम्पदा—उस क्रियाको कहते हैं कि अपने साथ के आचार्य, उपाध्याय या अन्य विद्यागुरुओं के पास विद्या प्राप्त करने के लिये विवेकपूर्वक रहना और विनम्र भाव से आचरण करना। ये दस समाचारियां कहलाती हैं।

(८) (दसवीं समाचारी में जहां भिक्षु रहता है उस गुरुकुल में उसे रात्रि तथा दिवस में किस तरह की चर्या करनी चाहिये उसको सविस्तर समझाया है)। दिन के चार प्रहर होते हैं उनमें से सूर्योदय के वाद, पहिले प्रहर के चौथे भाग में (उतने समय में) वस्त्रपात्रादि (संयमी के उपकरणों) का प्रतिलेखन करे और इस क्रिया के बाद गुरु को प्रणाम कर—

टिप्पणी—दिन के चार प्रहर होते हैं, इसलिये यदि ३२ घड़ी का दिन हुआ तो ८ घड़ी का एक प्रहर मानना चाहिये। उसका चौथा भाग दो घड़ी (४८ मिनिट) हुई। जैन भिक्षुओं को अपने वस्त्रपात्रादि संयमी जीवन के उपयोगी साधनों का प्रतिदिन दो बार सूक्ष्म दृष्टि से सम्पूर्ण निरीक्षण करना चाहिये।

(९) दोनों हाथ जोड़कर पूंछ्ना चाहिये कि हे पूज्य ! अब मैं क्या करूं ? वैयावृत्य (सेवा) या स्वाध्याय (अभ्यास) इन दोनों में से आप किस काम में मेरी योजना करना चाहते हैं ? हे पूज्य ! मुझे आज्ञा दीजिये।

(१०) यदि गुरूजी वैयावृत्य (किसी भी प्रकार की सेवा) करने की आज्ञा दें तो ग्लानिरहित होकर सेवा करे और यदि स्वाध्याय करने की आज्ञा दें तो सब दुःखों से छुडानेवाले स्वाध्याय में शांतिपूर्वक दत्तचित्त होकर लग जाय।

टिप्पणी—(१) वांचना (शिक्षा लेना), (२) पृच्छना (प्रश्न पूंछ कर शंका समाधान करना), (३) परिवर्तना (पढ़े हुए पाठों का पुनरावर्तन करना), (४) अनुप्रेक्षा (पठित पाठ का मनन करना) और (५) धर्मकथा (व्याख्यान देना) ये पांच स्वाध्याय के भेद हैं।

(११) विचक्षण मुनि को चाहिये कि वह दिन के समय को चार भागों में विभक्त करे और इन चारों विभागों में उत्तर गुणों (कर्तव्यकर्मों) की वृद्धि करे।

(१२) (अब चारों प्रहरों के काम क्रमशः बताते हैं) पहिले प्रहर में स्वाध्याय (अभ्यास), दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे

प्रहर में भिक्षाचरी, और चौथे प्रहर में स्वाध्यायादि कृत्य करे।

टिप्पणी—"आदि" शब्द से पहिले तथा अन्तिम प्रहरों में प्रतिलेखन तथा शौचादि क्रियाओं का समावेश किया है।

(१३) आषाढ़ मास में दो कदम, पौष मास में चार कदम और चैत्र तथा आसोज (कुंआर) महीने में तीन कदम पर पोरसी होती है।

टिप्पणी—पोरसी अर्थात् प्रहर। सूर्य की छाया पर से काल का प्रमाण मिले उसके लिये यह प्रमाण बताया है।

(१४) उपरोक्त चार महीनों के सिवाय दूसरे आठ महीनों में प्रत्येक सात दिन रात (सप्ताह) में एक एक अंगुल, और एक पक्ष (पन्द्रह दिनों) में दो दो अंगुल, और प्रत्येक महिने में चार चार अंगुल प्रत्येक प्रहर में छाया घटती बढ़ती है।

टिप्पणी—श्रावण बदी प्रतिपदा से पौष सुदी पूर्णिमा तक छाया बढती है और माह बदी प्रतिपदा से आषाढ सुदी पूर्णिमा तक छाया घटती है।

किन किन महिनों में तिथियां घटती हैं?

(१५) आषाढ़, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख इन सब महिनों के कृष्ण पक्ष में १—१ तिथि घटती है।

टिप्पणी—उपरोक्त छहों महीने २९–२९ दिन के होते हैं। इनके अतिरिक्त के ६ महीने ३०–३० दिन के होते हैं। इस गणना से चांद्र वर्ष में कुल ३५४ दिन होते हैं।

(१६) (पौन पोरसी के पग की छाया का माप बताते हैं) जेठ, आषाढ़ और श्रावण इन तीन महीनों में जिस पोरसी के लिये पग की छाया का माप बताया है उस कदम के ऊपर ६ अंगुल प्रमाण बढा देने से उस महीना की पौनो पोरसी निकल आती है। भाद्रपद, आसोज तथा कार्तिक इन तीन महीनों में, ऊपर जो माप बताया है उसमें आठ अंगुल प्रमाण बढा देने से पौनी पोरसी निकल आती है। मंगसर (अगहन) पौष तथा माह इन तीन महीनों में बताए हुऐ माप में १० अंगुल प्रमाण बढा देने से पौनी पोरसी निकल आती है। फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन तीन महीनों में जो माप बताया है उसमें आठ अंगुल प्रमाण छाया वढाने से पौनी पोरसी निकल आती है। इस समय वस्त्र-पात्रादिकों का प्रतिलेखन करे।

(१७) विचक्षण साधु रात्रिकाल के भी चार विभाग करे और प्रत्येक भाग में प्रत्येक पोरसी के योग्य कार्य कर अपने गुणों की वृद्धि करे।

(१८) रात्रि के पहिले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा, और चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे।

(१९) (अब रात्रि की पोरसी निकालने की रीति बताते हैं) जिस काल में जो २ नक्षत्र तमाम रात तक उदित रहते हों वे नक्षत्र जब आकाश के चौथे भाग पर पहुँचें तब रात्रि का एक प्रहर गया—ऐसा समझना चाहिये और उस समय स्वाध्याय वंद कर देना चाहिये।

(२०) और वही नक्षत्र चलते चलते आकाश का केवल चौथा

भाग बाकी रहे वहां अर्थात् चौथी पोरसी में आ पहुँचे तब समझना चाहिये कि प्रहर रात्रि बाकी है और उसी समय स्वाध्याय में लग जाना चाहिये। उस पोरसी के चौथे भाग में (दो घड़ी रात अवशिष्ट रहने पर) काल को देख कर मुनि को प्रतिक्रमण करना चाहिये।

(२१) (अब दिन के कर्तव्य विस्तारपूर्वक समझाते हैं:—) पहिले प्रहर के चौथे भाग में (सूर्योदय से २ घड़ी बाद तक) वस्त्रपात्र का प्रतिलेखन करे फिर गुरू को वंदना कर सब दुःखों से मुक्त करनेवाला ऐसा स्वाध्याय करे।

(२२) बाद में दिवस के अंतिम प्रहर के चौथे भाग में गुरू को वंदना कर स्वाध्यायकाल का अतिक्रम (उल्लंघन) किये बिना वस्त्रपात्रादिक का प्रतिलेखन करे।

(२३) मुनि सबसे पहिले मुंहपत्ती का प्रतिलेखन करे, बाद में गुच्छक (ओघा) का प्रतिलेखन करे फिर ओघा को हाथ में लेकर वस्त्रों का प्रतिलेखन करे।

(२४) (अब वस्त्र-प्रतिलेखन की विधि बताते हैं:) (१) वस्त्र को जमीन से ऊंचा रक्खे, (२) उसे मजबूत पकड़े, (३) उतावला प्रतिलेखन न करे, (४) आदि से अंत तक वस्त्र को बराबर देखे (यह तो केवल दृष्टि की प्रतिलेखना है), (५) वस्त्र को धीमे २ थोड़ा हिलावे; (६) वस्त्र हिलाने पर भी यदि जीव न उतरे तो गुच्छा से उसे पूंज (झाड़) देना चाहिये।

(२५) (७) प्रतिलेखन करते समय वस्त्र अथवा शरीर को नचाना न चाहिये, (८) उसकी घड़ी न करे, वस्त्र

का थोड़ा भाग भी प्रतिलेखना किये विना न छोड़े, (१०) वस्त्र को ऊंचा नीचा फटकारे नहीं अथवा दीवाल के ऊपर पटक कर साफ न करे, (११) झटका न मारे, (१२) वस्त्रादिक पर रेंगता हुआ कोई जीव दिखाई दे तो उसको अपने हाथ पर उतार कर उसका रक्षण करे।

टिप्पणी—कोई कोई 'नखखोडा' का अर्थ पडिलेहण करते समय ९-९ बार देखने का करते हैं।

(२६) (अब ६ प्रकार की अप्रशस्त प्रतिलेखना बताते हैं) (१) आरभटा (प्रतिलेखना विपरीत रीति से करना); (२) संमर्दा (वस्त्र को निचोड़ना अथवा मर्दन करना) (३) मौशली (ऊँची नीची अथवा आडो धरती से वस्त्र को रगड़ना); (४) प्रस्फोट (प्रतिलेखन करते हुए वस्त्र को बार २ झटकना); (५) विक्षिप्ता (प्रतिलेखन किये विना ही आगे पीछे सरका देना); (६) वेदिका (घुटनों या हाथों में घड़ी कर रखते जाना)।

(२७) (इनके अतिरिक्त दूसरी अप्रशस्त प्रतिलेखनाएं बताते हैं:) (१) प्रशिथिल (वस्त्र को मजबूती से न पकड़ना); (२) प्रलंब (वस्त्र को दूर रख कर प्रतिलेखना करना); (३) लोल (जमीन के साथ वस्त्र को रगड़ना); (४) एकामर्षा (एक ही नजर में तमाम वस्त्र को देख जाना) (५) अनेक रूपधूना (प्रतिलेखन करते हुए शरीर तथा वस्त्र को हिलाना); (६) प्रमादपूर्वक प्रतिलेखन करना (७) प्रतिलेखन करते हुए शंका उत्पन्न हो तो उंगलियों पर गिनने लगना और इससे उपयोग का चूक जाना

(ध्यान कहीं से कहीं चला जाय)। इस प्रकार १३ प्रकार की अप्रशस्त प्रतिलेखनाएं होतीं हैं।

(२८) बहुत कम अथवा विपरीत प्रतिलेखना न करना यही उत्तम है। बाकी के दूसरे समस्त प्रकारों को तो अप्रशस्त ही समझना चाहिये।

टिप्पणी—प्रतिलेखना के ८ भेद हैं उनमें से उपरोक्त प्रथम प्रकार का ही आचरण करना चाहिये। शेष भेदों को छोड़ देना चाहिये।

(२९) प्रतिलेखना करते २ यदि (१) परस्पर वार्तालाप करे; (२) किसी देश का समाचार कहे, (३) किसी को प्रत्याख्यान (व्रतनियमादि) दे; (४) किसी को पाठ आदि दे; अथवा (५) प्रश्नोत्तर करे तो—

(३०) वह साधु प्रतिलेखना में प्रमाद करने का दोषभागी होता है और पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा बनस्पति स्थावर तथा चलते फिरते त्रस जीवों की हिंसाका दोषी होता है।

(३१) और जो साधु प्रतिलेखना में बराबर उपयोग लगाता है वह पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, तथा बनस्पति के स्थावर जीवों और त्रस जीवों का रक्षक बनता है।

टिप्पणी—यद्यपि वस्त्रपात्रादि की प्रतिलेखना में प्रमाद करने से मात्र त्रस जीवों की अथवा वायुकायिक जीवों का ही घात हो जाना सम्भव है परन्तु प्रमाद—यह ऐसा महादोष है कि यदि वह सूक्ष्म रूप में भी साधक की प्रवृत्ति में आ घुसे तो वह धीमे धीमे उसके जीवन में ही व्याप्त हो जाता है और फिर साधुको उसका उद्देश्य भुलाकर ऐसी अधोगति में डाल देता है कि जहाँ छः काय के जीवों की भी हिंसा हो सकती है, इसलिये उपचार से उपरोक्त कथन किया गया है।

(३२) तीसरे प्रहरमें निम्नलिखित ६ कारणों में से यदि कोई भी कारण उपस्थित हो तो साधु आहार-पानी की गवेषणा करे।

टिप्पणी—भिक्षाचरी जाने के लिये तीसरे प्रहर का विधान काल तथा क्षेत्र देखकर किया गया है। उसका आशय समझकर विवेक-पूर्वक समन्वय करना चाहिये।

(३३) (वे ६ कारण ये हैं) (१) क्षुधा वेदना को शांति के लिये; (२) सेवा के लिये (शक्त शरीर होगा तो दूसरों की सेवा ठीक २ हो सकेगी); (३) ईर्यार्थ के लिये (खाये बिना आंख के सामने अन्धेरा आता हो तो उसे दूर कर ईर्यासमिति-पूर्वक मार्गगमन किया जा सके); (४) संयम पालने के लिये; (५) जीवन निभाने के लिये; और (६) धर्मध्यान तथा आत्मचिंतन करने के लिये निर्ग्रंथ साधु अहार-पानी का ग्रहण करे।

(३४) धैर्यवान साधु अथवा साध्वी निम्नलिखित ६ कारणों से आहार—पानी ग्रहण न करे तो वह असंयमी नहीं माना जाता (अर्थात् संयम का साधक ही माना जाता है):—

(३५) (१) रुग्णावस्था में, (२) उपसर्ग (पशु, मनुष्य अथवा देव-कृत कष्ट) आवे उसे सहन करने में, (३) ब्रह्मचर्य पालन के लिये, (४) सूक्ष्म जंतुओं की उत्पत्ति हुई जानकर उनकी दया पालने के निमित्त, (५) तप करने के निमित्त, (६) शरीर का अन्तिम काल आया जान कर संथारा (ग्रहण) के लिये। (इन ६ कारणों

से आहार न करने से संयमपालन हुआ समझना चाहिये)।

टिप्पणी—संयमी जीवन को टिकाये रखने के लिये ही भोजनग्रहण करने की आज्ञा है। यदि ऐसे भोजन से—जिससे शरीर रक्षा तो होती हो किन्तु संयमी जीवन नष्ट होता हो तो ऐसा भोजन साधु हर्गिज़ न करे। ऐसा विधान करने में संयमी जीवन की मुख्यता बताने का उद्देश्य है। संयमी जीवन को टिकाये रखने के लिये ही भोजन है, भोजन के लिये संयमी जीवन नहीं है।

(३६) आहार—पानी के लिये जाते समय भिक्षु को अपने सब पात्र तथा उपकरणों को बराबर साफ़ करके ही भिक्षा को जाना चाहिये। भिक्षा के लिये अधिक से अधिक आधे योजन तक ही जाय। (आगे नहीं)।

(३७) आहार करने के बाद, साधु चौथी पोरसी में पात्रों को अलग बांधकर रख देवे और यावत्मात्र पदार्थों को प्रकट करने वाले स्वाध्याय को करे।

(३८) चौथी पोरसी के चौथे भाग में स्वाध्यायकाल से निवृत्त होकर गुरू की वन्दना कर साधु वस्त्र, पात्र इत्यादि की प्रतिलेखना करे।

टिप्पणी—चौथी पोरसी का चौथा भाग अर्थात् सूर्यास्त के पहिले दो घटिका का समय।

(३९) मल, मूत्र त्याग करने की भूमि से लौट आने के बाद (इरिया वहिया क्रियायें करने के बाद पीछे आकर) सब दुःखों से छुडाने वाले कायोत्सर्ग को क्रमपूर्वक करे।

टिप्पणी—जैनदर्शन में भिक्षु के लिये सुबह तथा सायं इस तरह दो समय प्रतिक्रमण करना आवश्यक बताया है। प्रतिक्रमण में, हुऐ दोषों की आलोचना तथा भविष्य में वे दोष फिर न हों उसका संकल्प किया जाता है।

(४०) उस कायोत्सर्ग में भिक्षु उस दिवस सम्बन्धी ज्ञान, दर्शन अथवा चारित्र में लगे हुए दोषों का क्रमशः चिंतवन करे।

(४१) कायोत्सर्ग पाल कर फिर गुरू के पास आकर उनकी वंदना करे। बाद में उस दिन में किये गये अतिचारों (दोषों) को क्रमपूर्वक गुरु से निवेदन करे।

(४२) इस प्रकार दोष के शल्यसे रहित होकर तथा समस्त जीवों की क्षमापना लेकर फिर गुरू को नमस्कार कर सर्व दुःखों से छुड़ानेवाला ऐसा कायोत्सर्ग ध्यान करे।

(४३) कायोत्सर्ग करके फिर गुरु की वन्दना करे (प्रत्याख्यान करे) और उसके बाद पंचपरमेष्ठी की स्तुतिमंगल पाठ करके स्वाध्यायकाल की अपेक्षा (इच्छा) करे।

टिप्पणी—प्रतिक्रमण के ६ आवश्यक (विभाग) होते हैं। वह सब विधि ऊपर लिखी जा चुकी है।

(४४) (अब रात की विधि बताते हैं) मुनि पहिले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा और चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे।

(४५) चौथी पोरसी का काल आया हुआ जान कर, अपनी आवाज से गृहस्थ न जाग उठे उस प्रकार धीमे से स्वाध्याय करे।

(४६) चौथी पोरसी का चौथा भाग बाकी रहे (अर्थात सूर्योदय

से दो घड़ी पहिले स्वाध्याय काल से निवृत होकर) तब आवश्यक काल सम्बन्धी प्रतिलेखन कर (प्रतिक्रमण का काल जान कर) फिर गुरु की वन्दना करे।

(४७) (दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण की जो रीति बताई है वह संपूर्ण विधि होने के बाद) सब दुःखों से छुड़ानेवाला कायोत्सर्ग आवे तब पहिले कायोत्सर्ग करे।

(४८) उस कायोत्सर्ग में ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा तप संबंधी जो २ अतिचार लगे हों उनका अनुक्रम से चिन्तवन करे।

(४९) कायोत्सर्ग करने के बाद गुरु की वंदना करे तथा रात्रि में हुए अतिचारों को क्रमपूर्वक निवेदन कर उनकी आलोचना करे।

(५०) दोषरहित होकर तथा गुरु से क्षमा मांगकर गुरु को पुनः प्रणाम करे और सब दुःखों से छुड़ानेवाला ऐसा कायोत्सर्ग करे।

टिप्पणी—कायोत्सर्ग अर्थात् देहभाव से मुक्त होकर ध्यानमग्न रहने की क्रिया।

(५१) कायोत्सर्ग में चिन्तन करे कि अब मैं किस प्रकारकी तपश्चर्या धारण करूं ? फिर निश्चय करके कायोत्सर्ग से निवृत्त हो गुरु की वंदना करे।

(५२) उपरोक्त रीति से कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर गुरु को प्रणाम करे और उनसे तपश्चर्या का पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान) लेकर सिद्ध परमेष्ठी का स्तवन करे।

टिप्पणी—इस प्रकार रात्रि प्रतिक्रमण के ६ आवश्यक (विभागों) की क्रिया पूर्ण हुई।

(५३) इस प्रकार दस प्रकार की समाचारी का वर्णन संक्षेप में किया है जिनका पालन कर बहुत से जीव इस भवसागर को पार कर गये हैं।

टिप्पणी—असावधानता विकास (उन्नति) को रोकनेवाली है। चाहे जैसी भी सुन्दर क्रिया क्यों न हो किन्तु अव्यवस्थित हो तो उसकी कुछ भी कीमत नहीं है। व्यवस्था और सावधानता इन दोनों गुणों से मानसिक संकल्प का बल बढ़ता है। संकल्पबल बढ़ने से संकटों तथा विघ्नों के बल परास्त होते हैं और अन्त में लक्ष्यसिद्धि होती है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह "समाचारी" सम्बन्धी छब्बीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।
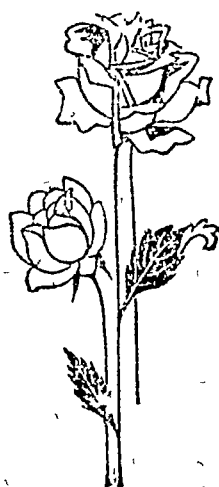
खलुंकीय
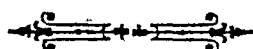
गरियार बैल संबंधी

२७

साधक के लिये सद्गुरु जितना सहायक है—जितना अवलंबन है, उतना ही शिष्यसमूह भी सद्गुरु के लिये सहायक एवं अवलंबन है।

पूर्णता प्राप्त करने के पहिले सभी को सहायक तथा साधनों की आवश्यकता तो रहती ही है परन्तु यदि सहायक तथा साधन ही मार्ग में उल्टे बाधक हो जांय तो अपने और दूसरों इन दोनों के हितों की हानि होती है।

गार्ग्याचार्य बड़े समर्थ विद्वान थे। प्रसिद्ध गणधर (गुरुकुलपति) थे। उनके पास सैकड़ों शिष्यों का परिवार था किन्तु जब वह परिवार स्वच्छंद हो गया, संयम मार्ग में हानि पहुँचाने लगा तब उनने अपना आत्मधर्म निभाकर—अपना कर्तव्य समझकर उनको सुधारने का खूब ही प्रयत्न कर देखा परन्तु अन्त में वे असफल ही रहे।

शिष्यों का मोह, अथवा शिष्यों पर आसक्ति अथवा सम्प्रदाय का ममत्व उस महापुरुष को लेशमात्र भी न था। उस

स्थिति में वे अपना धर्म बचाकर एकांत में जाकर बसे और और स्वावलंबन की प्रबल शक्ति को वृद्धिगत कर उनने अपने आत्महित की साधना की।

भगवान बोले:—

(१) सर्व शास्त्रों के पारगामी एक गार्ग्य नाम के गणधर तथा स्थविर मुनि थे। वे गणिभाव से युक्त रहकर निरंतर समाधिभाव की साधना किया करते थे।

टिप्पणी—जो अन्य जीवों को धर्म में स्थिर करता है अर्थात् ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, तथा प्रव्रज्यावृद्ध होता है उसे 'स्थविर' भिक्षु कहते हैं और जो भिक्षुगण का व्यवस्थापक होता है उसे 'गणधर' कहते हैं।

(२) जैसे गाड़ी में योग्य वहन (बैल) जोड़ने से वह गाड़ीवान अटवी (वन्य मार्ग) को सरलता से पार कर जाता है वैसे ही योग (संयम) मार्ग में वहन करते हुए शिष्य साधक तथा उनको दोरनेवाला गुरु दोनों ही संसार रूपी अटवी को सरलता से पार कर जाते हैं।

(३) परन्तु जो कोई गाड़ीवान गरियार बैलों को गाड़ी में जोड़ता है वह उन्हें (न चलने के कारण) यद्यपि मारते २ थक जाता है फिर भी अटवी को पार नहीं कर पाता और वहां बड़ा ही दुःखी होता है। और अशांति का अनुभव करता है। मारते २ गाड़ीवान का चाबुक भी टूट जाता है।

(४) बहुत से गाड़ीवान ऐसे गरियार बैल की पूंछ मरोड़ते हैं, कोई २ बार २ पैनी आर मार कर उन्हें बींध डालते हैं, फिरभी गरियार बैल अपनी जगह से टससे मस नहीं होते

मारने पर भी बहुत से तो अपना जुआ ही तोड़ डालते हैं और बहुत से कुमार्ग में ले भागते हैं।

(५) कोई २ चलते २ अरी कर गिर पड़ते हैं, कोई २ बैठ जाते हैं; कोई २ लेट जाते हैं, और मारने पर भी उठते नहीं हैं। कोई २ बैल उछल पड़ते हैं, कोई २ मेंढक की तरह कुलांचे मारने लगते हैं, तो कोई धूर्त बैल गाय देखकर उसके पीछे दौड़ने लगते हैं।

(६) बहुत से मायावी बैल माथा नीचा करके गिर पड़ते हैं, कोई २ मार पड़ने से गुस्से में आकर रास्ता छोड़ कुरस्ते में चल पड़ते हैं। कोई २ गरियार बैल ढोंग कर मृतवत् पड़ जाते हैं तो कोई दम छोड़कर भगने लगते हैं।

(७) कोई २ दुष्ट बैल अपनी रासों को ही तोड़ डालते हैं। कोई २ स्वच्छंदी बैल अपना जुआ ही तोड़ डालते हैं और कोई २ गरियार बैल तो फुफकार मारकर गाड़ीवान के हाथ से छूटते ही दूर भाग जाते हैं।

(८) जैसे गाड़ी में जुते हुए गरियार बैल गाड़ी को तोड़ कर गाड़ीवान को हैरान कर भाग जाता है वैसे ही वैसे स्वच्छंदी शिष्य भी सचमुच धर्म (संयम-धर्म) रूपी गाड़ी में जुते रहने पर भी धैर्य खोकर संयमधर्म को भंग कर देते हैं। (सच्चे मन से संयम का पालन नहीं करते)

(९) गर्ग्याचार्य अपने शिष्यों के विषय में कहते हैं:— (मेरे) कोई २ कुशिष्य विद्या की ऋद्धि के गर्व से मदोन्मत्त एवं अहंकारी होकर फिरते हैं, कोई २ रसलोलुपी हो गये हैं,

कई एक साताशील (शरीरसुख के प्रेमी) हो गये हैं और कोई २ प्रचंड क्रोधी हैं।

(१०) कोई २ भिक्षा में आलसी बन गये हैं, कोई २ अहंकारी शिष्य भिक्षा मांगने में अपने अपमान की संभावना देख भीरु होकर एक ही स्थान पर बैठे रहते हैं। कोई २ मदोन्मत्त शिष्य ऐसे हैं कि जब २ मैं प्रयोजन पूर्वक (संयम मार्ग के योग्य) शिक्षा देता हूँ।

(११) तो बीच ही में सामने जवाब देते हैं और उल्टा मुझे ही दोष देते हैं और कई एक तो आचार्यों के वचनों (आज्ञाओं) के वारम्वार विरुद्ध जाते हैं।

(१२) (कई एक शिष्य भिक्षार्थ भेजे जाने पर भी जाते नहीं है अथवा ऐसे २ बहाने करते हैं कि) 'वह श्राविका तो मुझे पहिचानती ही नहीं है, वह मुझे भिक्षा नहीं देगी', 'वह घर पर नहीं होगी तो अच्छा तो यही है कि आप किसी दूसरे साधु को वहां भेजे"। कोई २ तो उद्धत होकर ऐसे वचन बोलते हैं कि 'क्या मैं ही अकेला बचा हूँ, दूसरा कोई नहीं है ?' इत्यादि प्रकार से गुरु को उल्टा उत्तर देते हैं और भिक्षार्थ नहीं जाते।

(१३) अथवा कोई २ शिष्य जिस प्रयोजन से भेजे जाते हैं वह कार्य करके नहीं लाते और झूंठ बोलते हैं। या तो कार्य को कठिन बताकर इधर उधर घूमने में समय बिता देते हैं अथवा काम भी यदि करते हैं तो बेगार सी भुगतते हैं और कहने पर क्रोध से भौंहे चढ़ाकर मुंह बिगाड़ते हैं।

(१४) इन सब कुशिष्यों को पढ़ाया, गुनाया, दीक्षित किया तथा अन्न पानी से पालन किया फिर भी जैसे हँस के बच्चे पंख निकलते ही दिशाविदिशा में (इधर उधर) स्वेच्छानुसार उड़ जाते हैं वैसे ही गुरु को छोड़कर ये शिष्य अकेले ही स्वच्छंदता से विचरते हैं।

(१५) जैसे गरियार बैल का सारथी (हांकनेवाला गाड़ीवान) दुःख उठाता है वैसे ही गर्ग्याचार्य अपने ऐसे कुशिष्यों के होने से खेदखिन्न होकर यह कह रहे हैं कि 'जिन शिष्यों से मेरी आत्मा क्लेशित हो ऐसे दुष्ट शिष्य किस काम के ?'।

(१६) अड़ियल टट्टू जैसे मेरे शिष्य हैं—ऐसा विचार कर गर्ग्याचार्य मुनीश्वर उन अड़ियल टट्टुओं को छोड़कर एकान्त में तप साधन करते हैं।

(१७) उसके बाद वे सुकोमल, नम्रतायुक्त, गम्भीर, समाधिवंत और सदाचारमय आचार से समन्वित गर्ग्याचार्य महात्मा वसुधा (पृथ्वी) पर अकेले ही विहार करते रहे।

टिप्पणी—जैसे गरियार बैल गाड़ी को तोड़ डालता है, गाड़ीवान को दुखी करता है और अपने स्वच्छन्द से स्वयं भी दुःखी होता है वैसे ही स्वच्छन्दी शिष्य (साधक) संयम से पतित होजाता है। वह अपने आलम्बन रूपी सद्गुरु आदि का यथेष्ट लाभ नहीं ले सकता और अपनी आत्मा को भी कलुषित करता है। स्वतन्त्रता के बहाने से बहुत से लोग प्रायः स्वच्छन्दता की ही पुष्टि करते रहते हैं। वस्तुतः विचार किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि स्वच्छन्दता भी एक तरह की सूक्ष्म परतंत्रता ही है और महापुरुषों के प्रति जो

अर्पणता दिखाई जाती है वह यद्यपि ऊपर से परतंत्रता रूप मालूम होती है किन्तु वह वास्तव में स्वतन्त्रता है। ऐसी स्वतन्त्रता का उपासक ही आत्ममार्ग में आगे बढ़ सकता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'खलुंकीय' नामक सत्ताईसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

मोक्षमार्गगति

मोक्षमार्ग पर गमन

२८
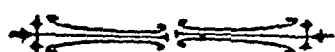
यावन्मात्र जीवों का लक्ष्य एकमात्र मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति ही है। दुःखों अथवा कषायों से सर्वथा छूट जाने को मुक्ति कहते हैं। कर्मबंधन से छूट जाना ही मुक्ति है; शान्ति स्थानकी प्राप्ति होना ही निर्वाण है। इस स्थिति में ही सब सुख समाये हैं।

जैनधर्म इन समस्त सांसारिक पदार्थों को दो भागों में विभक्त करता है: (१) जड (अजीव), तथा (२) चेतन (जीव) और इन दोनों तत्त्वों के सहायक तथा आधारभूत तत्त्व, जैसे कि धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन सबको मिलाकर ६ तत्त्वों में इस समस्त लोक का समावेश होजाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि जीवात्मा की पहिचान—अर्थात् जीवात्मा के सच्चे स्वरूप की प्रतीति—होना यही सबसे अधिक आवश्यक है। ऐसी प्रतीति का होना ही सम्यग्दर्शन है। उस प्रतीतिके होने के बाद आत्माके अनुपम ज्ञान की जो चिनगारी चमक उठती है उसीको सम्यग्ज्ञान-सच्चा ज्ञान-कहते हैं।

इस उत्तम स्थिति को प्राप्त करने में शास्त्रश्रवण, आत्मचिन्तन, सत्संग तथा सद्वांचन आदि सब उपकारक साधन हैं। इन निमित्तों के द्वारा सत्य को जानकर, विचार कर तथा अनुभव करके आगे बढ़ना यही प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा का कर्तव्य होना चाहिये।

भगवान बोले:—

(१) जिनेश्वर भगवानों ने यथार्थ मोक्ष का मार्ग जैसा प्ररूपित किया सो कहता हूँ, उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो। वह मार्ग चार कारणों से संयुक्त है और वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप लक्षणात्मक है।

टिप्पणी—यहाँ 'ज्ञानदर्शन लक्षण' विशेषण प्रयुक्त करने का कारण यह है कि मोक्ष मार्ग में इन दोनों गुणों की सबसे अधिक प्रधानता है।

(२) (१) ज्ञान (पदार्थ की यथार्थ समझ), (२) दर्शन (तत्त्वों-पदार्थों की यथार्थ श्रद्धा), (३) चारित्र (व्रतादि का आचरण), तथा (४) तप—इन चार प्रकारों से युक्त मोक्ष का मार्ग है—ऐसा केवलज्ञानी जिनेश्वर भगवान् ने फर्माया है।

टिप्पणी—चारित्र धारण करने से नवीन कर्मों का बन्धन नहीं होता, इतना ही नहीं किन्तु पूर्व संचित कर्मों का क्षय भी होता है।

(३) ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप से संयुक्त इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव सद्गति में जाते हैं।

(४) इन चार में से प्रथम—अर्थात् ज्ञान के ५ भेद हैं जिनके

नाम क्रम से (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान (४) मनः पर्ययज्ञान, और (५) केवलज्ञान, है।

टिप्पणी—इन सब ज्ञानों का सविस्तर वर्णन नन्दी आदि आगमों में है।

(५) ज्ञानी पुरुषों ने द्रव्य, गुण तथा उनकी समस्त पर्यायें जानने के लिये उक्त पांच प्रकार का ज्ञान बताया है।

टिप्पणी—पर्याय अर्थात् एक ही पदार्थ की बदलती हुई अवस्थाएं। वे समस्त पदार्थों एवं गुणों में होती रहती हैं।

(६) गुण जिसके आश्रय रहते हैं उसे द्रव्य कहते हैं और एक द्रव्य में वर्ण, रस, गंध, स्पर्श तथा ज्ञानादि जो धर्म रहते हैं उन्हें उस द्रव्य के गुण कहते हैं। द्रव्य तथा गुण इन दोनों के आश्रय जो रहती हैं उन्हें पर्याय कहते हैं।

टिप्पणी—जैसे आत्मा एक द्रव्य है, ज्ञानादि उसके गुण हैं और कर्मवशात् वह भिन्न भिन्न रूप धारण करता है तो उन्हें उसकी पर्याय कहेंगे।

(७) केवली जिनेश्वर भगवानों ने इस लोक को धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय तथा जीवास्तिकाय इन षड् द्रव्यात्मक बताया है।

टिप्पणी—"अस्तिकाय" शब्द जैन दर्शन का समूहवाची पारिभाषिक शब्द है। अस्तिकाय शब्द की व्युत्पत्ति—अस्ति (है) काय (बहु प्रदेश) जिनके ऐसे पदार्थ अर्थात् काल द्रव्य को छोड़ कर उपरोक्त पांचों पदार्थ।

(८) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय ये तीनों १-१ द्रव्य हैं तथा काल, पुद्गल तथा जीव ये तीनों द्रव्य संख्या में अनन्त हैं।

टिप्पणी—समय गणना की अपेक्षा से यहां काल की अनन्तता का विधान किया है।

(९) चलने (गति) में सहायता करना यह धर्मास्तिकाय का लक्षण है। और ठहरने में मदद करना यह अधर्मास्तिकाय का लक्षण है। जिसमें सब द्रव्य रहते हैं उसे आकाश द्रव्य कहते हैं और सबको स्थान देना यह उसका लक्षण है।

(१०) पदार्थ की क्रियाओं के परिवर्तन पर से समय की जो गणना होती है वह काल का लक्षण है। उपयोग (ज्ञानादि व्यापार) जीव का लक्षण है और वह ज्ञान, दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा व्यक्त होता है।

(११) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग ये जीव के विशिष्ट लक्षण हैं।

(१२) शब्द, अंधकार, प्रकाश, कान्ति, छाया, ताप, वर्ण (रंग) गंध, रस, तथा स्पर्श ये सब पुद्गलों के लक्षण हैं।

टिप्पणी—'पुद्गल' यह जैन दर्शन में जड़ पदार्थों के अर्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है।

(१३) इकट्ठा होना, बिखर जाना, संख्या, आकार (वर्णादि का) संयोग तथा वियोग—ये सभी क्रियाएं पर्यायों की बोधक हैं, इसलिये यही इनका (पुद्गलों का) लक्षण समझना चाहिये।

(१४) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ तत्त्व हैं।

(१५) स्वाभाविक रीति (जातिस्मरण ज्ञान इत्यादि) से या किसी दूसरे के उपदेश से भावपूर्वक उक्त समस्त पदार्थों की श्रद्धा करना—उसे महापुरुष समकित (सम्यक्त्व) कहते हैं।

टिप्पणी—सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थ आत्मभान होना। जैन दर्शन में वर्णित १४ गुणस्थानकों में से चौथे गुणस्थानक से ही आत्मविकास प्रारम्भ होता है और उस प्रारम्भ को ही 'सम्यक्त्व' कहते हैं।

(१६) (१)निसर्गरुचि, (२) उपदेशरुचि, (३) आज्ञारुचि, (४) सूत्ररुचि, (५) बीजरुचि, (६) अभिगम रुचि, (७) विस्तार रुचि, (८) क्रिया रुचि, (९) संक्षेप रुचि, (१०) धर्मरुचि, —इन दस रुचियों से तरतम (हीनाधिक) रूप में समकित की प्राप्ति होती है।

(१७) जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, तथा मोक्ष—इन ९ पदार्थों का यथार्थ रूप से जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा जानकर श्रद्धान करना उसे 'निसर्ग रुचि सम्यक्त्व' कहते हैं।

(१८) जो पुरुष जिनेश्वरों द्वारा अनुभूत भावों को द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से तथा भाव से स्वयमेव जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा जानकर, तत्त्वका स्वरूप ऐसा ही है—अन्यथा नहीं है, ऐसा अडग श्रद्धान करता है उसे 'निसर्गरुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

(१९) केवली भगवान अथवा छद्मस्थ गुरुओं द्वारा उपदेश सुन कर जो उपर्युक्त भावों का श्रद्धान करता है उसे 'उपदेश रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

(२०) जो जीव राग, द्वेष, मोह अथवा अज्ञान रहित गुरू (अथवा महापुरुष) की आज्ञा से तत्त्व पर रुचिपूर्वक श्रद्धा करता है उसे 'आज्ञारुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

(२१) जो जीव अंगप्रविष्ट अथवा अंगबाह्य सूत्र पढ़कर उनके द्वारा समकित की प्राप्ति करता है उसे 'सूत्र रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

टिप्पणी—आचारांगादि अंगों को अंगप्रविष्ट कहते हैं, इनके सिवाय बाकी के सभी सूत्र अंगबाह्य कहलाते हैं।

(२२) जिस तरह जल पर तेल की बूंद फैल जाती है और एक बीज के बोने से सैकड़ों हजारों बीजों की प्राप्ति होती है उसी तरह एक पद से या एक हेतु से बहुत से पद बहुत से दृष्टांत और बहुत से हेतुओं द्वारा तत्त्व का श्रद्धान बढ़े और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो तो ऐसे जीव को 'बीज रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

(२३) जिसने ग्यारह अंग तथा दृष्टिवाद तथा इतर सभी सिद्धान्तों को अर्थ सहित पढ़कर सम्यक्त्व की प्राप्ति की हो उसे 'अभिगम रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

(२४) ६ द्रव्यों के सब भावों को जिसने सब प्रमाणों तथा नयों से जानकर सम्यक्त्व की प्राप्ति की हो उसे 'विस्तार रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

टिप्पणी—प्रमाण के एक अंश को नय कहते हैं। नय अर्थात् विचारों का वर्गीकरण। उसके सात भेद हैं (१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार, (४) ऋजु सूत्र, (५) शब्द, (६) समभिरूढ, (७) एवंभूत। प्रमाण के मुख्य दो एवं विस्तृत ४ भेद हैं:—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान (३) उपमान, (४) तथा आगम। यावन्मात्र पदार्थों के ज्ञान में नय तथा प्रमाण की आवश्यकता रहती है।

(२५) सत्यदर्शन तथा ज्ञान पूर्वक, चारित्र, तप, विनय, पांच समिति और तीन गुप्तिओं आदि शुद्ध क्रियाएं करते हुए जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसे 'क्रिया रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

(२६) ऐसा जीव जो असत् मत, वाद अथवा दर्शन में फंसा नहीं है अथवा सत्य सिवाय अन्य किसी भी वाद को नहीं मानता है फिर भी वीतराग के प्रवचन में अति निपुण नहीं है। (अर्थात् वीतराग मार्ग की श्रद्धा यद्यपि शुद्ध है किन्तु विशेष पढ़ा लिखा नहीं है) उसे 'संक्षेप रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

(२७) जो जीव भगवान् जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित अस्तिकाय (द्रव्य), श्रुत (शास्त्र) धर्म तथा चारित्र का याथातथ्य श्रद्धान करता है 'उसे धर्म रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

(२८) (१) परमार्थ (तत्त्व) का गुण-कीर्तन करना, (२) जिन महापुरुषों ने उस परमार्थ की सिद्धि की है उनकी सेवा करना, तथा (३) जो मार्ग से पतित होगये हैं,

अथवा असत्य दर्शन या वाद में विश्वास करते हैं ऐसे पुरुषों से दूर रहना।

इन तीन गुणों से सम्यक्त्व की श्रद्धा प्रकट होती है (अर्थात् इन गुणों को निभाने से सम्यक्त्व श्रद्धापूर्वक टिका रहता है)।

(२९) सम्यक्त्व विना सम्यक् चारित्र हो ही नहीं सकता और जहां सम्यक्त्व होता है वहां चारित्र हो और न भी हो यदि सम्यक्त्व और चारित्र की उत्पत्ति एक ही साथ हो तो उसमें सम्यक्त्व की उत्पत्ति पहिली समझनी चाहिये।

टिप्पणी—सम्यक्त्व यह चारित्र की पूर्ववर्ती स्थिति है। यथार्थ जाने बिना आचरण करना केवल निरर्थक है।

(३०) दर्शन विना (सम्यक्त्व रहित) ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के विना चारित्र के गुण नहीं होते और चारित्र के गुणों के विना (कर्म से) मुक्ति भी नहीं मिलती और कर्म से छुटकारा पाये बिना निर्वाणगति (सिद्धपद) की भी प्राप्ति नहीं होती।

(३१) निःशंकित (जिनेश्वर भगवान के वचनों में शंका न करना), निःकांक्षित (असत्य मतों या सांसारिक सुखों की इच्छा न करना), निर्विचिकित्स्य (धर्म फल में संशय रहित होना), अमूढ़ दृष्टि (बहुत से मतमतांतरों को देखकर दिङ्मूढ़ न बने किन्तु अपनी श्रद्धा को अडग बनाये रक्खे,) उपबृंहा, (गुणी पुरुषों को देखकर उनके गुण की प्रशंसा करना और वैसे ही गुणी होने की

कोशिश करना), स्थिरीकरण (धर्म से शिथिल होते हुओं को पुनः धर्म मार्ग पर दृढ़ करना), वात्सल्य (स्वधर्म का हित करना और साधर्मियों के प्रति प्रेमभाव रखना), और प्रभावना (सत्य धर्म की उन्नति तथा प्रचार करना), ये आठ गुण सम्यक्त्व के अंग हैं।

(३२) प्रथम सामायिक चारित्र, दूसरा छेदोपस्थापनीय, तीसरा परिहार विशुद्ध चारित्र, तथा चौथा सूक्ष्म संपराय चारित्र।

(३३) तथा पांचवां कषाय रहित यथाख्यात चारित्र (यह ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थानकवर्ती छद्मस्थ को तथा केवली को ही होता है। इस प्रकार कर्म को नाश करने वाले चारित्र के ५ भेद कहे हैं।

टिप्पणी—पंच महाव्रत रूप प्राथमिक भूमिका के चारित्र को सामायिक चारित्र कहते हैं। बाद में सामायिक चारित्र काल को छेद (सीमोल्लंघन) करके जो पक्का चारित्र धारण किया जाता है। उसे छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। उच्च प्रकार के ज्ञान तथा तपश्चर्या पूर्वक नौ साधुओं के साथ डेढ़ वर्ष तक चारित्र पालना इसको परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं और सूक्ष्म संपराय केवल सूक्ष्म कषाय वाले चारित्र को कहते हैं।

(३४) आन्तरिक तथा बाह्य ये दो भेद तप के हैं। बाह्य तथा आन्तरिक इन दोनों तपों के ६–६ भेद और हैं।

टिप्पणी—तपश्चर्या का विशेष वर्णन जानने के लिये तीसवां अध्ययन पढ़ो।

(३५) जीवात्मा ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर

श्रद्धा करता है, चारित्र से आते हुए कर्मों को रोकता है और तप से पहिले के कर्मों का क्षय कर शुद्ध होता है।

(३६) इस प्रकार संयम तथा तप द्वारा पूर्व कर्मों को खपाकर सर्व दुःख से रहित होकर महर्षिजन शीघ्र ही मोक्ष गति प्राप्त करते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'मोक्षमार्गगति' नामक अट्ठाईसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

सम्यक्त्व पराक्रम

सम्यग्दर्शन की महिमा

२९

पराक्रम, शक्ति अथवा सामर्थ्य तो जीव मात्र में होता है किन्तु संसार में उसका उपयोग जुदी जुदी रीति से जुदे २ रूप में होता हुआ देखा जाताहै और उसी से जीवों की भूमिकाएं (श्रेणी) मालूम होती हैं। जो कोई प्राप्त शस्त्र का उपयोग अपनी रक्षा में न कर अपने ऊपर प्रहार करने में ही करता है वह मूर्ख है—महामूर्ख है, उसे बुद्धिमान कौन कहेगा ? उसी तरह इस भवोदधि को पार कर जाने के साधन पास रखते हुए भी जो इसीमें डूब जाता है उसे बाल जीव न कहें तो क्या कहें ?

ज्यों २ ऐसा बाल-भाव मिटता जाता है त्यों २ साथ ही साथ उसकी दृष्टि भी बदलती जाती है। इस दृष्टि को जैन दर्शन में एक विशिष्ट नाम दिया है और उसको समकित-दृष्टि कहते हैं। यह दृष्टि प्राप्त कर जो कुछ भी पुरुषार्थ किया जाता है वही सच्चा पुरुषार्थ है, वही सच्चा पराक्रम है।

यावन्मात्र जीव मोक्ष के साधक हैं। कौन ऐसा है जो दुःखसे छूटना नहीं चाहता? कौन ऐसा है जिसे सुख प्रिय नहीं है? यह अवस्था केवल मोक्ष में ही प्राप्त होती है। इस-लिये भले ही जगत में असंख्य मत-मतान्तर हों, भले ही सब की मान्यताएं जुदी हों फिर भी दुःख का अन्त सभी चाहते हैं और वे प्रकारान्तर से मोक्ष चाहते हैं—ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। मोक्षप्राप्ति ही सब का ध्येय है, उस ध्येय की प्राप्ति की भूमिका यह संसार है; उसमें भी मनुष्यभव की प्राप्ति उसकी साधना का विशेष उच्च स्थान है और यदि इस जन्म में प्राप्त साधनों का सुमार्ग में प्रयोग किया जाय तो साधक की वह अनन्तकालीन साधना सफल हो जाती है— वह अतृप्त पिपासा अमृत पान से तृप्त हो जाती है और मुक्ति-लक्ष्मी स्वयमेव इसकी शोध करती हुई चली आती है। जहां सबल पराक्रम होता है वहां कौन सी ऋद्धि सिद्धि अलभ्य रहती है?

जैसे जीव भिन्न २ होते हैं वैसे ही उनके साधनों एवं प्रकृति में भी भिन्नता होती है इसलिये सम्यक्त्व पराक्रम के भिन्न २ साधन भिन्न २ रूप से यहां ७३ भेदों में कहे हैं जिनमें से कुछ तो सामान्य, कुछ विशेष और कुछ विशेपतर कठिन हैं। इनमें से अपने २ इष्ट साधनों को छांट कर प्रत्येक साधक को पुरुषार्थ में प्रयत्न तथा विचार करना अति आवश्यक है।

सुधर्मस्वामी ने जम्बूस्वामी से कहाः—हे आयुष्मन्! उन भगवान महावीर ने इस प्रकार कहा था यह मैंने सुना है। यहां पर वस्तुतः श्रमण भगवान काश्यप महावीर प्रभु ने सम्यक्त्व पराक्रम नामक अध्ययन का वर्णन किया है।

जिनको सुन्दर रीति से सुन कर उनपर विश्वास तथा श्रद्धा लाकर, (अडग विश्वास लाकर) उनपर रुचि जमाकर

उनको ग्रहण कर, उनका पालन कर, उनका शोधन, कीर्तन, तथा आराधन करके तथा (जिनेश्वरों की) आज्ञानुसार पालन कर बहुत से जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए हैं, परिनिर्वाण प्राप्त हुए हैं और उनने अपने सब दुःखों का अंत कर दिया है।

उसका यह अर्थ इस प्रकार क्रमसे कहा जाता है; यथाः— (१) संवेग (मोक्षाभिलाषा), (२) निर्वेद (वैराग्य), (३) धर्मश्रद्धा, (४) गुरुसाधर्मिकसुश्रूषणा (महापुरुषों तथा साधर्मियों की सेवा), (५) आलोचना (दोषों की विचारणा) (६) निन्दा (अपने दोषों की निन्दा), (७) गर्हा (अपने दोषों का तिरस्कार), (८) सामायिक (आत्मभाव में लीन होने की क्रिया), (९) चतुर्विंशतिस्तव (चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति), (१०) वंदन, (११) प्रतिक्रमण (पाप का प्रायश्चित करनेकी क्रिया), (१२) कायोत्सर्ग, (१३) प्रत्याख्यान (त्याग की प्रतिज्ञा करना), (१४) स्तवस्तुतिमंगल (गुणीजन की स्तुति), (१५) काल प्रतिलेखना (समय निरीक्षण), (१६) प्रायश्चित्तकरण (प्रायश्चित्त क्रिया) (१७) क्षमापना, (१८) स्वाध्याय, (१९) वांचन, (२०) प्रतिप्रच्छना, (प्रश्नोत्तर), (२१) परिवर्तना (अभ्यास का पुनरावर्तन), (२२) अनुप्रेक्षा (पुनः २ मनन करना), (२३) धर्मकथा, (२४) शास्त्राराधना (ज्ञानप्राप्ति), (२५) चित्त की एकाग्रता, (२६) संयम, (२७) तप, (२८) व्यवदान (कर्म का क्षय), (२९) सुखशाय (सन्तोष), (३०) अप्रतिबद्धता (अनासक्ति), (३१) एकांत आसन, शयन तथा स्थान का सेवन, (३२) विनिवर्तना (पाप कर्म से निवृत्त होना), (३३) संभोग प्रत्याख्यान (स्वावलम्बन), (३४) उपधि प्रत्याख्यान, (अनावश्यक वस्तुओं का त्याग अथवा वस्त्र, पात्र इत्यादि का

त्याग), (३५) आहार प्रत्याख्यान, (३६) कषाय प्रत्याख्यान (३७) योग प्रत्याख्यान (पाप किंवा मन, वचन, तथा काय की दुष्प्रवृत्ति रोकना), (३८) शरीर का त्याग, (३९) सहायक का त्याग, (४०) भक्तप्रत्याख्यान, (अनशन—अपना अन्तकाल आया जानकर आहार का सर्वथा त्याग करना), (४१) स्वभाव प्रत्याख्यान (दुष्ट प्रकृतियों से निवृत्त होना), (४२) प्रतिरूपता (मन वचन तथा काय की एकता), (४३) वैयावृत्य (गुणीजन की सेवा), (४४) सर्वगुणसम्पन्नता (आत्मिक सब गुणों की प्राप्ति), (४५) वीतरागता (रागद्वेष से विरक्ति), (४६) क्षमा, (४७) मुक्ति (निर्लोभता), (४८)सरलता (मायाचार का त्याग) (४९) मृदुता (निरभिमानता), (५०) भावसत्य (शुद्ध अन्तः करण), (५१) करणसत्य (सच्ची प्रवृत्ति), (५२) योगसत्य (मन, वचन और काय का सत्यरूप व्यापार), (५३) मनो गुप्ति (मन का संयम), (५४) वचन गुप्ति (वचन का संयम), (५५)काय गुप्ति (काय का संयम), (५६) मनः समाधारणा (मन को सत्य में एकाग्र करना) (५७) वाक् समाधारणा (योग्य मार्ग में वचन का उपयोग), (५८) काय समाधारणा (केवल सत्याचरण में शरीर की प्रवृत्ति करना), (५९) ज्ञानसम्पन्नता (ज्ञान की प्राप्ति), (६०) दर्शन सम्पन्नता (सम्यक्त्व की प्राप्ति (६१) चारित्र सम्पन्नता (शुद्ध चारित्र की प्राप्ति), (६२) श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह (कान का संयम), (६३) आंख का संयम, (६४) घ्राणेन्द्रिय (नाक का) संयम, (६५) जीभ का संयम, (६६) स्पर्शेन्द्रिय का संयम, (६७)क्रोध विजय, (६८) मान विजय, (६९) माया विजय, (७०) लोभ विजय, (७१) रागद्वेष तथा मिथ्यादर्शन (खोटे श्रद्धान) का विजय, (७२) शैलेशी (मन, वचन के भोगों को रोकना, पर्वत जैसी अडोल—अकंप स्थिति का प्राप्त होना), तथा (७३) अकर्मता (कर्म रहित अवस्था) ।

भगवान बोले:—

(१) शिष्य पूछता है कि—हे पूज्य ! संवेग (मुमुक्षुता) से जीवात्मा क्या प्राप्त कर सकता है ? (कौन से गुण को प्राप्त होता है) ? गुरु बोले:—हे भद्र ! संवेग से अनुत्तर धर्मश्रद्धा जागृत होती है और उस अपूर्व आत्मश्रद्धा से शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न होता है और वह वैराग्य अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का नाश करता है। (इस समय कषायों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम—इन तीनों में से योग्यतानुसार कोई एक अवस्था होती है)। ऐसा जीवात्मा नवीन कर्मों को नहीं बांधता और कर्मबंधन का निमित्त कारण मिथ्यात्व की शुद्धि कर सम्यक्त्व का आराधक होता है। सम्यक्त्व की उच्च प्रकार की विशुद्धि होने (क्षायिक सम्यक्त्व की उच्च स्थिति) से कोई कोई जीव तद्भवमोक्षगामी होते हैं और जो उसी जन्म में मोक्ष में नहीं जाते वे आत्मविशुद्धि के कारण तीसरे जन्म में तो अवश्य मोक्षगामी होते हैं।

टिप्पणी—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संसार में ३ भव से अधिक भव नहीं करते।

(२) हे पूज्य ! जीवात्मा को निर्वेद (निरासक्ति) से कौन कौन गुण प्राप्त होते हैं।

गुरु ने कहा—हे भद्र ! निर्वेद से यह जीवात्मा देव, मनुष्य तथा पशु संबंधी समस्त प्रकार के कामभोगों से शीघ्र ही आसक्ति रहित हो जाता है और

इस कारण सब विषयों से विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त हुआ वह समस्त आरम्भ (पापक्रिया) का परित्याग कर देता है। आरंभ का परित्याग कर वह भवपरंपरा का नाश क्रमपूर्वक कर डालता है और मोक्ष-मार्ग पर गमन करता है।

(३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! धर्मश्रद्धा से जीव को क्या फल प्राप्त होते हैं ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! धर्मश्रद्धा होने से सातावेद-नीय (कर्म से प्राप्त हुए) सुख मिलने पर भी वह उसमें लिप्त नहीं होता है और वह वैराग्यधर्म को प्राप्त होता है। वैराग्यधर्म को प्राप्त हुआ वह गृहस्थाश्रम को छोड़ देता है। गृहस्थाश्रम को छोड़ कर वह अणगार (त्यागी) धर्म को धारण कर शारीरिक तथा मानसिक छेदन, भेदन, संयोग तथा वियोग जन्य दुःखों का नाश कर देता है (नूतन कर्मबंधन से निवृत्त होकर पूर्वकर्म का क्षय कर डालता है) और अव्याबाध (बाधारहित) मोक्षसुख को प्राप्त होता है।

(४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! गुरुजन तथा साधर्मीजनों की सेवा करने से जीव को क्या फल प्राप्त होते हैं ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! गुरुजन और साधर्मीयों की सेवा करने से सच्ची विनय (मोक्ष के मूल कारण) की प्राप्ति होती है। विनय की प्राप्ति से सम्यक्त्व को रोकने-वाले कारणों का नाश होता है और उसके द्वारा वह जीव नरक, पशु, मनुष्य, तथा देवगति सम्बन्धी दुर्गति को अटकाता है और जगत में बहुमान कीर्ति को प्राप्त होता

है तथा अपने अनेक गुणों से शोभित होता है। सेवा-भक्ति के अपने अपूर्व साधन द्वारा वह मनुष्य तथा देव-गति को प्राप्त करता है; मोक्ष तथा सद्गति के मार्ग (ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र) को विशुद्ध बनाता है अर्थात् विनय प्राप्त होते ही वह सर्व प्रशस्त कार्यों को साध लेता है और साथ ही साथ दूसरे जीवों को भी उसी मार्ग में प्रेरित करता है।

(५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! आलोचना करने से जीवात्मा को क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! आलोचना करने से जीवात्मा; माया, निदान तथा मिथ्यात्व (असद् दृष्टि)—इन तीनों शल्यों को, जो मोक्षमार्ग में विघ्नरूप हैं तथा संसार बंधन के कारण हैं उनको दूर करता है और ऐसा कर वह अलभ्य सरलता को प्राप्त कर लेता है। सरल जीव; कपटरहित हो जाता है और इससे ऐसा (सरल) जीव स्त्रीवेद अथवा नपुंसकवेद का बंध नहीं करता और यदि कदाचित उनका पूर्व में बंध होचुका हो तो उसका भी नाश कर डालता है।

टिप्पणी—स्त्रीवेद अर्थात् वे कर्मप्रकृति जिनसे स्त्री का लिंग तथा शरीर मिलता है।

(६) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! आत्मनिंदा से जीव को क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्तापरूपी भट्ठी सुलगती है और वह पश्चा-

त्ताप की भट्ठी में समस्त दोषों को डाल कर वैराग्य प्राप्त करता है। ऐसा विरक्त जीव अपूर्वकरण की श्रेणी (क्षपक-श्रेणी) प्राप्त करता है और क्षपकश्रेणी प्राप्त करनेवाला जीव शीघ्र ही मोहनीय कर्म का नाश करता है।

टिप्पणी—कर्मों का सविस्तार वर्णन जानने के लिये तेतीसवां अध्ययन पढ़ो।

(७) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! गर्हा (आत्मनिंदा) करने से जीव को क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! गर्हा करने से आत्मनम्रता की प्राप्ति होती है और ऐसा आत्मनम्र जीव; अप्रशस्त कर्मबंधन के कारणभूत अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ-योग को प्राप्त होता है। ऐसा प्रशस्त योगी पुरुष अण-गार धर्म धारण करता है और अणगारी होकर वह अन-न्त आत्मघातक कर्मपर्यायों का समूल नाश करता है।

(८) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! सामायिक करने से जीव को क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! सामायिक करने से विराम (आत्मसंतोष) की प्राप्ति होती है।

(९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से जीव को क्या फल मिलता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से आत्मदर्शन की विशुद्धि होती जाती है।

टिप्पणी—मनुष्य जैसा ध्यान किया करता है वैसा ही उसका आन्तरिक वातावरण बन जाता है और अन्त में वह वैसा ही हो जाता है।

(१०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! वंदन करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वंदन करने से जीव ने यदि नीचगोत्र का बंध भी किया हो तो वह उसको छेद कर ऊँच गोत्र का बंध करता है (अर्थात् नीच वातावरण में पैदा न होकर उच्च वातावरण में पैदा होता है) और सौभाग्य और आज्ञा का सफल सामर्थ्य को प्राप्त करता है (बहुत से जीवों अथवा समाज का नेता बनता है) और दाक्षिण्यभाव (विश्ववल्लभता) को प्राप्त होता है।

(११) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रतिक्रमण के द्वारा जीवात्मा ग्रहण किये हुए व्रतों के दोषों को दूर कर सकता है। ऐसा शुद्ध व्रतधारी जीव हिंसादि के आस्रव से निवृत्त होकर आठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और विशुद्ध चारित्र को प्राप्त होकर संयमयोग से अलग न हो कर आजन्म संयम में समाधिपूर्वक विचरता है।

(१२) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! कायोत्सर्ग करने से जीवको क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! कायोत्सर्ग से भूत तथा वर्तमान काल के दोषों का प्रायश्चित कर जीव शुद्ध बनता

है और जैसे भारवाहक (कुली) बोझ उतरने से शान्तिपूर्वक विचरता है वैसे ही ऐसा जीव भी चिंता-रहित होकर प्रशस्त ध्यान में सुखपूर्वक विचरता है।

(१३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रत्याख्यान करनेवाला जीव आते हुए नये कर्मों को रोक देता है कर्मों के रोध होने से इच्छाओं का रोध होता है। इच्छारोध होनेसे सर्व पदार्थों में वह तृष्णा रहित होजाता है और तृष्णारहित जीव परम शान्ति में विचरता है।

(१४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! स्तवस्तुतिमंगल से जीव को किसकी प्राप्ति होती है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! स्तवस्तुतिमंगल से जीव ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र रूपी बोधिलाभ को प्राप्त होता है और ऐसा बोधिलब्ध जीव देहान्त में मोक्षगामी होता है अथवा उच्च देवगति (१२ देवलोक, नव ग्रैवेयक तथा ५ अनुत्तर विमान) की आराधना (प्राप्ति) करता है।

(१५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! स्वाध्यायादि काल के प्रति-लेखन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! ऐसे प्रतिलेखन से जीवात्मा ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट कर डालता है।

(१६) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या प्राप्ति होती है।

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रायश्चित्त करने वाला जीव पापों की विशुद्धि करता है और व्रत के अतिचारों (दोषों) से रहित होता है और शुद्ध मन से प्रायश्चित्त ग्रहण कर कल्याण के मार्ग और उसके फल की विशुद्धि करता है और वह क्रम से चारित्र तथा उसके फल (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है।

(१७) शिष्य ने पूछा—हे पूज्य ! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! क्षमा से चित्त आह्लादित होता है और ऐसा आह्लादित जीव; जगत के समस्त जीवों (प्राणी, भूत, जीव तथा सत्व इन चारों) के प्रति मैत्रीभाव पैदा कर सकता है और ऐसा निर्मलचित्त जीव; अपने भाव को विशुद्ध बनाता है और भावविशुद्धि-वाला जीव अन्त में निर्भय हो जाता है।

टिप्पणी—दूसरों के दोषों तथा भूलों पर निगाह न रखने से चित्त प्रसन्न रहता है और इस सतत निर्मलता से विशुद्ध प्रेम निरा-पद प्रभाव होता है। न वह किसी को भय देता है और न उसे ही किसी से भयभीत होना पड़ता है।

(१८) (शिष्य ने पूछा) हे पूज्य ! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा— हे भद्र ! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय होता है।

(१९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ? वांचन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वांचन से कर्मों की निर्जरा होती है और सूत्रप्रेम होने से ज्ञान में वृद्धि होती है और ज्ञानप्राप्ति होने से तीर्थंकर भगवानों के सत्य धर्म का अवलंवन मिलता है और सत्यधर्म का सहारा मिलने से कर्मों की निर्जरा कर आत्मा कर्मरहित हो जाता है।

टिप्पणी—वांचन में स्ववांचन (अपने आप पढ़ना) तथा अध्ययन (किसी दूसरे के पास जाकर पढ़ना) इन दोनों का समावेश होता है।

(२०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! शास्त्रचर्चा करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! जो जीव शास्त्रचर्चा करता है वह महापुरुषों के सूत्रों तथा उनके रहस्य इन दोनों को समझ सकता है। सूत्रार्थ का जानकार जीव शीघ्र ही कांक्षामोहनीय कर्म का क्षय कर देता है। (यहां कांक्षा-मोहनीय का अर्थ चारित्रमोहनीय है)

(२१) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! सूत्रपुनरावर्तन करने से जीव को क्या लाभ है।

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! जो जीव सूत्रपुनरावर्तन (पढ़े हुए पाठों का पुनरावर्तन) करता है, उसको अपने भूले हुए पाठ फिर याद हो जाते हैं और ऐसी आत्मा को अक्षरलब्धि (अक्षरों का स्मरण) तथा पदलब्धि (पदों का स्मरण) होता है।

(२२) (शिष्य ने पूंछाः—) हे पूज्य ! अनुप्रेक्षा करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! जो अनुप्रेचा (तत्त्व का पुनः २ चिन्तवन) करता है वह आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों का गाढ़ बंधनों से बंधी हुई कर्मप्रकृतियों को शिथिल बनाता है। यदि वे लँबी स्थिति की हों तो वह उन्हें खपाकर थोड़ी स्थिति को बना देता है। तीव्र रस (विपाक) की हों तो उन्हें कम रस की बना डालता है। बहुप्रदेशी हों तो उनको अल्पप्रदेशी बना डालता है। कदाचित आयुष्य कर्म का बंध हो और न भी हो (तद्भव मोक्षगामी हो) ऐसे जीव को असाता वेदनीय कर्म का बंध नहीं होता और वह अनादि अनंत दीर्घकाल से चले आते हुए संसाररूपी अरण्य (वन) को शीघ्र ही पार होजाता है।

(२३) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! धर्मकथा कहने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! धर्मकथा कहने से निर्जरा होती है और जिनेश्वर भगवानों के प्रवचनों की प्रभावना होती है और प्रवचनों की प्रभावना से भविष्यकाल में वह जीव केवल शुभकर्मों का ही बंध करता है (अशुभ-कर्मों का आस्रव रुक जाता है)।

(२४) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! सूत्रसिद्धान्त की आराधना से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! सूत्र की आराधना करने से जीवात्मा का अज्ञान दूर होता है और अज्ञानरहित जीव कभी भी कहीं पर भी दुःख नहीं पाता है।

(२५) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! मन की एकाग्रता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! मन की एकाग्रता से जीव अपनी चित्तवृत्ति का निरोध करता है (मन को अपने वश में रखता है)।

(२६) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! संयमधारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! जो जीव संयमधारण करता है उसे अनास्रवत्व (आते हुए कर्मों का बंध होना) प्राप्त होता है।

(२७) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! शुद्धतप करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! शुद्धतप करने से जीवात्मा अपने पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति करता है।

(२८) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! सर्व कर्मों के विखरने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! कर्मों के विखर जाने से जीवात्मा सर्व प्रकार की क्रियाओं से रहित हो जाता है और ऐसा जीव ही अन्त में सिद्ध, बुद्ध, तथा मुक्त होकर

अनन्तशांति को प्राप्त होता है और सब दुःखों का अन्त कर देता है।

(२९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! विषयजन्य सुखों से दूर रहकर संतोषी जीवन बिताने से क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! संतोषीजीव व्याकुलता का नाश कर देता है व्याकुलतारहित जीव शांति का अनुभव करता है और शांतपुरुष ही स्थितबुद्धि होता है और ऐसा स्थितबुद्धि जीव हर्ष, विषाद अथवा शोकरहित होकर चारित्रमोहनीय कर्मों का क्षय करता है।

टिप्पणीः—आत्मा को जो कर्म संयम धारण नहीं करने देते उसे चारित्रमोहनीय कर्म कहते हैं।

(३०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! (विषयादि के) अप्रतिबंध से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! जो जीव विषयादि के बंधनों से अप्रतिबद्ध रहता है उसे असंगता (आसक्तिहीनता) प्राप्त होती है। असंगता से उसे चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है और उससे वह जीव अहोरात्र किसी भी वस्तु में न बंधकर एकान्त शान्ति को प्राप्त होता है और आसक्तिरहित होकर विचरता है।

(३१) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! एकान्त (स्त्री इत्यादि संग रहित) स्थान, आसन तथा शयन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! एकान्तसेवन से चारित्र का रक्षण होता है और शुद्ध चरित्रधारी जीव रसासक्ति

छोड़कर चारित्र में निश्चल बनता है। इस प्रकार एकान्तसेवी जीव आठों कर्मों के बंधनों को तोड़ कर अन्त में मोक्ष लाभ करता है।

(३२) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! विषयों की विरक्ति से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! विषयविरक्त जीवात्मा के नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है और पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है और कर्मों के क्षय होने से चार गतिरूपी इस संसार अटवी को वह पार कर जाता है।

(३३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! संभोग के प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ है ?

गुरू ने कहा—हे भद्र ! संभोगोंके प्रत्याख्यानसे जीव का परावलंबनपन छूट जाता है और वह स्वावलम्बी होता है। ऐसे स्वावलंबी जीव की योग प्रवृत्ति उत्तम अर्थ वाली होती है। उसे आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है और उसीमें उसे सन्तोष रहता है; दूसरी किसी भी वस्तु के लाभ की वह आशा नहीं करता। कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना तथा अभिलाषा इनमें से वह एक भी नहीं करता और इस प्रकार वह अस्पृही–अनभिलाषी होकर उत्तम प्रकार की सुखशय्या (शान्ति) को प्राप्त होकर विचरता है।

टिप्पणी:—संयमियों के पारस्परिक व्यवहार को, 'संभोग' कहते हैं। ऐसे मुनि को संभोग (अति परिचय) से दूर रहकर निर्लेप रहना चाहिये।

(३४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! उपधि (संयमी के उपकरणों) का पच्चक्खाण करने से जीव को क्या लाभ है।

गुरु ने कहा—हे भद्र ! उपधि (संयमी के उपकरण) के प्रत्याख्यान से जीव उनको उठाने, रखने अथवा रक्षा करने की चिन्ता से मुक्त होता है और उपधि-रहित जीव निस्पृही (स्वाध्याय अथवा ध्यान चिन्तन में निश्चिन्त) होकर उपधि न मिलने से कभी दुःखी नहीं होता।

(३५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! सर्वथा आहार के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! सर्वथा आहार त्याग करने की योग्यतावाला जीव आहार त्याग से जीवन की लालसा से छूट जाता है और जीवन की लालसा से छूटा हुआ जीव भोजन न मिलने से कभी भी खेदखिन्न नहीं होता।

(३६) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! कषायों के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! कषायों के त्याग से जीव को वीतराग भाव पैदा होता है और वीतराग भाव प्राप्त जीव के लिये सुखदुःख सब समान हो जाते हैं।

(३७) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! योग (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति) के त्याग से जीवात्मा को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! योग के त्याग से जीव अयोगी (योग की प्रवृत्ति रहित) हो जाता है और ऐसा

अयोगी जीव निश्चय से नये कर्मों का बंध नहीं करता है और पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर डालता है।

(३८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! शरीर त्यागने से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! शरीर त्यागने से सिद्ध भगवान के अतिशय (उच्च) गुणभाव को प्राप्त होता है और सिद्ध के अतिशय गुणभाव को प्राप्त होकर वह जीवात्मा लोकाग्र में जाकर परमसुख को प्राप्त होता है अर्थात् सिद्ध (सर्व कर्मों से विमुक्त) होता है।

(३९) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! सहायक के त्याग से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! सहायक का त्याग करने से जीवात्मा एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव प्राप्त जीव अल्पकषायी, अल्पक्लेशी और अल्पभाषी होकर संयम, संवर और समाधि में बहुत दृढ़ होता है।

(४०) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! आहार त्याग की तपश्चर्या करनेवाले जीव को क्या लाभ होता है?

गुरु ने कहा—हे भद्र! आहार त्याग की तपश्चर्या करनेवाला जीवात्मा अपने अनशन द्वारा सैंकड़ों भवों का नाश कर देता है (अल्प संसारी होता है)।

(४१) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! सर्व योगावरोध क्रिया करने से जीव को क्या लाभ है?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वृत्ति मात्र त्याग से यह जीवात्मा अनिवृत्तिकरण को प्राप्त होता है। अनिवृत्ति-प्राप्त जीव अणगार होकर केवलज्ञानी होता है और बाद में चार अघातियां कर्मों (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) का नाश कर डालता है। बाद में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर अनन्त शान्ति का उपभोग करता है।

(४२) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! प्रतिरूपता (आदर्शता—स्थविर-कल्पी की आन्तर तथा बाह्य उपाधिरहित दशा) से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रतिरूपता से जीवात्मा लघुताभाव को प्राप्त होता है और लघुताप्राप्त जीव अप्रमत्त रूप से प्रशस्त तथा प्रकट चिन्हों को धारण करता है और ऐसा प्रशस्त चिन्ह धारण करनेवाला निर्मल सम्यक्त्वी होकर समिति पालन करता है तथा सब जीवों का विश्वस्त जितेन्द्रिय तथा विपुल तपस्वी बनता है।

(४३) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! सेवा से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! सेवा से जीवात्मा तीर्थङ्कर नाम गोत्र का बंध करता है।

(४४) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! सर्व गुण प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! ज्ञानादि सर्व गुण प्राप्त होने पर संसार में पुनरागमन नहीं होता है और पुनरागमन न

होने से वह जीवात्मा शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से मुक्त होता है।

(४५) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! वीतराग भाव धारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वीतराग पुरुष स्नेहबंधनों का नाश कर देता है तथा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ, शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि विषयों में विरक्त हो जाता है।

टिप्पणीः—वीतरागता यहां केवल वैराग्यसूचक है।

(४६) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! क्षमा धारण करने से जीव विकट परिषहों को जीत लेने की क्षमता प्राप्त करता है।

(४७) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! निर्लोभता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा हे भद्र ! निर्लोभी जीव अपरिग्रही होता है और उन कष्टों से बच जाता है जो धनलोलुपी पुरुषों को सहने पड़ते हैं। निर्लोभी जीव ही निराकुल रहता है।

(४८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! निष्कपटता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! निष्कपटता से जीव को मन, वचन और काय की सरलता प्राप्त होती है। ऐसा सरल पुरुष किसी के साथ भी प्रवंचना (ठगाई) नहीं करता है और ऐसा पुरुष धर्म का आराधक होता है।

(४९) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! मृदुता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मृदुता से जीव अभिमान-रहित हो जाता है और वह कोमल मृदुता को प्राप्त कर आठ प्रकार के मदरूपी शत्रु का संहार कर सकता है।

टिप्पणीः—जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ तथा ऐश्वर्य ये ८ मद के स्थान हैं।

(५०) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! भावसत्य (शुद्ध अंतःकरण) से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! भावसत्य होने से हृदय-विशुद्धि होती है और ऐसा जीवात्मा ही अर्हन्त प्रभु द्वारा निरूपित धर्म की आराधना कर सकता है। धर्म का आराधक पुरुष ही लोक परलोक दोनों को साध सकता है।

(५१) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! करणसत्य से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! करणसत्य (सत्य प्रवृत्ति करने) से सत्यक्रिया करने की शक्ति पैदा होती है और सत्य प्रवृत्ति करनेवाला जीव जैसा बोलता है वैसा ही करता है।

(५२) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! योगसत्य से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! सत्ययोग से योगों की शुद्धि होती है।

टिप्पणीः—योग अर्थात् मन, वचन और काय की प्रवृत्ति।

(५३) शिष्य ने पूँछा— हे पूज्य ! मनोगुप्ति से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मन के संयम से जीव को एकाग्रता की प्राप्ति होती है और ऐसा एकाग्र मानसिक लब्धिजीव ही संयम की उत्तम प्रकार से आराधना कर सकता है।

(५४) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! वचन संयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वचनसंयम रखने से जीवात्मा विकार रहित होता है और निर्विकारी जीव ही आध्यात्मिक योग के साधनों द्वारा वचन सिद्धि युक्त होकर विचरता है।

(५५) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! काय के संयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! कायसंयम से संवर (कर्मों का रोध) होता है और उससे कायलब्धि प्राप्त होती है और उसके द्वारा जीव पाप प्रवाह का निरोध कर सकता है।

(५६) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! मन को सत्यमार्ग (समाधि) में स्थापने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मन को सत्यमार्ग (समाधि) में स्थापित करने से एकाग्रता पैदा होती है और एकाग्र-जीव ही ज्ञान की पर्यायों (मति, श्रुत आदि ज्ञानों तथा अन्य शक्तियों) को प्राप्त होता है। ज्ञान पर्यायों की

प्राप्ति से सम्यक्त्व की शुद्धि होती है और उसके मिथ्यात्व का नाश होता है।

(५७) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीव अपने बोधि सम्यक्त्व की पर्यायें को निर्मल किया करता है और सुलभ बोधि को प्राप्त होकर दुर्लभ बोधित्व को दूर करता है।

(५८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! काय को संयम में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! काय को सत्यभाव से संयम में स्थापित करने से जीव के चारित्र की पर्यायें निर्मल होती हैं और चारित्रनिर्मल जीव ही यथाख्यात चारित्र की साधना करता है। यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि कर वह चार घातिया कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) को नाश कर डालता है और बाद में वह जीव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर अनन्त शान्ति का भोग करता है और दुःखों का अन्त कर देता है।

(५९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! ज्ञानसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! ज्ञानसंपन्न जीव यावन्मात्र पदार्थों का यथार्थ (सच्चा) भाव जान सकता है और यथार्थ भाव जाननेवाला जीव चतुर्गतिमय इस संसार-

रूपी अटवी में कभी दुःखी नहीं होता। जैसे डोरा (धागा) वाली सुई खोती नहीं है वैसे ही ज्ञानीजीव संसार में पथ भ्रष्ट नहीं होता और ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्व-पर दर्शन को बराबर जान कर असत्य मार्ग में नहीं फँसता।

(६०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! दर्शनसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! दर्शनसंपन्न जीव संसार के मूल कारण रूपी अज्ञान का नाश करता है। उसकी ज्ञानज्योति कभी नहीं बुझती और उस परम ज्योति में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन द्वारा अपनी आत्मा को संयोजित कर यह जीव सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

(६१) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! चारित्रसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! चारित्रसंपन्नता से यह जीव शैलेशी (मेरु जैसा निश्चल श्रद्धान) भाव को उत्पन्न करता है और ऐसा निश्चल भाव प्राप्त अणगार अवशिष्ट चार कर्मों का क्षयकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर अनन्त शान्ति का उपभोग करता है और समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।

(६२) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह करने से यह जीव सुन्दर असुन्दर शब्दों में रागद्वेषरहित होकर वर्तता है और ऐसा रागद्वेषनिवर्तित अणगार कर्मबंध से सर्वथा मुक्त रहता है तथा पूर्वसंचित कर्मों को भी खपा डालता है।

(६३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! चक्षुसंयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! चक्षु (आंख) संयम से यह जीव सुरूप किंवा कुरूप दृश्यों में रागद्वेषरहित हो जाता है और इस कारण रागद्वेषजनित कर्म बन्धों को नहीं बांधता और पहिले जो कर्मबन्ध किया है उसका भी क्षय कर देता है।

(६४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! नाक का संयम करने से जीव सुवास किंवा कुवास के पदार्थों में रागद्वेषरहित होता है और इस कारण रागद्वेषजन्य कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

(६५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! रसना इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! रसना (जीभ) के संयम से स्वादु किंवा अस्वादु रसों में यह जीव रागद्वेषरहित होता है और इससे रागद्वेषजन्य कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

(६६) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! स्पर्शेन्द्रिय के संयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! स्पर्शेन्द्रिय के संयम से सुन्दर किंवा असुन्दर स्पर्शों में यह जीव रागद्वेषरहित होता है और इस कारण रागद्वेषजन्य कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

(६७) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! क्रोधविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! क्रोधविजय से जीव को क्षमागुण की प्राप्ति होती है और ऐसा क्षमाशील जीव क्रोधजन्य कर्मों का बंध नहीं करता और पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय करता है।

(६८) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! मानविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मान के विजय से जीव को मृदुता नामक अपूर्व गुण की प्राप्ति होती है और मार्दव गुण संयुक्त ऐसा जीव मानजनित कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय करता है।

(६९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! मायाविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मायाचार को जीतने से जीव को आर्जव (निष्कपटता) नामक अपूर्व गुण की प्राप्ति होती है और फिर आर्जवगुण समन्वित यह जीव माया-

जनित कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी क्षय कर देता है।

(७०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! लोभविजय से इस जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! लोभ को जीतने से यह जीव सन्तोष रूपी परमामृत की प्राप्ति करता है और ऐसा सन्तोषी जीव लोभजनित कर्मों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों को भी खपा डालता है।

(७१) शिष्य ने पूंछाः—हे पूज्य ! रागद्वेष तथा मिथ्यादर्शन के विजय से इस जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! रागद्वेप तथा मिथ्यादर्शन-विजय से सबसे पहिले वह जीव ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की आराधना में उद्यमी बनता है और बाद में आठ प्रकार के कर्मों की गांठ से छूटने के लिये वह २८ प्रकार के मोहनीयकर्मों का क्रमपूर्वक क्षय करता है। इसके बाद ५ प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्मों, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म तथा पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म, इन तीनों कर्मों को एक ही साथ खपाता है। इन कर्म चतुष्टय को नाश कर लेने के बाद वह जीवात्मा श्रेष्ठ, संपूर्ण, आवरणरहित, अंधकाररहित, विशुद्ध तथा लोकालोक में प्रकाशित ऐसे केवलज्ञान तथा केवलदर्शन को प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद जब तक वह सयोगी (योग की प्रवृत्ति वाला) रहता है तब तक ईर्यापथिक

क्रिया का बंध करता है। इस कर्म की स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है और इसका विपाक (फल) अति सुखकर होता है। यह कर्म पहिले समय में बंध होता है, दूसरे समय में उदय होता है और तीसरे समय में फल देकर क्षय हो जाता है। इस तरह पहिले समय में बंध, दूसरे समय में उदय, तथा तीसरे समय में निर्जरा होकर चौथे समय में वह जीवात्मा सर्वथा कर्मरहित हो जाता है।

टिप्पणीः-कर्मों का सविस्तर वर्णन जानने के लिये तेतीसवां अध्ययन पढ़ो।

(७२) इसके बाद वह केवली भगवान अपना अवशिष्ट आयु कर्म भोगकर निर्वाण से दो घड़ी (अन्तर्मुहूर्त) पहिले मन, वचन और काय की समस्त प्रवृत्तियों का रोध कर सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाति (यह शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद है) का चिन्तन कर सबसे पहिले मनके, फिर वचन के तथा बाद में काय के भोगों को रोकते हैं और ऐसा करने से वे अपनी श्वासोच्छ्वास क्रिया का भी निरोध करते हैं। इस क्रिया के बाद पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय तक शैलेशी अवस्था में रह कर वह जीव अणगारसमुच्छिन्नक्रिय (क्रियारहित) तथा अनिवृत्ति (अक्रियावृत्ति) नामक शुक्ल ध्यान का चिन्तन करता हुआ वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मों को एक साथ खपा देता है।

टिप्पणीः—ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म, और शुक्ल ये चार भेद हैं। शुक्ल ध्यान भी चार प्रकार का होता है जिन में से अन्तिम दो का केवली जीवात्मा चिन्तवन करता है।

(७३) उसके बाद औदारिक, तेजस, तथा कार्मण इन तीनों शरीरों का त्याग कर तथा समश्रेणि प्राप्त कर किसी भी जगह में रुके बिना अवक्रगति से सिद्धस्थान में आकर अपने मूल शरीर की अवगाहना के दो-तृतीयांश जितने आकाश प्रदेशों में कर्ममल से सर्वथा रहित होकर स्थित होता है।

(७४) इस प्रकार वस्तुतः सम्यक्त्व पराक्रम नाम के अध्ययन का अर्थ श्रमण भगवान महावीर ने कहा है, बताया है, दिखाया है और उपदेश किया है।

टिप्पणी—सम्यक्त्व स्थिति यह चौथे गुणस्थानक की स्थिति का नाम है जीवात्मा कर्म, माया अथवा प्रकृति के आधीन रहता है। उस आदि से लेकर अंतिम मुक्तदशा प्राप्त होने तक वह अनेकानेक भूमिकाओं में से गुजरता रहता है। संसार के गाढ बन्धनों से लेकर बिलकुल मुक्त होने तक की अथवा अशुद्ध चैतन्य (जहां केवल ८ रुचक प्रदेश ही शुद्ध, रह जाते हैं बाकी यह आत्मा घोर कर्मावृत्त ही बन जाता है) से लेकर सर्वथा शुद्ध चैतन्य प्राप्त होने की अवस्था तक पहुँचने की समस्त भूमिकाओं को जैनदर्शन में चौदह प्रकार में बांट दी गयी हैं। इन्हीं चौदह भूमिकाओं को "गुणस्थानक" कहते हैं।

ये भूमिकाएं स्थान विशेष नहीं है किन्तु आत्मा की स्थिति विशेष है। उसके भावों की उज्ज्वलता की तरतमता से वे क्रमशः ऊँचे होते जाते हैं और मलिनता से नीचे होते जाते हैं। पहिले गुणस्थानक का नाम 'मिथ्यात्व' है। यावन्मात्र मिथ्यादृष्टि इसी गुणस्थानक में है। यह दृष्टि एक उच्च मनुष्य से लेकर अविकसित सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोदिया जीव तक में होती है किन्तु उन सब में तरतमता (कम

ज्यादा) के असंख्य भेद हैं दूसरी और तीसरी भूमिकाएं (सास्वादान और मिश्र गुणस्थान) भी अस्थिर हैं। इन दोनों अवस्थाओं में भी मिथ्यात्व का प्राधान्य किंवा अस्तित्व बना रहता है। आत्मा के भाव डांवांडोल रहते हैं, कभी सत्य की तरफ आकृष्ट होते हैं तो कभी असत्य में ही मुग्ध हो जाते हैं। इसलिये इन तीन गुणस्थानों में तो मोक्ष सिद्धि का कोई साधन है ही नहीं। चौथे गुणस्थानक का नाम सम्यक्त्व है यहाँ पर मिथ्यात्व का सर्वथा नाश हो जाता है और सम्यक्त्व (सत्य का दृढ़ श्रद्धान—अटल प्रतीति की) प्राप्ति होती है। आत्मा को यहीं से अपना भान होता है और उसका उद्देश्य क्या है और वह कहां पड़ा हुआ है, और इससे छूटने का उपाय क्या है आदि बातों का विचार करने लगता है। सच्ची बात तो यह है कि इसी गुणस्थानक से वह मोक्ष प्राप्ति की तरफ़ अग्रसर होना शुरू करता है। अन्य दर्शनों (धर्मों) में इसी स्थिति को आत्मदर्शन अथवा आत्म साक्षात्कार कहा है। इस गुणस्थानक में संसार भ्रमण के मूल कारण तीव्र कषायें मंद पड़ जाती हैं और आत्मा के परिणाम जितने ही शुद्ध, कृत्रिम शुद्ध अथवा मिश्र होंगे तदनुसार उसे क्षायिक, उपशम अथवा क्षयोपशम स्थिति कहते हैं। आठवें गुणस्थान में पहुँच कर इन तीन श्रेणियों में से केवल दो रह जाती हैं जिनको 'उपशम श्रेणि' और 'क्षपकश्रेणि' कहते हैं। 'उपशम श्रेणि,' (कर्मों वाले जीव का उपशम करने वाली श्रेणि) आगे बढ़कर फिर पतित हो जाते हैं, क्योंकि उनकी विशुद्धि सच्ची नहीं है, कृत्रिम है। जैसे राख से ढंका हुआ अंगार ऊपर से शान्त दीखता है किन्तु हवा का झोंका लगते ही राख उड़ जाती है और अग्नि चमकने लगती है, वैसे ही उपशम श्रेणि वाले जीव भी ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँच जाने पर भी सूक्ष्म लोभ कषाय के निमित्त से वहां से पतित हो जाते हैं।

क्षपकश्रेणि (कर्मों का क्षय करने वाली श्रेणि) का जीवात्मा दसवें गुणस्थानक से ग्यारहवें गुणस्थान में न जाकर सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। इस दशा में उसकी कषायें क्षीण हो जाती हैं और इसलिये वह तेरहवें गुणस्थानक में पहुँच कर केवली हो जाता है। इस समय आठ कर्मों में से चार कर्मों के (निःसत्व नाम मात्र के) आवरण रह जाते हैं इसलिये यह सयोग केवली, जबतक इस शरीर की स्थिति रहती है तब तक इस शरीर सम्बन्धी क्रियाओं के कारण कर्म करते रहते हैं किन्तु वे कर्म आसक्तिरहित होने के कारण (आत्मा को) बंधन कर्ता नहीं होते और तत्क्षण ही खिर जाते हैं। इस क्रिया को ईर्यापथ की क्रिया, कहते हैं।

आयुष्यकाल के पूर्ण होने के समय शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद जिसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति कहते हैं—उसको चिन्तन करते हुए सबसे पहिले मनोयोग, वचनयोग, तथा काययोग इस प्रकार इन तीनों को क्रम से रोककर अन्त में श्वासोच्छ्वास को भी रोककर वह आत्मा बिलकुल अकंप बनता है। इस स्थिति को शैलेशी अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में, अ, इ, उ, ऋ, तथा लृ इन पांच ह्रस्व स्वरों को बोलने में जितना समय लगता है उतने समय मात्र की ही स्थिति होती है। बाद में शुक्ल ध्यान के चौथे भेद व्युपरतक्रियानिवृत्ति द्वारा अवशिष्ट चार अघातिया कर्मों का नाशकर आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है।

शुद्ध चेतन की स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होने के कारण वह आत्मा ऊँचा ऊँचा वहाँ तक चला जाता है जहाँ तक उसकी गति में सहायक धर्मास्तिकाय रहता है। उसके आगे गति हो ही नहीं सकती इसलिये वह शुद्ध परमआत्मा वहीं स्थिर हो जाती है। यह स्थान लोक के अन्तिम भाग पर है और उसे सिद्ध गति (सिद्धशिला—मोक्ष स्थान) कहते हैं।

आत्मा ने जिस अन्तिम शरीर के द्वारा मोक्ष प्राप्त की होती है उसका $\frac{1}{3}$ भाग तो (मुख; कान, पेट आदि खाली अंगों में) पोला होता है। इतना भाग जाकर बाकी का $\frac{2}{3}$ भाग में उस जीवात्मा के उतने प्रदेश उस सिद्धस्थान में व्याप्त हो जाते हैं। इसे उसकी अवगाहना, कहते हैं। भिन्न २ सिद्धात्माओं के प्रदेश परस्पर अव्याघात रहने से एक दूसरे से मिल नहीं जाते और प्रत्येक आत्मा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखती है। ऐसी परम आत्माओं का वीतराग, वीतमोह और वीत द्वेष होने से इस संसार में पुनरागमन नहीं होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक उन्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ
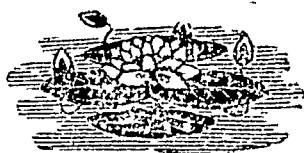
तपो मार्ग

३०

समस्त संसार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दुःखों से घिरा हुआ है। सांसारिक समस्त प्राणी आधि, व्याधि तथा उपाधि से दुःखी हो रहे हैं। कभी शारीरिक, तो कभी मानसिक तो कभी दूसरी उपाधियां आदि की दुःख परंपरा लगी हुई रहती है और जीव इन दुःखों से निरन्तर छूटना चाहते रहते हैं।

प्रत्येक काल में प्रत्येक उद्धारक पुरुषों ने जुदे २ प्रकार की औषधियां बताई हैं। भगवान महावीर ने सर्व संकटों के निवारण के लिये मात्र एकही उत्तम कोटि की जड़ी बूटी बताई है और उसका नाम है तपश्चर्या।

तपश्चर्या के मुख्य दो भेद हैं जिन्हें (१) आंतरिक, तथा (२) बाह्य ये नाम दिये गये हैं।

बाह्य तपश्चर्या का मुख्यतः उद्देश्य आत्मा को अप्रमत्त रखना है। यदि शरीर प्रमादी होगा तो उसकी प्रवृत्तियां भी पाप की तरफ विशेष ढलती रहेगी और वैसी परिस्थिति में शरीर तथा इन्द्रियां साधक होने के पहले बाधक हो जाती हैं। जब

शरीर अप्रमत्त तथा संयमी बनता है तभी आत्मा में जिज्ञासा जागृत होती है और तभी वह चिन्तन, मनन, योगाभ्यास, ध्यान आदि आत्मसाधना के अङ्गों में प्रवृत्त हो सकती है।

इसीलिये बाह्य तपश्चर्या में (१) अणसण (उपवास), (२) ऊणोदरी (अल्पाहार), (३) भिक्षाचरी (प्राप्त भोजन में से केवल परिमित आहार लेना), (४) रसपरित्याग (स्वादेन्द्रिय का निग्रह), (५) कायक्लेश (देहदमन की क्रिया), और (६) वृत्ति संक्षेप (इच्छाएं घटाते जाना) इन ६ तपश्चर्याओं का समावेश किया है। ये छहों तपश्चर्याएं अमृत के समान फलदायी हैं। उनका जिस २ दृष्टि से जितने प्रमाण में उपयोग होगा उतना २ पाप घटता जायगा और पाप घटने से धार्मिक भाव अवश्य ही बढ़ते ही जांयगे। परन्तु इनका उपयोग अपनी शक्त्यनुसार होना चाहिये।

आन्तरिक तपश्चर्याओं में (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और (६) कायोत्सर्ग (देहाध्यास का त्याग) इन ६ गुणों का समावेश होता है। ये छहों साधन आत्मोन्नति की भिन्न २ सीढ़ियां हैं। आत्मोन्नति के इच्छुक साधक इनके द्वारा बहुत कुछ आत्मसिद्धि कर सकते हैं।

भगवान बोले—

(१) राग और द्वेष से संचित किये हुए पापकर्म को भिक्षु जिस तप द्वारा क्षय करता है उसका अब मैं उपदेश करता हूँ। उसको तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(२) हिंसा, असत्य, अदत्त, मैथुन तथा परिग्रह इन पांच महापापों तथा रात्रिभोजन से विरक्त जीवात्मा अनास्रव होता है। (अर्थात् आते हुए नये कर्मों को रोकता है)।

(३) तथा पांच समिति तथा तीन गुप्तिसहित, चार कषायों से रहित, जितेन्द्रिय, निरभिमानी तथा शल्यरहित जीव अनास्रव होता है।

(४) उपरोक्त गुणों से विपरीत दोषों द्वारा राग तथा द्वेष से संचित किये हुए कर्म जिस विधि से नष्ट होते हैं उस विधि को एकाग्र मन से सुनो।

(५) जैसे किसी बड़े तालाव का पानी, पानी आने के मार्ग बंध होने से तथा अंदर का पानी बाहर उलीचने से तथा सूर्य के ताप द्वारा क्रमशः सुखाया जाता है, वैसे ही—

(६) संयमीपुरुष के नये पापकर्म भी व्रत द्वारा रोक दिये जाते हैं और पहिले के करोड़ों जन्मों से संचित किया हुआ पाप तपश्चर्या द्वारा झर जाता है।

(७) वह तप बाह्य तथा आन्तरिक इस तरह दो प्रकार का होता है। बाह्य तथा आन्तरिक इन दोनों तपों के ६—६ भेद और हैं।

(८) (बाह्य तप के भेद कहते हैं)—(१) अणसण (अनशन), (२) ऊणोदरी (ऊनोदरी) (३) भिक्षाचरी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) संलीनता—इस प्रकार बाह्य तप के ये ६ भेद हैं।

(९) अणसण के भी दो भेद हैं—(१) सावधिक उपवास अर्थात् अमुक मर्यादा तक अथवा नियत काल तक उपवास करना, (२) मृत्युपर्यंत का अणसण (अंतकाल तक सर्वथा निराहार रहना)। इसमें से पहिले प्रकार में

भोजन की आकांक्षा विद्यमान है किन्तु दूसरे में भोजन और जीवन इन दोनों ही की विरक्ति है।

टिप्पणी—प्रथम भेद में नियत काल की मर्यादा होने से भोजन की अपेक्षा रहती है किन्तु दूसरे में वह बात है ही नहीं।

(१०) जो अणसण तप कालमर्यादा के साथ किया जाता है उसके भी ६ अवान्तर भेद हैं:—

(११) (१) श्रेणितप, (२) प्रतर तप, (३) घन तप, (४) वर्ग तप (५) वर्गवर्ग तप, और (६) प्रकीर्ण तप। इस प्रकार भिन्न भिन्न तथा मनोवांच्छित फल देने वाले सावधिक अणसण तप के भेद जानो।

टिप्पणी—श्रेणितप आदि तपश्चर्याएं जुदी २ तरह से उपवास करने से होती हैं। इन तपों का विस्तृत वर्णन अन्य सूत्रों में है।

(१२) मृत्युपर्यंतके अणसणके भी कायचेष्टा की दृष्टि से दो भेद हैं:-

(१) सविचार (काय की क्रियासहित दशा), तथा (२) अविचार (निष्क्रिय)

(१३) अथवा सपरिकर्म (दूसरों की सेवा लेना) तथा अपरिकर्म ये दो भेद हैं। इसके भी दो भेद हैं—(१) निहारी, अनिहारी। इन दोनों प्रकार के मरणों में आहार का सर्वथा त्याग तो होता ही है।

टिप्पणी—निहारी मरण अर्थात् जिस मुनि का मरण ग्राम में हुआ हो और उसके मृत शरीर को ग्राम बाहर ले जाना पड़े उसे; तथा किसी गुफा इत्यादि में मरण हो उसको अनिहारी मरण कहते हैं।

(१४) ऊणोदरी तप के भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की दृष्टि से संक्षेप में पांच भेद कहे हैं।

(१५) जिसका जितना आहार हो उसमें से कम में कम एक कौर भी कम लेना यह द्रव्य ऊणोदरी तप कहलाता है।

(१६) (१) गाम, (२) नगर, (३) राजधानी, (४) निगम, (५) आकर (खानवाला प्रदेश), (६) पल्ली (अटवी का मध्यगत प्रदेश), (७) खेट (जहां मिट्टी का परकोट हो), (८) करबट (छोटे छोटे गांव वाला प्रदेश), (९) द्रोणमुख (जल तथा स्थलवाला प्रदेश), (१०) पारण (जहाँ सब दिशाओं से आदमी आकर रहते हैं अथवा बन्दरगाह), (११) मंडप (चारों दिशाओं में अढाई अढाई कोस तक जहां गाम हों ऐसा प्रदेश), (१२) संवाहन (पर्वत के बीच में जो गाम बसा हो)—

(१७-१८) (१३) आश्रमपद (जहां तपस्वियों के आश्रम-स्थानक हों), (१४) विहार (जहां भिक्षु अधिक संख्या में रहते हों ऐसा स्थान), (१५) सन्निवेश (२-४ झोपड़ों-वाला प्रदेश), (१६) समाज (धर्मशाला), (१७) घोष (गामों का समूह), (१८) स्थल (रेत के ऊँचे ऊँचे ढेरों का प्रदेश), (१९) सेना (छावनी), (२०) खंधार (कटक उतरने का स्थल), (२१) सार्थवाहों (व्यापारियों) के इकट्ठा होने या उतरने का स्थल (मंडी), (२२) संवर्त (जहां भयत्रस्त गृहस्थ आकर शरण लें ऐसा स्थल), (२३) कोट (कोटवाला प्रदेश), (२४)

वाडा (बाड लगाया हुआ प्रदेश), (२५) शेरी (गलियाँ तथा (२६) घर इतने प्रकार के क्षेत्रों में से भी अभिग्रह (मर्यादा) करे कि मैं आज दो या तीन प्रकार के स्थानों में ही भिक्षार्थ जाऊँगा, अन्यत्र नहीं जाऊँगा— इसे क्षेत्र ऊणोदरी तप कहते हैं ।

टिप्पणीः—यद्यपि उपरोक्त क्षेत्र जैन भिक्षुओं के लिये कहे हैं परन्तु गृहस्थ साधक भी अपने क्षेत्र में इस प्रकार की क्षेत्र मर्यादा कर सकते हैं ।

(१९) (१) सन्दूक के आकार में, (२) अर्ध-सन्दूक के आकार में, (३) गोमूत्र (टेढ़ेमेढ़े) आकार में, (४) पतंग के आकार में, (५) शंखावृत के आकार में (इसके भी दो भेद हैं) (१) गली में, (२) गली के बाहर, और (६) पहिले एक कोन से दूसरे कोन तक और फिर वहां से लौटते हुए भिक्षाचरी करे । इस तरह ६ प्रकार का क्षेत्र संबंधी ऊणोदरी तप होता है ।

टिप्पणी—उपरोक्त ६ प्रकार की भिक्षाचरी करने का नियम मात्र भिक्षुओं के लिये कहा गया है ।

(२०) दिवस के चार प्रहरों में से किसी अमुक प्रहर में ही भिक्षा मिलेगी तो लूँगा—ऐसा अभिग्रह (संकल्प) कर भिक्षाचरी करना उसे कालऊणोदरी तप कहते हैं ।

(२१) अथवा तीसरे प्रहर के कुछ पहिले अथवा तीसरे प्रहर के अंतिम चौथे भाग में ही यदि भिक्षाचरी मिलेगी तो ही मैं लूँगा—इस प्रकार का संकल्प करे तो वह भी कालऊणोदरी तप कहाता है ।

(२२) यदि अमुक स्त्री अथवा पुरुष अलंकार सहित होंगे अथवा अमुक बालक, युवा अथवा वृद्ध ने अमुक प्रकार के वस्त्र पहिने होंगे—

(२३) अथवा अमुक रंग के वस्त्र पहिने होंगे, अथवा वे रोष सहित अथवा हर्ष सहित होने के चिन्हों सहित होंगे, ऐसे दाताओं के हाथ से ही मैं भोजन ग्रहण करूँगा—अन्य के हाथ से नहीं, इस प्रकार का संकल्प कर भिक्षाचरी में जाना उसे भावऊणोदरी तप कहते हैं।

टिप्पणी—ऐसे कठोर संकल्प बारंबार सफल नहीं होते इसलिये भिक्षा नहीं मिलती इससे वारंवार भूखा रहने की तपश्चर्या करनी पड़े यह संभव है।

(२४) द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, तथा भाव से उपरोक्त चारों नियमों सहित होकर जो साधु विचरता है उसे 'पर्यवचर' तपश्चर्या करनेवाला साधु कहते हैं।

टिप्पणी—पर्यव का अर्थ है जिसमें उपरोक्त चारों बातें पाई जांय उस तप को 'पर्याय ऊणोदरी तप' कहते हैं।

(२५) आठ प्रकार की गोचरी में तथा सात प्रकार की एषणा में भिक्षु जो २ दूसरे अभिग्रह करता है उसे भिक्षाचरी तप कहते हैं।

टिप्पणी—अन्य ग्रन्थों में इस तप को 'वृत्ति संक्षेप' भी कहा है। वृत्ति संक्षेप का अर्थ यह है कि जीवन संबंधी आवश्यकताओं को कम में कम कर डालना। यह तीसरा बाह्य तप है।

(२६) दूध, दही, घी आदि रसों तथा अन्य रसपूर्ण पकान्नों अथवा मिष्ट, कडुआ, चर्परा, नमकीन, कसैला आदि रसों

में भी मर्यादा करना (जैसे आज मैं घी या शक्कर का बना हुआ पदार्थ नहीं खाऊंगा, आज मैं मीठा या नमकीन नहीं खाऊँगा आदि) उसे रसपरित्याग नामकी तपश्चर्या कहते हैं।

(२७) वीरासन (कुर्सी की तरह बैठ कर) आदि विविध आसन काया को अप्रमत्त रखने में (आत्मा के लिये) हित कर हैं। ऐसे आसनों द्वारा अपनी काया को कसना उसे काय-क्लेश नामका तप कहते हैं।

(२८) एकान्त स्थान अथवा जहां कहीं भी ध्यानकी अनुकूलता हो, जहां कोई आता जाता न हो ऐसे स्त्री, पशु तथा नपुंसक से रहित स्थान में शयन करना तथा आसन जमाना—इसे संलीनता नामका तप कहते हैं।

(२९) सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीसे बोले:—हे जम्बू ! बाह्यतप के भेद मैंने तुम्हें संक्षेप में कहे हैं। अब मैं तुम्हें आन्तरिक तपों के विषयमें कहता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(३०) (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य (सेवा), (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, तथा (६) कायोत्सर्ग—ये ६ आभ्यंतर तप हैं।

(३१) भिक्षु आलोचनादि दस प्रकारके प्रायश्चित्त करता है उसे प्रायश्चित्त तप कहते हैं।

टिप्पणी—प्रायश्चित्त पापके छेदन करनेको कहते हैं, इसके दस प्रकार हैं—(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) तदुभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) वेद, (८) मूल, (९) उपस्थान, और (१०) पारक। इसका सविस्तविर वर्णन छेद सूत्रों में किया गया है।

(३२) (१) गुरु आदि बड़े पुरुषों के सामने जाना, (२) उनके सामने दोनों हाथ जोड़ना, (३) आसन देना, (४) गुरुकी अनन्यभक्ति करना, तथा (५) हृदयपूर्वक सेवा करना—इसे विनय तप कहते हैं।

टिप्पणी—अभिमान नष्ट हुए बिना सच्ची सेवा-सुश्रूषा नहीं होती।

(३३) आचार्यादि दस स्थानों की शक्त्यनुसार सेवा करना उसे वैयावृत्य तप कहते हैं।

टिप्पणी—आचार्यादिमें इन १० का भी समावेश होता है:—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगिष्ठ, सहाध्यायी, साधर्मी, कुल, गण, तथा संघ।

(३४) (१) पढ़ना, (२) प्रश्नोत्तर करना, (३) पढ़े हुए का पुनः २ घोकना (रटना), (४) पठित पाठका उत्तरोत्तर गम्भीर विचार करना तथा (५) उसकी धर्मकथा कहना—ये ५ भेद स्वाध्याय तप के हैं।

(३५) समाधिवंत साधक आर्त तथा रौद्र इन दोनों ध्यानों को छोड़कर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का ही चिन्तवन करे इसे महापुरुष ध्यान तप कहते हैं।

(३६) सोते, बैठते अथवा खड़े होते समय जो भिक्षु काया की अन्य सब प्रवृत्ति छोड़ देता है, शरीर को हिलाता डुलाता नहीं है उसे कायोत्सर्ग नामका तप कहते हैं।

(३७) इस प्रकार दोनों प्रकार के तपों को यथार्थ समझकर जो मुनि आचरण करता है वह पंडित साधक सांसारिक समस्त बन्धनों से शीघ्र ही छूट जाता है।

टिप्पणीः—अनुभवी द्वारा अनुभूत यह उत्तम रसायन है। आत्मा के समस्त रोगों को दूर करने की मात्र यही एक रामबाण औषधि है। दर्दियों के लिये इन्हीं उपायों को अपने जीवन में अजमा लेना और अपने जीवन का उद्धार कर लेना यह दूसरी औषधियों की तलाश में निरर्थक इधर उधर भटकते फिरने की अपेक्षा लाख दर्जे उत्तम है।

विद्या होने पर अहंकार भाव आजाना सहज संभव है। क्रिया में अज्ञानता, हठता अथवा जड़ता होने की संभावना है। तपश्चर्या में ज्ञान तथा क्रिया इन दोनों का समावेश होता है इसलिये अहंकार, अज्ञान, हठता, तथा जड़ता का नाश कर जो पण्डित साधक; आत्म-सन्तोष, आत्मशान्ति, तथा आत्मतेज को प्रकट करते हैं वे ही स्वय-मेव प्रकाशित होकर तथा लोक को प्रकाश देकर अपने आयुष्य, शरीर, इन्द्रियादि साधनों को छोड़ कर साध्यसिद्ध होते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'तपोमार्ग' सम्बन्धी तीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

चरणविधि

चारित्र के प्रकार

३१

पाप का प्रवाह चला आता है उसको रोकने की क्रिया को संवर कहते हैं। पापमें से छूट जाना अथवा धर्ममें लीन होजाना एक ही बात है। पापका आधार मात्र क्रिया पर नहीं है किन्तु क्रिया के पीछे लगे हुए आत्माके अध्यवसायों पर है। कलुषित वासनासे किया हुआ कार्य, संभव है ऊपर से बड़ा अच्छा और पुनीत भी मालूम पड़ता है किंतु वस्तुतः वह मलीन है और व्यर्थ है। शुभभावना से किया हुआ कार्य, देखने में भले ही कनिष्ठ अथवा निम्नकोटि का मालूम होता हो फिर भी वह उत्तम है और आत्मतृप्ति के लिये यथेष्ट है।

आत्माके साथ यह शरीर भी लगा हुआ है, इसके लिये खाना, पीना, बोलना, बैठना, उठना इत्यादि सभी कार्य किये बिना हम नहीं रह सकते। उनसे निवृत्त होना—कदाचित थोड़े समय के लिये संभव हो सकता है किन्तु जीवन भर के लिये वैसा रहना असंभव है। मान लीजिये कि हम बाहर की

क्रियाएं थोड़ी देर के लिये बंद करने में समर्थ भी हों तो भी अपनी आन्तरिक क्रियात्मक प्रवृत्तियां तो चालू ही रहती हैं—वे तो होती ही रहती हैं, इसीलिये भगवान महावीर ने क्रिया को बंद करने का उपदेश न देकर, क्रिया करते हुए भी उपयोग को शुद्ध तथा स्थिर रखने का उपदेश दिया है। शुद्ध उपयोग ही आत्मलक्ष्य है और आत्मलक्षता की प्राप्ति होगई तो फिर क्रिया सम्बन्धिनी कलुषितता आसानी से ही दूर हो जाती है।

भगवान बोले—

(१) जीवात्मा को केवल सुख देनेवाली और जिसका आचरण करके अनेक जीव इस भवसागर को तैर कर पार हुए हैं ऐसी चारित्रविधि का उपदेश करता हूँ, उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(२) (मुमुक्षु को चाहिये कि) वह एक तरफ से निवृत्त हो और दूसरे मार्ग में प्रवृत्त हो (अर्थात् असंयम तथा प्रमत्त योग से निवृत्त हो तथा संयम एवं अप्रमत्त योग में प्रवृत्त हो)

(३) पापकर्म में प्रवृत्ति करानेवाले केवल दो पाप हैं—एक राग और दूसरा द्वेष। जो साधक भिक्षु इन दोनों को रोकता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(४) तीन दण्ड, तीन गर्व, और तीन शल्यों को जो भिक्षु छोड़ देता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टिप्पणी—तीन दण्ड ये हैं—मनदण्ड, वचनदण्ड, और कायदण्ड। तीन गर्वों के नाम ये हैं—ऋद्धिगर्व, रसगर्व, सातागर्व। तीन शल्यों के नाम ये हैं—मायाशल्य, निदानशल्य, और मिथ्यात्वशल्य।

(५) जो भिक्षु; देव, मनुष्य, तथा पशुओं के आकस्मिक उपसर्गों को समभावसे सहन करता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(६) जो भिक्षु; चार विकथा, चार कषाय, चार संज्ञा तथा दो तरह के ध्यानों को हमेशा के लिये छोड़ देता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

टिप्पणी—दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान।

(७) पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग, पाँच समिति, पाँच पापक्रियाओं का त्याग—इन ४ बातों में जो साधु निरन्तर अपना उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(८) छ लेश्या, छकाय तथा आहार के ६ कारणों में जो साधु हमेशा अपना उपयोग रखता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(९) सात पिंड ग्रहण की प्रतिमाओं तथा सात प्रकार के भय-स्थानों में जो भिक्षु सदैव अपना उपयोग लगाये रहता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१०) आठ प्रकार के मद, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य रक्षण तथा दस प्रकार के भिक्षुधर्ममें जो भिक्षु सदैव अपना उपयोग लगाये रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(११) श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं तथा बारह प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं में जो साधु सदैव अपना उपयोग लगाता है वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

टिप्पणी—प्रतिमा अर्थात् अमुक व्रत नियमादिकी क्रिया।

(१२) तेरह प्रकार के क्रियास्थानों में, चौदह प्रकार के प्राणी-समूहों में तथा पन्द्रह प्रकार के परमाधार्मिक देवों में जो भिक्षु हमेशा अपना उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१३) जो भिक्षु (सूयगडांग सूत्र के प्रथमस्कंध के) सोलह अध्ययनों में तथा सत्रह प्रकार के असंयमों में निरन्तर उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१४) अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य के स्थानों में, उन्नीस प्रकार के ज्ञाता अध्ययनों में तथा वीस प्रकार के समाधिस्थ स्थानों में जो भिक्षु सदैव अपना उपयोग लगाता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१५) इक्कीस प्रकार के सबल दोषों में एवं बाईस प्रकार के परिषहों में जो साधु हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१६) सूयगडांग सूत्रके कुल तेईस अध्ययनों में तथा चौवीस प्रकार के अधिक रूपवाले देवोंमें जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१७) जो भिक्षु पचीस प्रकार की भावनाओं में तथा दशाश्रुत स्कंध, बृहत्कल्प तथा व्यवहार सूत्रके सब मिलाकर छब्बीस विभागों में अपना उपयोग लगाता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

(१८) सत्ताईस प्रकार के अणगारगुणों में तथा अट्ठाईस प्रकार के आचार प्रकल्पों (प्रायश्चित्तों) में जो भिक्षु हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(१९) उन्तीस प्रकार के पापसूत्रों के प्रसंगोंमें तथा तीस प्रकार के महामोहनीय के स्थानों में जो भिक्षु—हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(२०) इकत्तीस प्रकार के सिद्ध भगवान के गुणों में, बत्तीस प्रकार के योग संग्रहों में तथा तेत्तीस प्रकार की असातनाओं में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।

(२१) उपरोक्त सभी स्थानों में जो साधु सतत उपयोग रखता है वह पंडित साधु इस संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी—संसार यह तो सद्बोध सीखने की पाठशाला है। इसका प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ नवीन पाठ देता ही रहता है। मात्र आवश्यकता है इस बात की कि आत्माका उपयोग उधर हो, दृष्टि उधर रहे। यदि हमारी दृष्टि में अमृत होगा तो जगत में हमें सर्वत्र अमृत ही अमृत दिखाई देगा और हमें सर्वत्र अमृत ही की प्राप्ति होगी। यहां एक से लेकर तेतीस संख्या तक की भिन्न भिन्न वस्तुएं बताई हैं। उनमें से कुछ ग्राह्य हैं, कुछ त्याज्य हैं किन्तु उनका ज्ञान होने पर ही ये दोनों क्रियाएं हो सकती हैं। इसलिए यथार्थ दृष्टि से इन सबको जानने का प्रयत्न करना यह मुमुक्षु के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'चरणविधि' नामक इकत्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

———

प्रमादस्थान

३२

जब यह संसार ही अनादि है तो दुःख भी अनादि ही मानना चाहिये। परन्तु अनादि होने पर भी, यदि दुःखका मूल ढूंढकर उस मूल को ही दूर कर दिया जाय तो संसार में रहते हुए भी दुःखपाश से छूटा जा सकता है। सर्व दुःखों से रहित होना इसी का नाम तो मोक्ष है। सम्यग्ज्ञान के सहारे ऐसे मोक्ष की प्राप्ति अनेक महापुरुषों ने की है, (प्राप्त) कर सकते हैं और प्राप्त कर सकेंगे। सर्वज्ञ का यह अनुभव वाक्य है।

जन्ममृत्यु के दुःख का मूल कारण कर्मबंधन है। उस कर्म बन्धन का मूल कारण मोह है और मोह, तृष्णा, राग या द्वेष इत्यादि में प्रमाद ही का मुख्य हाथ है। कामभोगों की आसक्ति यही प्रमाद स्थान हैं। प्रमाद से अज्ञान की वृद्धि होती है। अज्ञान (अथवा मिथ्यात्व) से शुद्ध दृष्टि का विपर्यास होता है और चित्त में मलिनता का कचरा इकट्ठा होता जाता है। इसीलिए ऐसा मलिन चित्त मुक्ति मार्ग के अभिमुख नहीं हो सकता।

गुरुजन तथा महापुरुषों की सेवा, सत्संग, तथा सद्वाचन से जिज्ञासा जागृत होती है। सच्ची जिज्ञासा के जागृत होने पर सत्य, ब्रह्मचर्य, त्याग, संयम, आदि जैसे उत्तम गुणों की तरफ रुचि बढ़ती हैं और ऐसे आचरण से पूर्व की मलिनता धुल कर शुद्ध भावनाएं जागृत होती हैं। ऐसी भावनाएं चिन्तन, मनन, तथा निदिध्यास में उपयोगी तथा आत्मविकास में खूब ही सहायक हो सकती है।

भगवान बोले—

(१) अनादि काल से मूलसहित रहे हुए सर्व दुःखों की मुक्ति का एकान्त हितकारी तथा कल्याणकारी उपाय कहता हूँ उसे तुम एकाग्र चित्त से सुनो।

(२) संपूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान तथा मोह के सम्पूर्ण त्याग से, राग एवं द्वेष के क्षय से, एकान्तसुखकारी मोक्षपद की प्राप्ति की जा सकती है।

उस मोक्ष की प्राप्ति के क्या उपाय हैं?

(३) बाल जीवों के संग से दूर रहना, गुरुजन तथा वृद्ध—अनुभवी महापुरुषों की सेवा करना तथा एकान्त में रहकर धैर्यपूर्वक स्वाध्याय, सूत्र तथा उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तवन करना—यही मोक्ष का मार्ग (उपाय) है।

(४) तथा समाधि की इच्छावाले तपस्वी साधु को परिमित एवं शुद्ध आहार ही ग्रहण करना चाहिये; निपुणार्थ बुद्धिवाले (मुमुक्षु) साथी को ढूंढना चाहिये और स्थान भी एकांत (ध्यान धरने योग्य) ही पसन्द करना चाहिये।

(५) यदि अपने से अधिक गुणी अथवा समगुणी सहचारी न मिले तो कामभोगों से निरासक्त होकर और पापों को दूर करके एकाकी रहे और रागद्वेषरहित होकर शान्ति-पूर्वक विचरे।

टिप्पणी—साधक को सहचारी की हमेशा आवश्यकता रहती है किन्तु यदि उपयुक्त सहचारी न मिले, तो एकाकी रहे किन्तु दुर्गुणी का संग तो साधु कभी न करे। इस सूत्र में एक चर्या का विधान नहीं किया गया है किन्तु गुणी के सहवास में ही रहना—इसपर भार देने के लिये ही 'एक' शब्द का प्रयोग किया गया है

(६) जैसे अण्डे में से पंछी और पंछी में से अंडा इस प्रकार परस्पर कार्यकारण भाव है वैसे ही मोह से तृष्णा और तृष्णा से मोह इस तरह इन दोनों का पारस्परिक जन्य जनक भाव महापुरुषों ने बताया है।

(७) तथा राग एवं द्वेष ये दोनों ही कर्मों के बीजरूप हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होते हैं और ये ही कर्म जन्म-मरण के मूल कारण हैं और जन्म-मरण ही सब दुःखों के मूल-कारण हैं—ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।

टिप्पणी—दुःखका कारण जन्म-मरण, जन्म-मरण का कारण कर्म और कर्म का मूलकारण मोह और मोह का मूलकारण रागद्वेष है। इस तरह से रागद्वेष ही समस्त संसार का मूलकारण है।

(८) दुःख उसीका नष्ट हुआ है जिसको मोह ही नहीं होता। इसी तरह मोह उसका नष्ट हुआ समझो जिसके हृदय में से तृष्णा रूपी दावानल बुझ गई और तृष्णा भी उसीकी

नष्ट हुई समझो जिसको किसी भी वस्तु का प्रलोभन नहीं होता। और जिसका लोभ ही नष्ट हो चुका है उसके लिये आसक्ति जैसी कोई वस्तु ही नहीं होती।

(९) इसलिये राग, द्वेष और मोह—इन तीनों को मूलसहित उखाड़ फेंकने की इच्छावाले साधु को जिन जिन उपायों को ग्रहण करना चाहिये उनको मैं यहां क्रमपूर्वक वर्णन करता हूँ। (उसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो)

(१०) विविध प्रकार के रसों (रसवाले पदार्थों) को अपने कल्याण के इच्छुक साधु को भोगना नहीं चाहिये क्योंकि रस, इन्द्रियों को उत्तेजित कर देते हैं और जैसे मीठे फल-वाले वृक्ष के ऊपर पक्षी टूट पड़ते हैं तथा उसे दुःख देते हैं वैसे ही इन्द्रियों के विषयों में उन्मत्त हुए मनुष्य के ऊपर कामभोग भी टूट पड़ते हैं और उसे पीडित करते हैं।

(११) जिस तरह बहुत ही सूखे (ईंधन रूप) वृक्षों से भरे हुए वन में, पवन के झकोरों सहित उत्पन्न हुई दावानल बुझती नहीं है उसी तरह विविध प्रकार के रसवाले आहारों को भोगनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूपी अग्नि शान्त नहीं होती (इसलिये रस सेवन करना किसी भी मनुष्य के लिये हितकारी नहीं है)।

(१२) जैसे उत्तम औषधियों से रोग शान्त होजाता है वैसे ही दमितेन्द्रिय, एकान्त शयन, एकान्त आसन इत्यादि भोगने-वाले तथा अल्पाहारी मुनि के चित्त का रागरूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकते। (अर्थात् आसक्तियां उसके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं कर सकती)

(१३) जैसे बिल्लियों के स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त (उचित) नहीं है वैसे ही स्त्रियों के स्थान के पास ब्रह्मचारी पुरुष का निवास भी योग्य नहीं है ।

टिप्पणी—ब्रह्मचारी के लिये जिस तरह स्वादेन्द्रिय का संयम तथा स्त्रीसंगत्याग आवश्यक है उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी स्त्रियों को भी इन दोनों बातों का ध्यान रखना चाहिये ।

(१४) श्रमण तथा तपस्वीसाधक स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास हास्य, मंजुलवचन, अंगोपांग की गठन, कटाक्ष आदि देखकर उन्हें अपने चित्त में न लावे और न इच्छापूर्वक उन्हें देखने का प्रयत्न ही करे ।

(१५) उत्तम प्रकार के ब्रह्मचर्यव्रत में लगे हुए और ध्यान के अनुरागी साधक स्त्रियों का दर्शन, उनकी वांच्छा, उनका चिन्तवन अथवा उसका गुणकीर्तन न करें इसीमें उनका हित है ।

(१६) मन, वचन और काय इन तीनों का संयम रखनेवाले समर्थ योगीश्वर जिनको डिगाने में दिव्य कान्तिधारी देवांगनाएं भी सफल नहीं हो सकतीं, ऐसे मुनियों को भी स्त्री आदि से रहित एकान्तवास ही परम हितकारी है ऐसा जानकर मुमुक्षु को एकान्तवास ही सेवन करना चाहिये ।

(१७) मोक्ष की आकांक्षावाले, संसार से डरे हुए और धर्म में स्थिर ऐसे समर्थ पुरुष को भी अज्ञानी पुरुष का मनहरण करनेवाली स्त्रियों का त्याग करना जितना कठिन है उतना कठिन इस समस्त लोक में और कुछ भी नहीं है ।

(१८) जैसे महासागर को तैर जाने के बाद गंगा जैसी बड़ी नदी को पार करजाना सरल है वैसे ही स्त्रियों की आसक्ति छोड़ देने के बाद दूसरे प्रकार की सभी (धनादि की) आसक्तियां आसानी से छोड़ी जा सकती हैं।

(१९) देवलोक तक के समग्र लोक में जो कुछ भी शारीरिक तथा मानसिक दुःख हैं वे सब सचमुच कामभोगों की आसक्ति से ही पैदा हुए हैं इसलिये निरासक्त पुरुष ही उन दुःखों का पार पा सकते हैं।

(२०) जैसे स्वाद में तथा रंग में किंपाक वृक्ष के फल बड़े ही मधुर लगते हैं परन्तु (खाने के बाद थोड़े ही समय में) मार डालते हैं यही उपमा कामभोगों के परिणामों की समझो। (अर्थात् ये भोगते हुए तो अच्छे लगते हैं किन्तु इनका परिणाम महा दुःखदायी है।)

(२१) समाधि का इच्छुक तपस्वीसाधु इन्द्रियों के मनोज्ञ विषय में मन को न दौड़ावे, न उनपर राग करे और न अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष ही करे।

(२२) चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है। जो रूप मनोज्ञ है वह राग का तथा अमनोज्ञ रूप द्वेष का कारण है। इन दोनों में जो समभाव रखता है उसे महापुरुष 'वीतराग' (रागद्वेष रहित) कहते हैं।

(२३) चक्षु यह रूप को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय है और रूप चक्षु का ग्राह्य विषय है! इस कारण सुन्दर रूप राग का कारण है और कुरूप द्वेष का कारण है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(२४) जैसे दृष्टि-लोलुपी पतंगिया रूप के राग में आतुर होकर (अग्नि में जल कर) आकस्मिक मृत्यु को प्राप्त होता है वैसे ही रूपों में तीव्र आसक्ति रखनेवाले जीव अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(२५) जो जीव अमनोज्ञ रूप देखकर तीव्र द्वेष करते हैं वे जीव उसी समय दुःख का अनुभव करते हैं अर्थात् वे जीव अपने ही दोष से स्वयं दुःखी होते हैं इसमें रूप का कुछ भी दोष नहीं है।

(२६) जो जीव मनोहर रूप में एकान्त आसक्त हो जाते हैं वे अमनोहर रूप पर द्वेष करते हैं और इससे वे अज्ञानी जीव बाद में खूब ही दुःख से पीड़ित होते हैं ऐसा जान कर विरागीमुनि ऐसे दोष में लिप्त न हो।

(२७) रूप की आसक्ति में फँसा हुआ जीव अनेक त्रस तथा स्थावर जीवों की हिंसा कर डालता है और वह अज्ञानी उन्हें भिन्न २ उपायों से (अनेक तरह) दुःख देता है और अपने ही स्वार्थ में लयलीन होकर वह कुटिल जीव अनेक निर्दोष जीवों को पीड़ित करता है।

(२८) (रूपासक्तजीव) रूप की आसक्ति में अथवा उसे ग्रहण करने की मूर्च्छा से उस रूपवान पदार्थ को उत्पन्न करने के प्रयत्न में, उसकी प्राप्ति करने में, उसकी रक्षा करने में, उसके व्यय (खर्च) में अथवा उसके वियोग में सुखी कैसे हो सकता है ? भोग भोगने के समय भी उसे उसमें तृप्ति कहां होती है ?

(२९) मनोज्ञ रूप के परिग्रह में आसक्तहुआ जीव जब उसमें अतृप्त ही रहता है तो उसकी आसक्ति (घटने के बदले और भी) बढ़ती ही जाती है और उसके मिले बिना उसे सन्तोष होता ही नहीं। उस समय वह असन्तोष से बुरी तरह पीड़ित होता है और वह पीड़ित अत्यन्त लोभ से मलिन होकर अन्य की नहीं दी हुई (वस्तु) भी ग्रहण करने लगता है।

(३०) तृष्णा द्वारा पराजितहुआ वह जीव इस तरह अदत्तादान का दोषी होने पर भी उसके परिग्रह में अतृप्त ही रहता है। अदत्त वस्तु को हरण करनेवाला (चोर) वह लोभ में फँसकर माया तथा असत्य इत्यादि दोषों का सहारा लेता है फिर भी वह उस दुःख से नहीं छूट पाता।

(३१) असत्य बोलने के पहिले, बाद में और बोलते समय भी दुष्ट हृदयवाला वह जीव दुःखी ही रहता है। रूप में अतृप्त तथा अदत्त ग्रहण करनेवाला वह जीव सदैव असहाय तथा दुःख पीड़ित ही रहता है।

(३२) इस तरह रूप में अनुरक्त जीव को थोड़ा सा भी सुख कहां से मिले ? जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये उसने अपार कष्ट सहा उस रूप के उपभोग में भी वह अत्यन्त क्लेश तथा दुःख पाता है।

(३३) इसी प्रकार अमनोज्ञ रूप में द्वेष करनेवाला जीव भी दुःख परम्पराओं की सृष्टि करता है और दुष्ट चित्त से जिस कर्मसमूह का वह संचय करता है वह (संचय)

इसलोक तथा परलोक दोनों में उसे, केवल दुःख का ही कारण होता है।

(३४) किन्तु रूप से विरक्त हुआ जीव शोकरहित होता है और जैसे जल में उत्पन्न हुआ कमल का पत्ता उससे अलिप्त ही रहता है वैसे ही संसार में रहते हुए भी ऊपर के दुःख समूह की परम्परा में वह लिप्त नहीं होता है। (अर्थात् उसे दुःख नहीं होता)।

(३५) शब्द यह श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का विषय है। मधुर शब्द राग का कारण है और कटु शब्द द्वेष का कारण है। जो जीवात्मा इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है—ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(३६) कान शब्द का ग्रहण कर्ता है और कान का विषय शब्द है—ऐसा महापुरुषों ने कहा है। अमनोज्ञ शब्द द्वेष का तथा मनोज्ञ शब्द राग का कारण है।

(३७) जो जीव शब्दों में तीव्र आसक्ति रखता है वह संगति के राग में आसक्त मृग (हिरन) के समान मुग्ध होकर तथा स्वर के मिठास में अतृप्त रहता हुआ अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है।

(३८) और जो जीव अमनोज्ञ शब्द में तीव्र द्वेष करता है वह उसी समय दुःख को प्राप्त होता है और अन्त में वह अज्ञानी बहुत ही अधिक पीड़ित होता है। इस प्रकार ऐसा जीव अपने ही दुर्दम्य दोष से दुःखी होता है इसमें शब्द का ज़रा भी दोष नहीं है।

(३९) सुन्दर शब्द में एकान्त आसक्त वह रागी जीव अमनोज्ञ शब्द पर द्वेष करता है और अन्त में उसके दुःख से खूब ही पीड़ित होता है; किन्तु ऐसे दोष में विरागी मुनि लिप्त नहीं होता।

(४०) अत्यन्त स्वार्थी, मलिन वह अज्ञानी जीव शब्द की आसक्ति का अनुसरण करके अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा कर डालता है और भिन्न २ उपायों से उन्हें परिताप तथा पीड़ा देता है।

(४१) मधुर शब्द की आसक्ति से मूर्छित हुआ जीव मनोज्ञ शब्द को प्राप्त करने में, उसका रक्षण करने में, उसके वियोग में, अथवा उसके नाश में कभी भी सुख कहां पाता है ? उनको भोग करते हुए भी उसको तृप्ति नहीं होती।

(४२) शब्द भोगने में असन्तुष्ट उस जीव की मूर्छा के कारण उस पर और भी आसक्ति बढ़ जाती है और तब वह आसक्त जीव कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता और असन्तोष दोष से लोभाकृष्ट होकर वह दूसरे का अदत्त भी ग्रहण करने लगता है। (दूसरों के भोगों में चोरी से हिस्सा बांटता है)।

(४३) तृष्णा से पराजित होने से वह जीव अदत्त का ग्रहण (चोरी) करता है फिर भी वह शब्द को भोगने तथा उसकी प्राप्ति करने में सदैव असन्तुष्ट ही रहता है और लोभ के दोष से वह कपट, असत्यादि दोष का सहारा लेता है और इसलिये ऐसा जीव कभी भी दुःखों से मुक्त नहीं होता।

(४४) झूठ बोलने के पहिले, बोलने के बाद तथा बोलते समय भी वह असत्यभाषी दुःखीआत्मा इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को ग्रहण करते तथा शब्द में अतृप्त रहतेहुए और भी दुःखी और असहायी बन जाता है।

(४५) शब्द में अनुरक्त ऐसे जीव को थोड़ा भी सुख कहां से मिले? वह शब्द का उपभोग करते हुए भी अत्यन्त क्लेश तथा दुःख पाता है फिर उनको प्राप्त करने के लिए भोक्तव्य दुःख की बात ही क्या?

(४६) इसीप्रकार अमनोज्ञ शब्द में द्वेष करनेवाला वह जीव दुखों की परम्पराएँ उत्पन्न करता है तथा दुष्टचित्त होनेसे केवल कर्मों को संचित करता है और उन कर्मों का परिणाम केवल दुःखकर ही होता है।

(४७) परन्तु शब्द से विरक्त हुआ जीव उस तरह के शोक से रहित रहता है और जैसे जलमें उत्पन्न हुआ कमलपत्र जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहता हुआ वह जीव बाह्य दुःख परम्परा में लिप्त नहीं होता है।

(४८) गंध यह घ्राणेन्द्रिय (नाक) का ग्राह्य विषय है। सुगंध राग का तथा दुर्गंध द्वेष का कारण है। जो जीव इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।

(४९) नासिका गंध ग्रहण करती है और गंध नासिका का ग्राह्य विषय है। इसलिये मनोज्ञ गंध राग का हेतु है और अमनोज्ञ गंध द्वेष का कारण है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(५०) जो जीव गंध में तीव्र आसक्ति रखता है वह (चन्दनादि) औषधियों की सुगंध में आसक्त होकर अपने बिल में से निकले हुए सर्प की तरह अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है।

(५१) और जो जीव अमनोज्ञ गंध पर तीव्र द्वेष रखता है वह तत्क्षण ही दुःख को प्राप्त होता है। इस तरह ऐसा जीव अपने ही दुर्दम्य दोष से दुःखी होता है उसमें गंध का जरा भी दोष नहीं है।

(५२) जो कोई सुगंध पर अतिशय राग करता है वह आसक्त पुरुष अमनोज्ञ गंध पर द्वेष रखता है और अन्त में वह अज्ञानी उस दुःख से खूब ही पीड़ित होता है किन्तु ऐसे दोष में वीतरागी मुनि लिप्त नहीं होता।

(५३) अत्यन्त स्वार्थ में डूबा हुआ वह बाल और मलिन जीव सुगन्ध में लुब्ध होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा कर डालता है और भिन्न २ प्रकार से उनको परिताप तथा पीड़ा देता है।

(५४) फिर भी गंध की आसक्ति तथा मूर्छा से उस मनोज्ञ गंध को प्राप्त करने में, उसके रक्षण करने में, उसके वियोग में अथवा उसके विनाश में उस जीव को सुख कहां मिलता है? उसका उपयोग करते समय भी वह तो अतृप्त ही रहता है।

(५५) जब गंध का भोग करते हुए भी जीव असन्तुष्ट ही रहता है तब उसके परिग्रह में उसकी आसक्ति और भी बढ़ती जाती है और अति आसक्त उस जीव को कभी भी सन्तोष नहीं होता और असन्तोष के दोष से लोभाकृष्ट

तथा दुःखी वह जीवात्मा दूसरों के सुगन्धित पदार्थों की भी चोरी कर लेता है।

(५६) इस प्रकार अदत्त का ग्रहण करनेवाला, तृष्णा द्वारा पराजित और सुगन्ध भोगने तथा प्राप्त करने में असन्तुष्ट वह प्राणी लोभ के दोष से कपट तथा असत्यादि दोषों का सहारा लेता है और इससे वह जीव दुःख से मुक्त नहीं होता।

(५७) असत्य बोलने के पहले, उसके बाद अथवा (असत्य वाक्य) बोलते समय भी ऐसा दुष्ट हृदय प्राणी अतिशय दुःखी ही रहता है और वह दुःखी जीवात्मा इस तरह अदत्त वस्तुओं को ग्रहण करते हुए भी गंध में अतृप्त होने से अति दुःखी एवं असहायी हो जाता है।

(५८) इस प्रकार गंध में अनुरक्त जीव को थोड़ा भी सुख कहां से मिले ? जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिये उसने कष्ट भोगा, उस गंध के उपभोग में भी वह अत्यन्त क्लेश तथा दुःख ही पाता है।

(५९) इस तरह अमनोज्ञ गंध में द्वेष करनेवाला वह जीव दुःखों की परम्परा खड़ी कर लेता है और अपने द्वेषपूर्ण चित्त द्वारा केवल कर्मसंचय ही किया करता है और वे कर्म अन्त में उसे दुःखदायी होते हैं।

(६०) परन्तु जो मनुष्य गंध से विरक्त रहता है वह शोक से भी रहित रहता है और जल में उत्पन्न हुआ कमलदल जिस तरह जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार के बीच

में रहने पर भी (वह जीव) उपरोक्त दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

(६१) जीभ रस का ग्राहक है। रस यह जीभ का ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ रस राग का हेतु है और अमनोज्ञ रस द्वेष का हेतु है। जो जीव इन दोनों में समभाव रखता है वही वीतरागी है।

(६२) जीभ रस को ग्रहण करती है और रस जीभ का ग्राह्य विषय है। इसलिये मनोज्ञ रस राग का हेतु है और अमनोज्ञ रस द्वेष का कारण है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(६३) जैसे रस का भोगी मच्छ मांस के लोभ से लोहे के कांटे में फंस जाता है वैसे ही रसों में तीव्र आसक्तिवाला जीव भी अकालमृत्यु को प्राप्त होता है।

(६४) और जो जीव अमनोज्ञ रस पर तीव्र द्वेष रखता है वह तत्क्षण ही दुःख को प्राप्त होता है। इस तरह ऐसा जीव अपने ही दुर्दम्य दोष से दुःखी होता है उसमें रस का जरा भी दोष नहीं है।

(६५) मनोज्ञ रस में एकान्त आसक्त जीव अमनोज्ञ रस पर द्वेष करता है और अन्त में वह अज्ञानी दुःख से खूब ही पीड़ित होता है। ऐसे दोष से वीतरागी मुनि लिप्त नहीं होता।

(६६) अत्यन्त स्वार्थ में डूबा हुआ वह बाल और मलिन जीव रस में लुब्ध होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा कर डालता है और भिन्न भिन्न प्रकार से उनको परिताप तथा पीड़ा देता है।

(६७) फिर भी रस की आसक्ति तथा मूर्छा से मनोज्ञ रस को प्राप्त करने में, उसके रक्षण करने में, उसके वियोग में, अथवा उसके विनाश में उस जीव को सुख कहां मिलता है? उसका उपभोग करते समय भी वह तो अतृप्त ही रहता है।

(६८) जब रस भोगते हुए भी वह अतृप्त ही रहता है तब उसके परिग्रह में उसकी आसक्ति और भी बढ़ जाती है और अति आसक्त उस जीव को कभी सन्तोष नहीं होता और असन्तोष से लोभाकृष्ट तथा दुःखी वह दूसरों के रस-पूर्ण पदार्थों को बिना दिये ही ग्रहण करने लगता है।

(६९) इस प्रकार अदत्त का ग्रहण करनेवाला, तृष्णा द्वारा पराजित और रस प्राप्त करने तथा भोगने में असन्तुष्ट प्राणी लोभ के वशीभूत होकर कपट तथा असत्यादि दोषों का सहारा लेता है और इससे वह जीव दुःख से मुक्त नहीं होता।

(७०) असत्य बोलने के पहिले, उसके बाद अथवा असत्य वाक्य बोलते समय भी वह दुष्ट अन्तःकरणवाला दुःखी जीवात्मा इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को ग्रहण करता हुआ और रस में अतृप्त रह २ कर दुःखी एवं असहायी बन जाता है।

(७१) इस तरह रस में अनुरक्त हुए जीव को थोड़ा सा भी सुख कहां से मिल सकता है? जिस रस को प्राप्त नहीं करने में उसने कष्ट भोगा उस रस के उपभोग में भी वह तो अत्यन्त क्लेश तथा दुःख ही पाता है।

(७२) इस प्रकार अमनोज्ञ रस में द्वेष करनेवाला वह जीव दुःखों की परम्परा खड़ी कर लेता है और द्वेषपूर्ण चित्त द्वारा

केवल कर्मसंचय ही किया करता है और वे कर्म अन्त में उसे दुःखदायी होते हैं।

(७३) परन्तु जो जीव रस से विरक्त रहते हैं वे शोक से भी रहित रहते हैं और जल में उत्पन्न हुआ कमलदल, जिस तरह जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहते हुए भी उपरोक्त दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होते।

(७४) स्पर्श यह स्पर्शेन्द्रिय का ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ स्पर्श राग का हेतु है तथा अमनोज्ञ स्पर्श द्वेष का हेतु है—जो इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।

(७५) काया यह स्पर्श की ग्राहक है और स्पर्श यह उसका ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ स्पर्श राग का कारण है और अमनोज्ञ स्पर्श द्वेष का कारण है—ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(७६) जो जीव स्पर्शों में अति आसक्त होते हैं वे वन में स्थित तालाब के ठंडे जल में पड़े हुए और ग्राह द्वारा निगले हुए रागातुर भैंसों की तरह अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है।

(७७) और जो जीव अमनोज्ञ स्पर्श से द्वेष करता है वह तत्क्षण ही दुःख को प्राप्त होता है। इस तरह ऐसा जीव अपने ही दुर्दम्य दोष से दुःखी होता है उसमें स्पर्श का जरा सा भी दोष नहीं है।

(७८) मनोज्ञ स्पर्श में एकान्त आसक्त जीव अमनोज्ञ स्पर्श पर द्वेष करता है और अन्त में वह अज्ञानी दुःख से खूब ही पीड़ित होता है। ऐसे दोष में वीतरागीमुनि लिप्त नहीं होता।

(७९) अत्यन्त स्वार्थ में डूबाहुआ वह बाल और मलिन जीव स्पर्श में लुब्ध होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा करता है और भिन्न २ प्रकार से उनको परिताप तथा पीड़ा देता है।

(८०) फिर भी स्पर्श की आसक्ति तथा मूर्छा से मनोज्ञ स्पर्श को प्राप्त करने में, उसके रक्षण करने में, उसके वियोग में अथवा उसके विनाश में उस जीव को सुख कहां मिल सकता है ? उसका उपभोग करते समय भी वह तो अतृप्त ही रहता है।

(८१) जब स्पर्श को भोगते हुए भी वह अतृप्त ही रहता है तब उसके परिग्रह में उसकी आसक्ति और भी बढ़ जाती है और अति आसक्त उस जीव को कभी सन्तोष नहीं होता और असन्तोष से लोभाकृष्ट तथा दुःखी वह जीव दूसरों के नहीं दिये हुए पदार्थों की भी चोरी कर लेता है।

(८२) इस प्रकार अदत्त का ग्रहण करने वाला, तृष्णा द्वारा पराजित और मनोज्ञ स्पर्श प्राप्त करने तथा भोगने में असन्तुष्ट प्राणी लोभ के वशीभूत हो कपट तथा असत्यादि दोषों का सहारा लेता है और इससे वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

(८३) असत्य बोलने के पहिले, उसके बाद अथवा असत्य बोलते समय भी वह दुष्ट अन्तःकरणवाला दुःखी जीवात्मा इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को ग्रहण करके भी स्पर्श में तो अतृप्त ही रहने से और भी दुःखी तथा असहाय बन जाता है।

(८४) इस तरह स्पर्श में अनुरक्त हुए जीव को थोड़ासा भी सुख कहाँ से मिल सकता है ? स्पर्श के जिस पदार्थ को प्राप्त करने के लिये, उसने कष्ट भोगा उस स्पर्श के उपभोग में भी उसे अत्यन्त क्लेश तथा दुःख ही मिलते हैं।

(८५) इस प्रकार अमनोज्ञ स्पर्श में द्वेष करने वाला वह जीव दुःखों की परम्परा खड़ी कर लेता है और द्वेषपूर्ण चित्त द्वारा केवल कर्म संचय ही किया करता है और वे कर्म अन्त में उसे दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं।

(८६) परन्तु जो जीव स्पर्श से विरक्त रह सकते हैं वे शोक से भी रहित रहते हैं और जल में उत्पन्न हुआ कमल दल, जैसे जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहते हुए भी उपरोक्त दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होते।

(८७) भाव यह मनका विषय है। मनोज्ञ भाव राग का हेतु है और अमनोज्ञ भाव द्वेष का हेतु है। जो इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।

(८८) मन यह भाव का ग्राहक है और भाव यह मन का ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ भाव राग का कारण है और अमनोज्ञ भाव द्वेष का कारण है—ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

(८९) जो जीव भावों में अति आसक्त होते हैं वे जीव, मनमानी हथिनी के पीछे दौड़ता हुआ मदनोन्मत्त हाथी जैसे शीरा में पड़ कर मर जाता है वैसे ही अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(९०) और जो जीव अमनोज्ञ भावपर द्वेष करता है वह तत्क्षण ही दुःख को प्राप्त होता है। इस तरह यह जीव अपने

ही दुर्दम्य दोष से दुःखी होता है उसमें भाव का किंचिन्मात्र भी दोष नहीं है।

(९१) मनोज्ञ भाव में एकान्त आसक्त जीव अमनोज्ञ भावपर द्वेष करता है और अन्त में वह अज्ञानी दुःख से खूब ही पीडित होता है। ऐसे दोष में वीतरागी मुनि लिप्त नहीं होता।

(९२) अत्यन्त स्वार्थ में डूबा हुआ वह बाल और मलिन जीव, भाव में लुब्ध होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा करता है और भिन्न भिन्न प्रकार से उनको परिताप तथा पीडा देता है।

(९३) फिर भी भाव की आसक्ति तथा मूर्च्छा से मनोज्ञ भाव को प्राप्त करने में, उसके रक्षण करने में, उसके विनाश में उस जीव को सुख कहाँ मिलता है? उसका उपभोग करते समय भी वह तो अतृप्त ही रहता है।

(९४) जब भावको भोगते हुए भी वह असन्तुष्ट रहता है तब उसके परिग्रह में उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है और अति आसक्त वह जीव कभी भी संतुष्ट नहीं होता और असन्तोष के कारण लोभाकृष्ट होकर वह दुःखी जीव दूसरों द्वारा नहीं दिये हुए पदार्थ की भी चोरी करने लगता है।

(९५) इस प्रकार चोरी करने वाला, तृष्णा द्वारा पराजित तथा भाव भोगने में असन्तुष्ट प्राणी लोभ के वशीभूत होकर कपट तथा असत्यादि दोषों का सहारा लेता है और इससे वह दुःख से मुक्त नहीं होता है।

(९६) असत्य बोलने के पहिले, उसके बाद अथवा असत्य बोलते समय भी वह दुष्ट अन्तःकरणवाला दुःखी जीवात्मा

इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को ग्रहण करके भी भाव में तो अतृप्त ही रहने से वह और भी दुःखी तथा असहाय होता है।

(९७) इस तरह भाव में अनुरक्त हुए जीव को थोड़ासा भी सुख कहाँ से मिल सकता है ? जिस भाव के पदार्थों को प्राप्त करने में उसने कष्ट भोगा उस भाव के उपभोग में भी उसे अत्यन्त क्लेश तथा दुःख ही उठाने पड़ते हैं।

(९८) इस प्रकार अमनोज्ञ भाव में द्वेष करनेवाला वह जीव दुःखों की परम्परा खड़ी कर लेता है और उसके द्वेषपूर्ण चित्त होने से वह केवल कर्मसंचय ही किया करता है और वे कर्म अन्त में उसे दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं।

(९९) परन्तु जो जीव भाव से विरक्त रह सकता है वह शोक से भी रहित रहता है जैसे जलमें उत्पन्न हुआ कमलदल जल से अलिप्त रहता है वैसे ही संसार में रहते हुए भी उपरोक्त प्रकार के दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होता है।

(१००) इस तरह इन्द्रियों तथा मन के विषय आसक्त जीव को केवल दुःख के ही कारण होते हैं। वे ही विषय वीतरागी पुरुष को कदापि थोड़ा भी दुःख नहीं दे सकते।

(१०१) कामभोग के पदार्थ स्वयमेव तो समता या विकारभाव उत्पन्न करते नहीं हैं किन्तु रागद्वेष से भरी हुई यह आत्मा ही उनमें आसक्त होकर मोह के कारण (उन विषयों में) विकारभाव करने लगती है।

(१०२) (मोहनीय कर्म से जो १४ भाव उदित होते हैं वे ये हैं:—)
(१) क्रोध (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) जुगुप्सा,

(६) अरति (७) रति, (८) हास्य, (९) भय, (१०) शोक, (११) पुरुषवेद का उदय, (१२) स्त्रीवेद का उदय, (१३) नपुंसकवेद का उदय, और (१४) भिन्न भिन्न प्रकार के खेद। (ये सब भाव मोहासक्त जीवों को हुआ करते हैं।)

(१०३) इस तरह कामभोग में आसक्त हुआ जीव इस प्रकार के अनेक दुर्गतिदायक दोषों को इकट्ठा कर लज्जित होता है और सर्व स्थानों में अप्रीतिकारी करुणोत्पादक दीन बना हुआ वह दूसरे बहुत से दोषों को भी प्राप्त होता है।

(१०४) इसी तरह इन्द्रियों के विषयरूपी चोर के वशीभूत हुआ भिक्षु भी अपनी सेवा करने के लिये साथी (शिष्यादि) की इच्छा करता है किन्तु साधु के आचार को पालना नहीं चाहता और संयमी होने पर भी तप के प्रभाव को न पहिचान कर पश्चात्ताप (अरे, क्यों मैंने त्याग किया ? इत्यादि) किया करता है। इस तरह से अनेकानेक विकारों (दोषों) को वह उत्पन्न करता जाता है।

(१०५) इसके बाद ऐसे विकारों के कारण, मोहरूपी महासागर में डूबने के उसे भिन्न भिन्न निमित्त कारण मिल जाते हैं और वह अनुचित कार्यों में लग जाता है। उससे उत्पन्न हुए दुःख को दूर कर सुख की इच्छा से वह आसक्त प्राणी हिंसादि कार्यों में भी प्रवृत्ति करने लगता है।

(१०६) किन्तु जो विषयविकारों से विरक्त हैं उन्हें इन्द्रियों के इस प्रकार के शब्दादि विषय मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता के भाव ही उत्पन्न नहीं कर सकते (अर्थात रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकते)।

(१०७) इस तरह संयम के अनुष्ठानों द्वारा संकल्प-विकल्पों में समता प्राप्त कर उस विरागी आत्मा की शब्दादि विषयों के असंकल्प से (दुष्ट चिंतवन न करने से) कामभोग सम्बन्धी तृष्णा बिलकुल क्षीण हो जाती है।

(१०८) कृतकृत्य वह वीतरागी जीव ज्ञानावरणीय कर्म को एक क्षणमात्र में खपा देता है और उसी तरह दर्शनावरणीय एवं अन्तराय को खपा देता है। (इस तरह समस्त घातिया कर्मों का नाश कर देता है)

(१०९) मोह एवं अन्तरायरहित वह योगीश्वर आत्मा; जगत के यावन्मात्र पदार्थों को जानने एवं अनुभव करने लगती है तथा पाप के प्रवाह रोककर शुक्लध्यान की समाधि प्राप्त कर सर्वथा शुद्ध हो जाती है और आयु के क्षय होने पर मोक्ष को प्राप्त होती है।

(११०) जो दुःख यावन्मात्र संसारी जीवों को पीड़ित कर रहा है उस सर्व दुःख से तथा संसार रूपी अनादि अनन्त रोग से ऐसा प्रशस्त जीवात्मा सर्वथा मुक्त हो जाता है और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर अनन्त सुख का स्वामी होता है।

(१११) अनादि काल से जीव के साथ लगे हुए दुःख बन्धन की मुक्तिका यह मार्ग भगवान ने इस प्रकार कहा है। बहुत से जीव क्रमपूर्वक इस मार्ग का अनुसरण कर अत्यन्त सुखी (मोक्ष को प्राप्त) हुए हैं।

टिप्पणी—शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श ये पांच विषय हैं। वे अपनी अपनी अनुकूल इन्द्रिय को उत्तेजित करने का काम बड़ी ही सफलतापूर्वक करते हैं मात्र निमित्त मिलना चाहिये। दूसरी बात

यह है कि इन सब विषयों का बड़ा ही गाढ़ पारस्परिक सम्बन्ध है और जो एक भी इन्द्रिय का काबू ढीला पड़ा तो दूसरी इन्द्रियों पर काबू रह ही नहीं सकता। जो कोई जिह्वा का काबू खोता है वह दूसरी इन्द्रियों का भी काबू गुमा बैठता है इसलिये एक भी इन्द्रिय को छूट देना यह यद्यपि देखने में तो एक छोटी सी भूल मालूम होती है, किन्तु यह महान अनर्थ का कारण है जिसका परिणाम एक नहीं किन्तु अनेक भवों तक भोगना पड़ता है इसलिये सुज्ञ साधक को दान्त, शान्त और अडग रहना चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूँ:—

इस तरह 'प्रमादस्थान' सम्बन्धी बत्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।
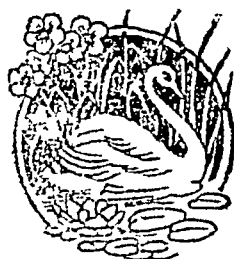
कर्मप्रकृति

कर्मों की प्रकृतियां

३२

कर्म यह समस्त जगत का अचल अटल नियम है। इस नियम के वशीभूत होकर सारा संसार नाच रहा है। यह कायदा नया नहीं है, अनादि एवं अनन्त है। कोई कितना भी वली क्यों न हो, किन्तु उसकी इसके सामने कुछ भी दाल नहीं गलती।

अनेक बड़े २ समर्थ शूरवीर, महान् योगीपुरुष और बड़े बड़े प्रचण्ड चक्रवर्ती राजा होगये, वे भी इस कायदे से नहीं छूटे। अनेक देव, दानव, राक्षस, आदि भी हुए। उनको भी इसके सामने अपनी नाक रगड़नी ही पड़ी।

इस कर्म की रचना गंभीर है। कर्माधीन पड़ा हुआ यह जीवात्मा, अपने स्वरूप को देखते हुए भी भूल जाता है, देखते हुए भी नहीं देखता है। जड़ के घर्षण से विविध सुखदुःख का अनुभव करता है और उन्हीं में ऐसा तन्मय होता है कि अनेक गतियों में जड़ के साथ ही साथ इस संसार चक्र में परिभ्रमण करता रहता है।

यद्यपि कर्म एक ही है किन्तु भिन्न २ परिणामों की दृष्टि से उसके ८ भेद हैं। उनमें भी सब से अधिक प्रबल सत्ता, प्रबल सामर्थ्य, प्रबल कालस्थिति और प्रबल विपाक मोहनीयकर्म के माने जाते हैं। मोहनीय अर्थात् चैतन्य की भ्रांति से उत्पन्न हुआ कर्म। आठ कर्मों में यह सब का राजा है। इस राजा को जीत लेने के बाद दूसरे कर्म-सामन्त आसानी से जीत लिये जाते हैं।

इन सब कर्मों के पुद्गल परिणाम, उनकी कालस्थिति, उनके कारण चैतन्य में होनेवाले परिणाम, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रुओं के प्रचंड प्रकोप आदि अधिकार इस अध्ययन में संक्षेप में किन्तु स्पष्ट रीति से वर्णन किये गये हैं। इस प्रकार के चिन्तन से जीवन पर होनेवाले कर्मों के असर से बहुतअंशमें मुक्त हुआ जा सकता है।

भगवान बोले:—

(१) जिनसे बन्धा हुआ यह जीव संसार में परिभ्रमण किया करता है उन आठ कर्मों का क्रमपूर्वक वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

(२) (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, तथा (५) आयुकर्म।

(३) और (६) नामकर्म, (७) गोत्रकर्म, तथा (८) अन्तरायकर्म इस तरह ये आठ कर्म संक्षेप में कहे हैं।

(४) (१) मति ज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्यायज्ञानावरणीय, और (५) केवलज्ञानावरणीय ये पांच ज्ञानावरणीय के भेद हैं।

(५) (१) निद्रा, (२) निद्रानिद्रा, (गाढ़ निद्रा), (३) प्रचला (उठते बैठते ही ऊंघना), (४) प्रचला प्रचला (चलते हुए भी ऊंघ जाना), (५) थिणद्धि निद्रा (सोते सोते कोई जबरदस्त काम कर डालना किन्तु सो कर उठने पर उसकी याद भी न रहना)।

(६) (६) चक्षु दर्शनावरणीय, (७) अचक्षुदर्शनावरणीय, (८) अवधिदर्शनावरणीय, (९) केवलदर्शनावरणीय, ये दर्शनावरणीय कर्म के ९ भेद हैं।

(७) (१) सातावेदनीय (जिसे भोगते हुए सुख उत्पन्न हो) तथा असातावेदनीय (जिसके कारण दुःख हो)। ये दो भेद वेदनीयकर्म के हैं इन दोनों के भी दूसरे अनेक भेद हैं।

टिप्पणी—कर्म प्रकृति का विस्तार बहुत ही विशाल है। अधिक समझने के लिये कर्म प्रकृति, कर्म ग्रन्थ, इत्यादि ग्रन्थ पढ़ें।

(८) दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय ये दो भेद मोहनीय-कर्म के हैं। दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीय के दो और उपभेद है।

(९) दर्शनमोहनीय के (१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिथ्यात्व-मोहनीय और (३) सम्यक्मिथ्यात्वमोहनीय ये तीन भेद हैं।

(१०) चारित्रमोहनीय के (१) कषायमोहनीय, तथा (२) नोकषायमोहनीय ये दो भेद हैं।

टिप्पणी—क्रोधादिकषायजन्य कर्म को कषायमोहनीय कर्म कहते हैं। और नोकषायजन्य कर्म को नोकषायमोहनीय कर्म कहते हैं।

(११) कषाय से उत्पन्न कर्मों के १६ भेद हैं और नो कषाय के सात अथवा नौ भेद हैं।

टिप्पणी—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ ये चार कषाय हैं। इनमें से प्रत्येक के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और संज्वलन ये चार चार उपभेद हैं इसलिये ये सब मिलकर १६ भेद हुए। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, वेद ये,; अथवा वेद के पुरुषवेद, स्त्रीवेद, तथा नपुंसक भेद करने से ये सब ९ भेद नोकर्मकषाय के हुए।

(१२) नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये चार भेद आयुष्य कर्म के हैं।

(१३) नाम कर्म के दो प्रकार हैं—(१) शुभ, तथा (२) अशुभ इन दोनों के भी बहुत से उपभेद हैं।

(१४) गोत्र कर्म के दो भेद हैं:—(१) उच्च, तथा (२) नीच आठ प्रकार के मद करने से नीच गोत्र का तथा मद नहीं करने से उच्च गोत्र का बंध होता है। इस पर से इन दोनों के आठ आठ भेद कहे हैं।

(१५) अन्तराय कर्म के पांच भेद हैं:—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, तथा (५) वीर्यान्तराय।

टिप्पणी—अपने पास वस्तु होने पर भी उसका उपभोग न कर सकना अथवा भोग्य वस्तु की प्राप्ति ही न होना—उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

(१६) इस प्रकार आठ कर्म और उनकी उत्तर प्रकृतियों का वर्णन किया। अब उनके प्रदेश, क्षेत्र, काल तथा भाव का वर्णन करता हूँ उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो।

टिप्पणी—प्रदेश अर्थात् उन उन कर्मों के पुद्गल परमाणुओं की संख्या। कर्म परमाणु जड़ हैं।

(१७) आठों कर्मों के सब मिलाकर अनंत प्रदेश हैं और उनकी संख्या का प्रमाण संसार के अभव्य जीवों की संख्या से अनंतगुना है और सिद्ध भगवानों की संख्या का अनन्तवां भाग है।

टिप्पणी—अभव्य जीव उन्हें कहते हैं जिनमें मुक्ति प्राप्ति करने की योग्यता न हो।

(१८) समस्त जीवों के कर्म संपूर्ण लोक की अपेक्षा से छहों दिशाओं में, सब आत्मप्रदेशों के साथ सब तरह से बंधते रहते हैं।

टिप्पणी—जिस तरह द्रव्य की अपेक्षा से आठों कर्म संख्या में अनंत हैं वैसे ही क्षेत्र की अपेक्षा से ६ दिशाओं में वंटे हुए हैं।

(१९-२०) उन आठ कर्मों में से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस क्रोडाक्रोडी सागर की है।

टिप्पणी—वेदनीय कर्म के दो भेदों में से सातावेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह क्रोडाक्रोडी सागर की है। सागर शब्द जैन धर्म में एक बहुत लम्बे काल प्रमाण का सूचक पारिभाषिक शब्द है।

(२१) मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर क्रोडाक्रोडी सागर की है।

(२२) आयुष्यकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तक की है।

(२३) नाम और गोत्र इन दोनों कर्मों की जघन्य स्थिति आठ अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट आयु वीस क्रोडाक्रोडी सागर की है।

(२४) सब कर्मस्कंधों के अनुभाग (परिणाम किंवा रस देने की शक्ति) का प्रमाण सिद्धगति प्राप्त अनंत जीवों की संख्या का अनन्तवां भाग है किन्तु यदि सर्व कर्मों के परमाणुओं की अपेक्षा से कहें तो उनका प्रमाण यावन्मात्र जीवों की संख्या से भी अधिक आता है।

टिप्पणी—स्कंध संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के बने होते हैं और इस कारण उनकी संख्या बहुत न्यून हैं किन्तु परमाणु तो इस तमाम लोकाकाश में व्याप्त हैं इसलिये प्रमाण (संख्या) में अनन्तानंत हैं इस हिसाब से इसकी संख्या सबसे अधिक है। जब पदार्थ की संख्या ही अनन्त है तो उसके परमाणुओं (अनुभागों) की संख्या अधिक हो यह स्वाभाविक ही है।

(२५) इस प्रकार इन कर्मों के रसों को जानकर मुमुक्षु जीव ऐसा प्रयत्न करे जिससे कर्म का बंध न हो और पूर्व में बांधे हुए कर्मों का भी क्षय होता जाय और ऐसा करने में सदैव अपने उपयोग को जागृत रक्खे।

टिप्पणी—कर्म के परिणाम तीव्र भयंकर हैं। कर्मवेदना का संवेदन तीक्ष्ण शस्त्र के समान असह्य लगता है और कर्म का नियम हृदय को कंपा दे ऐसा घोर है। कर्म के बन्धन चेतन की सामर्थ्य छीन लेते हैं। चेतन की व्याकुलता यही कष्ट है, यही संसार है और यही दुःख है। ऐसा जानकर अशुभ कर्म से निवृत्त होना और शुभ कर्म का संचय करना यही उचित है। चैतन्य की प्रबल सामर्थ्य

विकसित होने पर उस शुभ कर्मरूपी सुनहरी बेड़ियों से भी छूट जाने का पुरुषार्थ करना—इसी में जीवन की सफलता समाई हुई है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'कर्मप्रकृति' संबंधी तेतीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।
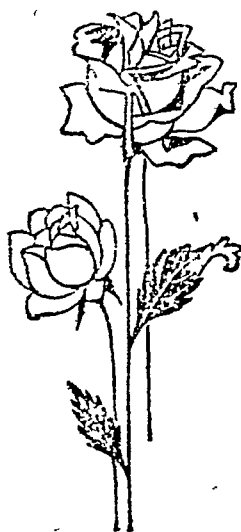
लेश्या

[भावों का चढ़ाव उतार]

३४

लेश्या शब्द के अनेक अर्थ हैं। लेश्या; कांति, सौंदर्य, मनोवृत्ति आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है। किंतु यहां पर लेश्या का जीवात्मा के अध्यवसाय अथवा परिणाम विशेष के अर्थ में उपयोग हुआ है।

प्रत्येक संसारी जीवात्मा में संचित (इकट्ठे हुए), प्रारब्ध उदीयमान,) तथा क्रियमाण (वर्तमान में उदित)—ये तीन प्रकार के कर्म विद्यमान रहते हैं। यद्यपि कर्म स्वयं जड़ वस्तु है, स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से सहित है और आत्मा ज्ञान, आनन्द और सत्यमय है, उसका लक्षण—उसका स्वभाव जड़ द्रव्य से बिलकुल भिन्न-विपरीत है फिर भी जड़ एवं चेतन का संसर्ग होने से जड़जन्य परिणामों का इस जीवात्मा पर असर पड़े बिना नहीं रहता। जैसे लोहा कठिन ठोस पदार्थ है और अग्नि न ठोस है, न कठिन है, फिर भी अग्नि के संयोग से लोहा लाल हो जाता है वैसे ही जड़ कर्मों के प्रभाव से आत्मा में भी विकार पैदा हो जाते हैं।

अच्छे कर्मों के परिणामों से जीवात्मा का घाट घड़ जाता है इसीसे वह कर्मयोग—शरीर, इन्द्रिय, आकृति, वर्ण इत्यादि धारण करता है और इसके द्वारा संचित कर्मों की निर्जरा तथा नवीन कर्मों का बन्धन ये दो कार्य प्रतिक्षण चालू रहते हैं। जब तक इन कर्मों से छूट जाने का सच्चा मार्ग नहीं मिल जाता जब तक आत्मज्ञान जागृत नहीं होता, तबतक उन कर्मों के फलों को जुदी २ गतियों में जुदी २ तरह से यह जीव भोगता ही रहता है।

कर्म बहुत सूक्ष्म होने से अपने मूलस्वरूप में देखे नहीं जा सकते किन्तु निमित्त मिलने पर उनके कारण आत्मा पर होने वाला अच्छा या बुरा असर हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जैसे जब आदमी क्रोध में होता है तब उसकी आँखें और मुंह लाल पड़ जाते हैं और आकृति कुछ की कुछ हो जाती है। इसी तरह अन्य भावों के उदय होने से शरीर की आकृति, हावभाव और कार्य पर असर पड़ता है। इसी प्रकार यह लेश्या भी जीवात्मा का कर्मसंसर्ग से उत्पन्न हुआ एक विकार विशेष है।

लेश्या स्वयं कर्मरूप होने से उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण (ये चारों लक्षण प्रत्येक पुद्गल पदार्थ में पाये जाते हैं) पाये जाते हैं परन्तु फिर भी कर्मपिंड इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हें हम अपनी चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकते, शरीर द्वारा स्पर्श नहीं कर सकते। करोड़ों और अरबों मील की दूरी पर स्थित छोटे से छोटे नक्षत्रों को देख लेने की क्षमतावाली बड़ी से बड़ी दूरबीनें और पानी के एक सूक्ष्म बिन्दु में असंख्य कीटाणुओं (Germs) को देखनेवाले माइक्रोस्कोप (सूक्ष्मदर्शक यंत्र) भी उस सूक्ष्म कर्मपिंड को नहीं देख सकते। उसको समझने के लिये तो दिव्यज्ञान एवं दिव्यदर्शन की जरूरत है।

फिर भी कार्यविशेष से उस वस्तु के अस्तित्व का हम अनुमान जरूर कर सकते हैं। मनुष्य की मुखाकृति, उसकी भयंकरता, सौम्यता, साहसिकता, गात्र का कंपन, उष्णता आदि सभी बातें आत्मा के विशिष्ट भावों को व्यक्त करती हैं। आधुनिक वैज्ञानिकशोधों से यह सिद्ध हो चुका है कि अत्यंत क्रोध के समय शरीर के रक्त बिन्दु विषमय हो जाते हैं और उस जहर से मनुष्य का वध भी हो सकता है। अनेक घटनाएं ऐसी हो चुकी हैं। इसलिये इस विषय में विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु प्रत्यक्षहै वह स्वयंमेव सिद्ध है, उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाणों की जरूरत नहीं है।

आत्मा के भाव असंख्य हो सकते हैं इस दृष्टि से लेश्याएं भी असंख्य ही हैं किन्तु व्यवहार के लिये उनको ६ मुख्य भागों में विभक्त कर लिया गया है। उनमें से प्रथम तीन लेश्याएं अप्रशस्त हैं और बाकी की तीन शुभ हैं। अप्रशस्त का त्याग करना और प्रशस्त की आराधना करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये परमावश्यक है।

भगवान बोले:—

(१) अब मैं यथाक्रम लेश्या के अध्ययन का वर्णन करता हूँ। इन ६ प्रकार की कर्म लेश्याओं के अनुभावों का वर्णन करते हुए मुझको तुम ध्यानपूर्वक सुनो—

टिप्पणी—कर्मलेश्या शब्द का उपयोग एक विशिष्ट अपेक्षा से किया है। कर्म और लेश्या का अविनाभावी संबंध है। इसी विवक्षा से इसका इस रूप में कथन किया गया है। अनुभाव अर्थात् कर्मों का तीव्रमंद रस देने का गुण।

(२) (लेश्या के ११ बोलों के नाम गिनाते हैं) (१) नाम (२) वर्ण, (३) रस, (४) गन्ध (५) स्पर्श, (६) परिणाम, (७) लक्षण, (८) स्थान, (९) स्थिति, (१०) गति, और (११) च्यवन (अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु शेष रहने पर आगामी भव की जो लेश्या उत्पन्न होती है उसे च्यवन द्वार कहते हैं।) अब मैं उनका वर्णन कहता हूँ सो तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(३) (१) कृष्ण लेश्या, (२) नील लेश्या, (३) कापोती लेश्या, (४) तेजो लेश्या, (५) पद्म लेश्या, और (६) शुक्ल लेश्या। ये उनके क्रमशः नाम हैं।

(४) कृष्ण लेश्या का वर्ण जल से भरे हुए बादल के रंग के समान, भैंसे के सींग के रंग के समान, अरीठा के समान, गाड़ी के औंधन के समान, काजल के समान और आंख की पुतली के समान काला माना गया है।

(५) नील लेश्या का वर्ण हरे अशोक वृक्ष, नीलचास पक्षी की आँख और स्निग्ध नीलमणि जैसा माना गया है।

(६) कापोती लेश्या का वर्ण अलसी के फूल, कोयल के पंख और कबूतर की गर्दन जैसा कहा है।

टिप्पणी—कापोती लेश्या का वर्ण हलका काला और सूक्ष्म लाल रंग सहित माना है।

(७) तेजो लेश्या का वर्ण हींगड़ा जैसा, उगते हुए सूर्य जैसा, सूडा की चोंच जैसा, अथवा दीपक की शिखा जैसा माना है।

(८) पद्म लेश्या का वर्ण हल्दी के टुकड़े जैसा, सन जैसा, और असन के फल जैसा पीला माना है।

(९) शुक्ल लेश्या का वर्ण शंख, अंकरत्न, मचकुंद के फूल, दूध की धार अथवा चांदी के हार के समान उज्ज्वल माना है।

(१०) कृष्ण लेश्या का रस, कड़वी तुंबड़ी, कड़ुए नीम, अथवा कड़वी रोहिणी के रस से भी अनंत गुना अधिक कड़ुआ समझना चाहिये।

(११) नील लेश्या का रस सोंठ, मिर्च, पीपर, अथवा हस्ति पिप्पली के रस की भी अपेक्षा अनंत गुना तीखा समझना चाहिये।

(१२) कापोती लेश्या का रस कच्चे आम, कच्चे कोठा अथवा तूंवर के फल के रस से भी अनंत गुना अधिक खट्टा समझना चाहिये।

(१३) तेजो लेश्या का रस पके आम और पके कोठा के रस से भी अनन्त गुना अधिक खट्टामीठा समझना चाहिये।

(१४) पद्म लेश्या का रस उत्तर वारूणी (एक प्रकार की अति खट्टी मीठी शराब), भिन्न २ प्रकार के मधु, मेरक आसव आदि के रस की अपेक्षा अनंत गुना मीठा समझना चाहिये।

(१५) शुक्ल लेश्या का रस खजूर, द्राक्ष, दूध, शक्कर, गुड़ आदि के रस से भी अनंत गुना अधिक मीठा समझना चाहिये।

(१६) कृष्ण, नील, कापोती इन तीनों अशुभ लेश्याओं की गंध, मृत गाय, मृत कुत्ते अथवा मृत सर्प की दुर्गंध से अनंत गुनी अधिक होती है।

(१७) तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या इन तीनों प्रशस्त लेश्याओं की गंध केवड़ा आदि सुगंधित पुष्पों अथवा घिसे जाते हुए चंदनादि की सुगंध से भी अनंत गुनी अधिक प्रशस्त होती है।

(१८) कृष्ण, नील, और कापोती इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श आरी, गाय बैल की जीभ और साग वृक्ष के पत्र की अपेक्षा अनंत गुना अधिक कर्कश होता है।

(१९) तेजो, पद्म और शुक्ल इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श मक्खन, सरसों के फूल, बूर नामक वनस्पति के स्पर्श की अपेक्षा अनंत गुना अधिक कोमल होता है।

(२०) उन छहों लेश्याओं के परिणाम अनुक्रम से तीन, नौ, सत्ताईस, इक्यासी और दोसौ तेतालीस प्रकार के होते हैं।

टिप्पणी—तीन अर्थात् जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। फिर जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के क्रम से ये ही तीन तीन भेद और बढ़ाते जाना चाहिये।

लेश्याओं के लक्षण

(२१-२२) पाचों आस्रवों (मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग) का निरन्तर सेवन करनेवाला, मन वचन और काय का असंयमी; छ काय की हिंसा में आसक्त, आरम्भ में मग्न; पाप के कार्यों में प्रबल पराक्रमी और क्षुद्र आत्मावाला क्रूर, अजितेन्द्रिय, सर्व का अहित करनेवाला एवं कुटिल भावनाशील इन सब भोगों में लगे हुए जीव को कृष्ण लेश्याधारी समझना चाहिये।

(२३-२४) ईर्ष्यालु, कदाग्रही (असहिष्णु) तप ग्रहण न करनेवाला, अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, लंपट, द्वेषी, रसलोलुपी, शठ, प्रमादी, स्वार्थी, आरंभी, क्षुद्र तथा साहसी इत्यादि प्रकार के जीव को नील लेश्याधारी समझना चाहिये।

(२५-२६) वाणी और आचार में (अप्रामाणिक), मायावी, अभिमानी, अपने दोष को छुपानेवाला, परिग्रही, अनार्य, मिथ्यादृष्टि, चोर और मर्मभेदी वचन बोलने वाला इन सब लक्षणों से युक्त मनुष्य को कापोती लेश्या का धारक जीव समझना चाहिये।

(२७-२८) नम्र, अचपल, सरल, अकुतूहली, विनीत, दांत, तपस्वी, योगी, धर्म में दृढ़, धर्मप्रेमी, पापभीरू, परहितैषी आदि गुणों से युक्त जीव को तेजो लेश्यावंत समझना चाहिये।

(२९-३०) जिस मनुष्य को क्रोध, मान, माया, और लोभ अल्पमात्रा में हों, जिसका चित्त संतोष के कारण शांत रहता हो, जो दमितेन्द्रिय हों; योगी, तपस्वी, अल्पभाषी, उपशम रस में मग्न, जितेन्द्रिय—इन सब गुणों से युक्त जीव को पद्म लेश्याधारी समझना चाहिये।

(३१) आर्त तथा रौद्र इन दोनों ध्यानों को छोड़कर जो धर्म एवं शुक्ल ध्यानों का चिंतवन करता है तथा राग द्वेषरहित, शांतचित्त, दमितेन्द्रिय तथा पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों से गुप्त—

(३२) अल्परागी अथवा वीतरागी, उपशांत, जितेन्द्रिय आदि गुणों में लवलीन उस जीव को शुक्ल लेश्यावान समझना चाहिये।

(३३) असंख्य अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणियों के समयों की जितनी संख्या है और संख्यातीत लोक में जितने आकाश-प्रदेश हैं उतने ही शुभ तथा अशुभ लेश्याओं के स्थान समझना चाहिये।

टिप्पणी—दस कोडाकोडी सागरों का एक अवसर्पिणी काल तथा दस कोडाकोंडी सागरों का एक उत्सर्पिणी काल होता है।

(३४) कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त सहित तेतीस सागर तक की है।

टिप्पणी—अगले जन्म में जो लेश्या मिलनेवाली होती है वह लेश्या मृत्यु के एक मुहूर्त पहिले आती है इसीलिये एक अन्तर्मुहूर्त समय अधिक जोड़ा गया है।

(३५) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागरोपम समझनी चाहिये।

(३६) कापोती लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है।

(३७) तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दो सागर की है।

(३८) पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त सहित दस सागर की है।

(३९) शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसहित तेतीस सागर की है।

(४०) यह लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया। अब चारों गतियों में लेश्याओं की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति कहता हूँ उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(४१) (नरक गति की लेश्या स्थिति कहते हैं) नरकों में कापोती लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्षों की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है।

(४२) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागर की है।

(४३) कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागर की है और उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर तक की है।

(४४) नरक के जीवों की लेश्या स्थिति इस प्रकार कही; अब पशु, मनुष्य और देवों की लेश्या स्थिति का वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

(४५) तिर्यंच एवं मनुष्य गतियों में (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा समूर्च्छन एवं गर्भज मनुष्यों में) शुक्ल लेश्या सिवाय बाकी सब लेश्याओं की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति केवल एक अन्तर्मुहूर्त की है। (इसलिये इसमें केवलज्ञानी भगवान का समावेश नहीं होता)।

(४६) (केवलीभगवान की शुक्ल लेश्या के विषय में कहते हैं) शुक्ल लेश्यादि की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम एक क्रोड पूर्व की समझनी चाहिये ।

(४७) मनुष्य एवं तिर्यंच गतियों की लेश्यास्थिति का वर्णन मैंने तुम्हें सुनाया; अब मैं तुम्हें देवों की लेश्यास्थिति कहता हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुनो ।

(४८) कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भाग जितनी है ।

(४९) नील लेश्या की जघन्य स्थिति, एक समय अधिक कृष्ण लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति के बराबर है तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भाग के बराबर है ।

(५०) कापोती लेश्या की जघन्य स्थिति नील लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति में एक समय अधिक, तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भाग के बराबर है ।

(५१) अब भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष, और वैमानिक देवोंकी तेजो लेश्या की स्थिति कहता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनोः—

(५२) तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्य की और उत्कृष्ट एक पल्य के असंख्यातवें भाग सहित दो सागर की है ।

(५३) (भवनवासी एवं व्यंतर देवों की) तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति दसहजार वर्षों की और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भाग सहित दो सागर की अपेक्षा से वैमानिक देवों की है ।

(५४) पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति तेजो लेश्याकी उत्कृष्ट स्थिति से एक समय और अधिक के बराबर है और उत्कृष्ट आयु एक समय सहित दस सागरोपम है।

(५५) शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति एक समय सहित पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति के बराबर है और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तमुहूर्त सहित ३३ सागर की है।

(५६) कृष्ण, नील और कापोती ये तीनों अधर्म लेश्याएँ हैं और इन तीनों लेश्याओं के कारण जीवात्मा दुर्गति को प्राप्त होता है।

(५७) तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीनों धर्म लेश्याएं हैं और इन तीनों लेश्याओंके कारण जीवात्मा सुगतिको प्राप्त होता है।

(५८-५९) मरण समय अगले जन्म के लिये जब जीवात्मा की लेश्याएँ वदलती हैं उस समय पहिले समय अथवा अंतिम समय में किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती है।

टिप्पणी—समय, कालवाची सबसे छोटा प्रमाण है।

(६०) सारांश यह है कि मरणांत के समय आगामी भव की लेश्याओं के परिपमित होने पर एक अन्तर्मुहूर्त बाद अथवा एक अन्तर्मुहूर्त बाकी रहने पर ही जीव परलोक को जाता है।

टिप्पणी—लेश्याओं की रचना इस प्रकार की है कि अगली जैसी गति में जाना होता है वैसे आकार में मृत्यु के एक समय के पहिले परिणत हो जाती हैं।

(६१) इसलिये इन सभी लेश्याओं के परिणामों को जानकर भिक्षु अप्रशस्त लेश्याओं को छोड़कर प्रशस्त लेश्याओं में अधिष्ठान करे।

टिप्पणी—शुभ को सब कोई चाहता है, अशुभ को कोई नहीं चाहता। किन्तु शुभ की प्राप्ति केवल विचार करने मात्र से नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति के लिये तो निरन्तर शुभ प्रयत्न करना पड़ता है।

अप्रशस्त लेश्याओं की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है, उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ईर्ष्या, क्रोध, द्रोह, क्रूरता, असंयम, प्रमत्तता, वासना, माया आदि निमित्त मिलते ही जीवात्मा इच्छा अथवा अनिच्छा से सहसा कुछ का कुछ कर बैठता है किन्तु कोमलता, विश्वप्रेम, संयम, त्याग, अर्पणता, अभयता आदि उच्च सद्गुणों की आराधना करना भी कठिन है। इसी में जीवात्मा की कसौटी होती है और वहीं उपयोग की जरूरत है। ऐसी कसौटी पर चढ़नेवाला साधक ही शुभ, सुन्दर तथा प्रशस्त लेश्याओं को प्राप्त करता है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'लेश्या' संबंधी चौंतीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।
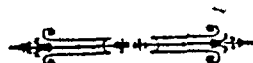
अणगाराध्ययन

साधु का चारित्र

३५

संसार के बाह्य बंधनों से छूट जाना कोई आसान बात नहीं है। संसार के क्षणभंगुर पदार्थों में बहुत से बिचारे भोगविलासी जीव रच पच रहे हैं, भटकते फिर रहे हैं और स्वच्छन्दी जीवन व्यतीत कर इस लोक तथा परलोकमें परम दुःख को देनेवाले कर्मों का सञ्चय कर रहे हैं।

यहां तो, किसी क्षीणकर्मी जीव को ही सद्भाव, वैराग्य या त्याग धारण करने की उत्कट अभिलाषा पैदा होती है। यहां तो धन इकट्ठा करने के लिये ही दौड़ादौड़ी हो रही है, त्यागभाव किसी विरले को ही होता है।

ऐसा त्यागी जीवन यद्यपि दुर्लभ है फिर भी शायद मिल भी जाय तो भी घरबार, सगेसम्बन्धी आदि को छोड़ देने से ही जीवनविकास की इतिश्री नहीं हो जाती। जितना ऊंचा आदर्श होता है, जवाबदारी भी उतनी ही भारी होती है।

त्यागी का जीवन, त्यागी की सावधानी, त्यागी की मनोदशा आदि कितने कठोर, उदार और पवित्र होने चाहिये उसका यहां वर्णन किया है।

भगवान बोलेः—

(१) जिस मार्ग का अनुसरण करके भिक्षु दुःख का अंत कर सकता है उस तीर्थङ्कर निरूपित मार्ग का तुम को उपदेश करता हूँ। उसको तुम एकाग्र चित्त से सुनो।

(२) जिस साधुने गृहस्थवास छोड़कर संयम-मार्ग अंगीकार किया है उसको उन आसक्तियों के स्वरूप को बराबर समझ लेना चाहिये जिनमें सामान्य मनुष्य बंधे हुए हैं।

टिप्पणी—'समझ लेने' से यह आशय है कि उन्हें समझ कर छोड़ देवे।

(३) उसी प्रकार हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, अप्राप्य वस्तुओं की इच्छा तथा प्राप्त पदार्थों का परिग्रह (ममत्व भाव) इन ५ स्थानों का भी संयमी छोड़ देवे।

(४) चित्रों से सुशोभित, पुष्प अथवा अगरचंदन आदि सुगन्धित पदार्थों से सुवासित सुंदर श्वेतवस्त्रों के चँदोवों द्वारा सुसज्जित, तथा सुन्दर किवाड़ वाले मनोहर घर की भिक्षु मन से भी इच्छा न करे।

टिप्पणी—ऐसे स्थानों में न रहने के लिये जो कहा गया है उसका मतलब यह है कि बाहर का सौन्दर्य भी कई बार देखने से आत्मा में बीजरूप में विद्यमान रागादिक विकारों को उत्तेजित करने में निमित्त रूप हो जाता है।

(५) (उपरोक्त प्रकार के सुसज्जित) उपाश्रय में भिक्षु को अपना इन्द्रिय संयम रखना कठिन होता है क्योंकि वह स्थान काम और राग को बढ़ानेवाला होता है।

(६) इसलिये स्मशान, शून्य घर, वृक्ष के मूल अथवा गृहस्थ के अपने लिये बनाए हुए सादे ? एकांत मकान में ही साधु को रागद्वेषरहित होकर निवास करना चाहिये।

टिप्पणी—उस समय में बहुत से भाविक गृहस्थ अपनी धार्मिक क्रियाएं करने का एकांत स्थान अपने घर से अलग बनवा लिया करते थे।

(७) जिस स्थान में बहुत से जीवों की उत्पत्ति न होती हो, स्वपर के लिये पीड़ाकारक न हो, स्त्रियों के आवागमन से रहित हो, ऐसे एकांत स्थान में ही परम संयमी भिक्षु को निवास करना कल्पता है (योग्य है)।

(८) भिक्षु (स्वयं) घर बनावे नहीं, दूसरों द्वारा बनवावे नहीं, क्योंकि घर बनाने की क्रिया में अनेक जीवों की हिंसा होती है।

(९) क्योंकि गृह बनाने की क्रिया में सूक्ष्म एवं स्थूल अनेक स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है इसलिये संयमी पुरुष को घर बनाने की क्रिया का सदन्तर त्याग कर देना चाहिये।

(१०) उसी प्रकार आहार पानी बनाने (रांधने) और बनवाने (रँधवाने) में भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है इसलिए प्राणियों की दया के लिये संयमी साधु स्वयं अन्न न पकावे और न दूसरों द्वारा पकवावे।

(११) जल, धान्य, पृथ्वी और ईंधन के आश्रय में रहते हुए अनेक जीव आहार-पानी बनाने में हने जाते हैं, इसलिए भिक्षु को भोजन नहीं पकाना चाहिये।

(१२) सब दिशाओं में शस्त्र की धारा की तरह फैली हुई और असंख्य जीवों का घात करनेवाली ऐसी अग्नि के समान अन्य कोई दूसरा शस्त्र घातक नहीं है। इसलिये साधु अग्नि कभी न जलावे।

टिप्पणी—भिक्षु स्वयं ऐसी कोई हिंसक क्रिया न करे, न दूसरों से करावे और न दूसरों को वैसा करते देखकर उसकी प्रशंसा ही करे।

(१३) खरीदने और बेचने की क्रियाओं से विरक्त तथा सुवर्ण एवं मिट्टी के ढेले को समान समझनेवाला ऐसा भिक्षु सोने चांदी की मन से भी इच्छा न करे।

टिप्पणी—जैसे मिट्टी के ढेले को निर्मूल्य जानकर कोई उसे नहीं उठाता वैसे ही साधु सुवर्ण को देखते हुए भी उसे स्पर्श न करे क्योंकि त्याग करने के बाद उसके लिये सोना और ढेला दोनों समान हैं।

(१४) खरीदनेवाले को ग्राहक कहते हैं और जो बेचता है उसे बनिया (व्यापारी) कहते हैं इसलिये यदि क्रयविक्रय में साधु भाग ले तो वह साधु नहीं कहाता।

(१५) भिक्षा मांगने का लिया है व्रत जिसने ऐसे भिक्षु को भिक्षा मांगकर ही कोई वस्तु ग्रहण करनी चाहिये, खरीद कर कोई वस्तु न लेनी चाहिये, क्योंकि खरीद करने और बेचने की क्रियाओं में दोष भरा हुआ है, इसलिये भिक्षा-वृत्ति ही सुखकारी है।

टिप्पणी—कंचन और कामिनी ये दो वस्तुएं संसार की बंधन हैं। इनके पीछे अनेकानेक दोष भरे हुए हैं। उनको एक बार त्याग देने के बाद त्यागी को उनका परिग्रह (संग्रह) तो क्या, उनका चिंत-

वन तक न करना चाहिये। इसीलिये त्यागी के लिये भिक्षाचरी को ही धर्म्य बताया है।

(१६) सूत्र में निर्दिष्ट नियमानुसार ही अनिंदित घरों में सामुदानिक गोचरी करते हुए आहार की प्राप्ति हो किंवा न हो फिर भी मुनि को सन्तुष्ट ही रहना चाहिये।

टिप्पणी—जो कोई कुल दुर्गुणों के कारण निंदित हों अथवा अभक्ष्य-भक्षी हों उनको छोड़कर भिक्षु को भिन्न २ कुलों में निर्दोष भिक्षा-वृत्ति करनी चाहिये।

(१७) अनासक्त तथा स्वादेन्द्रिय के ऊपर काबू रखनेवाला साधु रसलोलुपी न बने। यदि कदाचित सुन्दर स्वादु भोजन न मिले तो खिन्न न हो किंवा उसकी वांछा न करे। महामुनि स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिये भोजन न करे किन्तु संयमी जीवन का निर्वाह करने के उद्देश्य से ही भोजन करे।

(१८) चंदनादि का अर्चन, सुन्दर आसन, ऋद्धि, सत्कार, सन्मान, पूजन अथवा बलात् वंदन—इनकी इच्छा भिक्षु मन से भी न करे।

(१९) मरणपर्यंत साधु अपरिग्रही रहकर तथा शरीर का भी ममत्व त्यागकर, नियाणरहित हो शुक्लध्यान का ध्यान धरे और अप्रतिबंधरूप से विहार करे।

(२०) कालधर्म (मृत्यु अवसर) प्राप्त हो तब चारों प्रकार के आहार त्याग कर वह समर्थ भिक्षु इस अन्तिम शरीर को छोड़ कर सब दुःखों से छूट जाय।

(२१) ममत्व और अहंकार रहित, अनास्रवी और वीतरागी होकर केवलज्ञान को प्राप्त कर फिर चिरन्तन मुक्ति को प्राप्त करे।

टिप्पणी—सयम यह तलवार की धार है। संयम का मार्ग देखने में सरल दीखने पर भी आचरने में अति कठिन है। संयमी जीवन सब किसी के लिये सुलभ नहीं है, फिर भी यह एक ही कल्याण का मार्ग है।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह 'अणगार' संबंधी पैंतीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

जीवाजीवविभक्ति
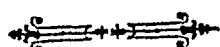
जीवाजीव पदार्थों का विभाग

३६

चेतन, जड़ (कर्मों) के संसर्ग से जन्ममरण के चक्र में घूमता फिरता है। इसी का नाम संसार है। ऐसे संसार की आदि का पता कैसे चले? जब से चेतन है तभी से जड़ है—इस तरह ये दोनों तत्त्व जगत के अणु अणु में भरे पड़े हैं। हमें उसकी आदि (प्रारंभ) की चिन्ता नहीं है क्योंकि उसकी आदि किस काल में हुई—यह जानने से हमें कुछ भी लाभ नहीं है और उसे न जानने में अपनी कुछ भी हानि नहीं है। क्योंकि जैन दर्शन मानता है कि इस संसार की आदि नहीं है और समस्त प्रवाह की दृष्टि से अनन्त काल तक संसार तो चालू ही रहेगा। फिर भी मुक्त जीवों की दृष्टि से मुक्ति (संसार का अन्त) थी और रहेगी।

चेतन और जड़ का सम्बन्ध चाहे जितना भी निविड (घट्ट) क्यों न हो, फिर भी यह संयोगिक संबंध है। समवाय संबंध का अन्त नहीं होता, परन्तु संयोग संबंध का अन्त आज, कल और नहीं तो कुछ काल बाद हो जाना सम्भव है।

आज चेतन और जड़ दोनों अपना २ धर्म गुमा बैठे हैं। चेतनमय जड़ और जड़मय चेतन ये दोनों परस्पर ऐसे तो एकाकार हुए दिखाई देते हैं कि सहसा उनको अलग २ नहीं पहिचाना जा सकता।

जड़ के अनादि संसर्ग से मलिन हुआ चैतन्य, जीवात्मा अथवा 'वहिरात्मा' कहलाता है और जब वह जीवात्मा अपने स्वरूप का अनुभव करने लगता है तब उसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं और जो जीव कर्म रहित हो जाता है उसे 'परमात्मा' कहते हैं। जगत के पदार्थों को यथार्थ स्वरूप में जानने की इच्छा होना इसे 'जिज्ञासा' कहते हैं। ऐसी जिज्ञासा के परिणाम स्वरूप वह जगत् के समस्त पदार्थों में से मूलभूत मात्र दो पदार्थों को चुन लेता है। इसके बाद ही जीव की चैतन्य तत्त्व पर बराबर रुचि जमती है और तभी वह शुद्ध बनने के लिये शुद्ध चैतन्य की प्रतीति कर आगे बढ़ता है। जीव तत्त्व के भिन्न २ स्वरूपों को जानने के बाद वह स्वयं जीव—अजीवतत्त्व इन दोनों तत्त्वों के संयोगिक बलों का विचार करने लगता है।

समस्त संसार का स्वरूप उसके सामने से मूर्तिमंत हो कर निकल जाता है तब वह आत्माभिमुख होता है और आत्मानुभव का आनन्द पाने लगता है। आत्मलक्ष्य पर ध्यान देकर आते हुए कर्मों को निरोध करता है, और धीमे २ पूर्व संचित कर्म समूह को खपाते हुए शुद्ध चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है।

भगवान बोले—

(१) जिस को जानकर भिक्षु संयम में उपयोग पूर्वक उद्यमवंत होता है ऐसा जीव तथा अजीव के भिन्न २ भेद संबंधी प्रकरण तुमसे कहता हूँ।

(२) जिसमें जीव तथा अजीव ये दोनों तत्त्व भरे हुए हैं उसे तीर्थंकरों ने 'लोक' कहा है और अजीव के एक देश को जहां मात्र आकाश का ही अस्तित्व है अन्य कोई पदार्थ नहीं है—उसे 'अलोक' कहा है।

(३) जीव और अजीवों का निरूपण द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव—इन चार प्रकारों से होता है।

(४) अजीव तत्त्व के मुख्य रूप से (१) रूपी, (२) अरूपी, ये दो भेद हैं। उनमें से रूपी के चार तथा अरूपी के १० भेद हैं।

(५) धर्मास्तिकाय के (१) स्कंध, (२) देश, तथा (३) प्रदेश तथा अधर्मास्तिकाय के (४) स्कंध, (५) देश (६) प्रदेश,

(६) और आकाशास्तिकाय के (७) स्कंध, (८) देश, (९) प्रदेश तथा (१०) अद्धा समय (कालतत्त्व)—ये सब मिलाकर अरूपी के १० भेद हैं।

टिप्पणी—किसी भी संपूर्ण द्रव्य के पूर्ण विभाग को 'स्कंध' कहते हैं। स्कंध के अमुक कल्पित विभाग को देश कहते हैं और एक छोटा टुकड़ा जिसका फिर कोई दूसरा खण्ड न होसके किन्तु स्कंध के साथ संबंधित हो तो उसे 'प्रदेश' कहते हैं और यदि वह स्कंध से अलग हो जाय तो उसे 'परमाणु' कहते हैं।

(७) (क्षेत्र दृष्टि से वर्णन) धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय इन दोनों द्रव्यों का क्षेत्र लोकप्रमाण है और आकाशास्तिकाय का क्षेत्र संपूर्ण लोक और अलोक दोनों है। समय

(काल) का क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र के बराबर है (अर्थात् ४५ लाख योजन है)।

(८) (काल दृष्टि से वर्णन) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—ये तीनों द्रव्य काल की अपेक्षा से अनादि एवं अनंत हैं अर्थात् प्रत्येक काल में शाश्वत हैं ऐसा भगवान ने कहा है।

(९) समय काल भी निरन्तर प्रवाह (व्यतीत) होने की दृष्टि से अनादि तथा अनंत है परन्तु किसी अमुक कार्य की अपेक्षा से वह सादि (आदि सहित) तथा सान्त (अन्त सहित) है।

(१०) (१) स्कंध, (२) स्कंध के देश, (३) उसके प्रदेश, तथा (४) परमाणु—ये ४ भेद रूपी पदार्थ के होते हैं।

(११) द्रव्य की अपेक्षा से, जब बहुत से पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर परस्पर में मिल जाते हैं तब स्कंध बनता है और जब वे जुदे २ रहते हैं तब 'परमाणु' कहलाते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से, स्कंध लोक के एक देश व्यापी हैं। और परमाणु समस्त लोक व्यापी हैं। अब पुद्गल स्कंधों की कालस्थिति चार प्रकार से कहता हूँ।

टिप्पणी—लोक के एक देश में अर्थात् अमुक एक आकाश प्रदेश में स्कंध हों और न भी हों, किन्तु वहां परमाणु तो अवश्य होता है।

(१२) संसार प्रवाह की दृष्टि से तो वे सब अनादि तथा अनन्त हैं किन्तु रूपान्तर होने तथा स्थिति की अपेक्षा से वे सादि एवं सान्त हैं।

(१३) एक ही स्थान में रहने की अपेक्षा से उन रूपी अजीव पुद्गलों की जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल तक की तीर्थंकर भगवानों ने कही है।

(१४) वे रूपी पुद्गल परस्पर जुदे २ होकर फिर मिल जांय उसका अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनंत-काल तक का है।

(१५) (अब भाव से पुद्गल के भेद कहते हैं) वर्ण, गंध, रस, स्पर्श तथा संस्थान (आकृति) की अपेक्षा से इनके ५ भेद हैं।

(१६) पुद्गलों के वर्ण (रंग) पांच प्रकार के होते हैं:—(१), काला, (२) पीला, (३) लाल, (४) नीला, और (५) सफेद।

(१७) गंध की अपेक्षा से उनके दो भेद हैं:—(१) सुगन्ध, और (२) दुर्गंध।

(१८) रस पांच प्रकार के होते हैं:—तीखा, (२) कडुआ, (३) कसैला, (४) खट्टा और (५) मीठा।

(१९) स्पर्श ८ प्रकार के होते हैं:—(१) कर्कश, (२) कोमल, (३) भारी, (४) हलका—

(२०) (५) ठंडा, (६) गर्म, (७) चिकना और (८) रूखा।

(२१) संस्थान (आकृति) के ५ भेद हैं:—(१) परिमण्डल (चूडी जैसा गोल), (२) वृत्ताकार (गेंद जैसा गोल), (३) त्रिकोणाकार, (४) चतुर्भुजा (५) समचतुर्भुजाकार।

(२२) रंग से काले पदार्थ में (दो) गंध, (पांच) रस, (आठ) स्पर्श, (पांच) संस्थान इस तरह २० बोलों की भजना (हो या न हो) जाननी चाहिये ।

टिप्पणी—'भजना' शब्द लिखने का मतलब यह है कि जो स्थूल अनन्त प्रदेशी स्कंध पुद्गल, वर्ण में काला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान ये २० गुण जानना । परमाणु की अपेक्षा से तो एक गंध, एक रस, और दो स्पर्श ये चार ही गुण होते हैं। इसी तरह सब जगह समझना चाहिये ।

(२३) जो पुद्गल वर्ण (रंग) में नीला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२४) जो पुद्गल रंग में लाल हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२५) जो पुद्गल रंग में पीला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२६) जो पुद्गल रंग में सफेद हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२७) जो पुद्गल सुगन्ध वाला हो उसमें वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२८) जो पुद्गल दुर्गंध वाला हो उसमें वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(२९) जो पुद्गल तीखे रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३०) जो पुद्गल कड़ुए रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३१) जो पुद्गल कसैले रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३२) जो पुद्गल खट्टे रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३३) जो पुद्गल मीठे रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३४) जो पुद्गल कर्कश स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३५) जो पुद्गल कोमल स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३६) जो पुद्गल भारी स्पर्शवाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध, और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३७) जो पुद्गल हलके स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३८) जो पुद्गल ठंडे स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(३९) जो पुद्गल गर्म स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(४०) जो पुद्गल चिकने स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(४१) जो पुद्गल रूखे स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध और संस्थान की भजना समझनी चाहिये ।

(४२) जो पुद्गल परिमंडल आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये ।

(४३) जो पुद्‌गल वृत्ताकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४४) जो पुद्‌गल त्रिकोणाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४५) जो पुद्‌गल चतुर्भुजाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४६) जो पुद्‌गल समचतुर्भुजाकार आकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श की भजना समझनी चाहिये।

(४७) इस तरह अजीव तत्त्व का विभाग संक्षेप में कहा। अब जीवतत्त्व के विभाग को क्रमपूर्वक कहता हूँ।

(४८) सर्वज्ञ भगवान ने जीवों के दो भेद कहे हैं:– (१) संसारी (कर्मसहित), तथा (२) सिद्ध (कर्मरहित)। उनमें से सिद्ध जीवों के अनेक भेद हैं। सो मैं तुम्हें कहता हूँ— तुम ध्यान पूर्वक सुनो।

(४९) उन सिद्ध जीवों में स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग से, जैन साधु के वेश से, अन्य दर्शन के (साधु सन्यासी आदि) वेश से अथवा गृहस्थ वेश से भी सिद्ध हुए जीवों का समावेश होता है।

टिप्पणी:—स्त्री, पुरुष और वे नपुंसक जो जन्म से नपुसक पैदा न हुए हों किन्तु जिनने योगाभ्यास आदि की पूर्ण सिद्धि के लिये अपने आप को नपुंसक बना लिया हो—ये तीनों ही मोक्ष पाने के अधिकारी हैं। गृहस्थाश्रम अथवा त्यागाश्रम इन दोनों के द्वारा मोक्ष सिद्धि की जा सकती है। इस तरह यहां तो केवल ६ प्रकार के ही सिद्धों का वर्णन किया है परन्तु दूसरी जगह इनके विशेष भेद कर कुल १५ प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिलता है।

(५०) (सिद्ध होते समय उन जीवों के शरीर की अवगाहना कितनी होती है यह बताते हैं:—) जघन्य अवगाहना दो हाथ की और उत्कृष्ट ५०० धनुष की होती है और इन दोनों के बीच की मध्यम अवगाहना है। पर्वतादि ऊँचे स्थानों, गुफा, गड्ढे आदि नीचे स्थानों, त्रिकोणाकार प्रदेश, समुद्र, जलाशय आदि स्थानों से जोव सिद्धावस्था को प्राप्त हो सकते हैं।

(५१) एक समय में अधिक से अधिक दस (कृत) नपुंसक, बीस स्त्रियां, और १०८ पुरुष सिद्ध हो सकते हैं।

(५२) एक समय में अधिक से अधिक चार जीव गृहलिंग में, दस अन्य लिंग में तथा १०८ जैन लिंग में सिद्ध हो सकते हैं।

टिप्पणी—जैन शासन का पालन करो अथवा अन्य धर्म का पालन करो, गृहस्थाश्रम में रहो अथवा त्यागाश्रम में रहो, जहां २ भी जितनी २ योग्यता (वैराग्य सिद्धि) प्राप्ति की जायगी वहां वहां से जीवों को मोक्ष की प्राप्ति होती ही है। मोक्ष प्राप्ति का ठेका किसी अमुक धर्म मत, दर्शन या आश्रम ने नहीं लिया है।

(५३) एक समय में एक ही साथ जघन्य अवगाहना वाले अधिक से अधिक चार जीव और उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो जीव और मध्यम अवगाहना के १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

(५४) एक समय में, एक ही साथ, ऊँचे लोक (मेरुपर्वत की चूलिका) से चार, समुद्र में से दो, नदी आदि टेढे मेढे

स्थानों में से तीन, नीचे लोक में से बीस और मध्यलोक में से १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

(५५) सिद्ध जीव कहां पर रुके हैं ? कहां पर ठहरे हुए हैं। और कहां से शरीर को छोड़ कर सिद्ध हुए हैं ?

(५६) सिद्ध जीव अलोक की सीमा पर रुक जाते हैं। वे लोक के अग्र भाग पर विराजमान हैं। मध्यलोक में अपना शरीर छोड़कर वहाँ लोक के अग्रभाग में स्थित सिद्ध शिला पर वे स्थिर होते हैं।

टिप्पणी—शुद्ध चेतन स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है किन्तु अलोकाकाश में गतिधर्मी धर्मास्तिकाय के न होने से आत्मा अलोकाकाश में नहीं जा सकती और केवल लोकाकाश की अन्तिम सीमा पर जाकर वह वहीं स्थित हो (रुक) जाती है।

(५७) (सिद्ध स्थान कैसा है:—) सर्वार्थसिद्धि नाम के विमान से १२ योजन ऊपर छत्र के आकार की ईसीपभारा (ईषत् प्राग्भार) नाम की एक सिद्धशिला पृथ्वी है।

(५८) वह सिद्धशिला ४५ लाख योजन लंबी और चौड़ी है। उसकी परिधि इसके तीन गुने से भी अधिक है।

(५९) उस सिद्धशिला का मध्य भाग आठ योजन मोटा है और बाद में थोड़ा २ घटते हुए अन्त सिरों पर वह मक्खी के पंखों के समान पतली है।

(६०) वह पृथ्वी सब जगह॰ अर्जुन नामक सफेद सोने जैसी अत्यन्त निर्मल है और उसका समाछत्र जैसा आकार है— ऐसा अनंत ज्ञानी तीर्थंकरों ने कहा है।

(६१) वह सिद्धशिला शंख, अंकरत्न और मुचकुन्द के फूल के समान अत्यन्त सुन्दर एवं निर्मल है और उस सिद्धशिला से एक योजन की ऊँचाई पर लोक का अंत हो जाता है।

(६२) उस योजन के अंतिम कोस के छट्ठे भाग (३३३ धनुष और ३२ अंगुलियों) की ऊँचाई में सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

(६३) उस मोक्ष में महा भाग्यवन्त सिद्ध भगवान भवप्रपंच से मुक्त होकर और उत्तम सिद्धगतिको प्राप्त कर लोकाग्र पर स्थिर हुए हैं।

(६४) (सिद्ध होने के पहिले) अन्तिम मनुष्यभव में शरीर की जितनी ऊँचाई होती है उसमें से एक-तृतीयांश छोड़कर दो-तृतीयांश जितनी ऊँचाई सिद्ध जीवों की रहती है।

टिप्पणी—सिद्ध होने पर शरीर नहीं रहता किन्तु उस शरीर में व्याप्त आत्मप्रदेश तो रहते हैं। शरीर का $\frac{1}{3}$ भाग जो पोला है उसके सिवाय के $\frac{2}{3}$ भाग में सब आत्मप्रदेश रहते हैं। आत्मप्रदेश अरूपी है इस कारण सिद्धशिला पर अनन्त सिद्ध होने पर भी उनमें परस्पर घर्षण नहीं होता है।

(६५) (वह मुक्ति स्थान) एक एक जीव की अपेक्षा से सादि (आदि सहित) एवं अनंत (अंत रहित) है किन्तु समस्त सिद्ध समुदाय की अपेक्षा से वह आदि एवं अंत दोनों से रहित है।

(६६) वे सिद्ध जीव अरूपी हैं और केवलज्ञान तथा केवलदर्शन उनका लक्षण है। वे उपमा रहित अतुल सुख का उपभोग करते हैं।

(६७) संसार से पार गये हुए, उत्तम सिद्ध गति को प्राप्त केवलज्ञान तथा केवल दर्शन के स्वामी ऐसे वे सब सिद्ध भगवान लोक के अग्र भाग में स्थिर हैं।

(६८) तीर्थंकर भगवान ने संसारी जीवों के दो भेद कहे हैं:—(१) त्रस, और (२) स्थावर। स्थावर जीवों के भी तीन भेद हैं।

(६९) (१) पृथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) वनस्पतिकाय। इन तीनों के भी उपभेद हैं उन्हें मैं कहता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(७०) पृथ्वीकाय जीवों के (१) सूक्ष्म, और (२) स्थूल ये दो भेद है। और इन दोनों के (१) पर्याप्त, तथा (२) अपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।

(७१) स्थूल पर्याप्त के दो भेद हैं (१) कोमल और (२) कर्कश इनमें से कोमल के ७ भेद हैं:—

(७२) (१) काली, (२) नीली, (३) लाल, (४) पीली, (५) सफेद, (६) पांडुर (सफेद चन्दन जैसी) और (७) अत्यन्त बारीक रेत—ये सातभेद कोमल पृथ्वी के हैं कर्कश पृथ्वी के ३६ भेद हैं:—

(७३) (१) पृथ्वी (खान की मिट्टी), (२) कंकरीली, (३) रेती, (४) पत्थरीली छोटी २ कंकरी, (५) शिला, (६) समुद्रादि का खार, (७) लोनी मिट्टी, (८) लोह, (९) तांबा, (१०) कलई, (११) सीसा, (१२) चांदी, (१३) सोना, (१४) वज्रहीरा—

(७४) (१५) हड़ताल, (१६) हींगडा, (१७) मणसील (एक प्रकार की धातु,) (१८) जसत, (१९) सुरमा, (२०) प्रवाल, (२१) अभ्रक (२२) अभ्रक से मिश्रित धूल।

(७५) (अब मणियों के भेद कहते हैं:—) (२३) गोमेदक, (२४) रुचक, (२५) अंकरत्न (२६) स्फटिक रत्न, (२७) लोहिताक्ष मणि, (२८) मर्कत मणि, (२९) मसारगल मणि, (३०) भुजमोचक रत्न, (३१) इन्द्र नील—

(७६) (३२) चन्दन रत्न, (३३) गैरकरत्न, (३४) हंसगर्भ रत्न, (३५) पुलकरत्न, (३६) सौगन्धिक रत्न, (३७) चंद्रप्रभारत्न, (३८) वैडूर्य रत्न, (३९) जलकांत मणि और (४०) सूर्यकांत मणि।

टिप्पणी—यद्यपि यहां मणियों के १८ भेद गिनाये हैं परन्तु इनको १४ प्रकार मानकर पूर्व के २२ में जोड़ देने से कुल भेद ३६ हुए।

(७७) इस प्रकार कर्कश पृथ्वी के ३६ भेद हैं। सूक्ष्म पृथ्वी के जीव तो सभी केवल एक ही प्रकार के हैं—जुदे २ नहीं हैं और वे दृष्टिगोचर भी नहीं होते।

(७८) क्षेत्र की अपेक्षा से सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। और स्थूल पृथ्वीकाय के जीव इस लोक के केवल अमुक भाग में ही हैं। अब मैं उनका चार प्रकार का कालविभाग कहता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो—

(७९) सूक्ष्म तथा स्थूल पृथ्वीकाय के जीव, जीव प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि एवं अनंत हैं किन्तु एक एक जीव की आयुष्य की अपेक्षा से सादि तथा सांत हैं।

(८०) स्थूल पृथ्वीकाय के जीवों की जघन्य स्थिति एक अन्तमुंहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति २२००० वर्ष की है।

(८१) (पृथ्वीकाय से मर कर फिर पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने को काय स्थिति कहते हैं) स्थूल पृथ्वीकाय के जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की है।

(८२) पृथ्वीकाय के जीव एक वार अपनी पृथ्वीकाय को छोड़ कर फिर दुबारा पृथ्वीकाय में जन्मधारण करें उसके अन्तराल की जघन्य अवधि एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट अनन्त काल तक की है।

(८३) भाव की अपेक्षा अब वर्णन करते हैं—इन पृथ्वी कायिक जीवों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा संस्थान की दृष्टि से हजारों भेद हैं।

(८४) जलकाय के जीव (१) स्थूल, और (२) सूक्ष्म इन दो प्रकार के होते हैं और उन दोनों के पर्याप्त तथा अपर्याप्त तथा ये दो दो भेद और हैं।

(८५) स्थूल पर्याप्त जीवों के ५ भेद हैं (१) मेघ का पानी, (२) समुद्र का पानी, (३) ओस बिन्दु आदि, (४) कुहरे का पानी, और (५) बर्फ का पानी।

(८६) सूक्ष्म जलकायका एक ही भेद है, भिन्न २ नहीं है। सूक्ष्म जलकाय के जीव सर्वलोक में व्याप्त हैं और स्थूल जल काय के जीव तो लोक के अमुक भाग में ही रहते हैं।

(८७) प्रवाह की अपेक्षा से तो वे सब अनादि एवं अनंत हैं किन्तु एक जीव को आयुष्य की अपेक्षा से आदि-अन्त सहित है।

(८८) जलकाय के जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त तक की और उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्ष तक की है।

(८९) जलकाय के जीवों की कायस्थिति, उसी योनि में जन्म धारण करने की अवधि कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक असंख्य काल की है।

(९०) जलकाय के जीव के अपनी काय को छोड़ कर दुबारा उसी काय में जन्म धारण करने के अन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति अनन्त-काल की है।

(९१) जलकायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(९२) वनस्पति काय के जीव (१) सूक्ष्म, और (२) स्थूल ये दो प्रकार के होते हैं और उन दोनों के पर्याप्त तथा अपर्याप्त ये दो दो भेद और हैं।

(९३) स्थूल पर्याप्त वनस्पति काय के जीवों के दो भेद हैं (१) साधारण (जिस शरीर में अनन्त जीव रहते हों), (२) प्रत्येक (जिस शरीर में एक ही जीव हो)।

(९४) प्रत्येक वनस्पति जीवों के भी अनेक भेद हैं, (१) वृत्त (इसके भी सबीज और निर्बीज ये दो भेद हैं), (२) गुच्छावाले, (३) वनमालती आदि, (४) लता (चंपक लता आदि), (५) वेलें (करेले, काकड़ी आदि की वेलें), (६) घास—

(९५) (७) नारियल, (८) ईख, वांस आदि, (९) कठफूले (१०) कमल, साली आदि, (११) हरिकाय औषधि आदि आदि सब प्रत्येक वनस्पतियां हैं।

(९६) साधारण शरीर वाले जीव भी अनेक प्रकार के हैं, (१) आलू, (२) मूला, (३) अदरक—

(९७) (४) हरिली कंद, (५) विरिली कंद, (६) सिस्सिरिली कंद, (७) जावंत्री कन्द, (८) कंदली कंद, (९) प्याज, (१०) लहसन, (११) पलांडू कंद, (१२) कुडुव कन्द—

(९८) (१३) लोहिनी कन्द, (१४) हुताक्षी कन्द, (१५) हूत कन्द, (१६) कुहक कन्द (१७) कृष्ण कन्द, (१८) वज्र कन्द, (१९) सूरण कन्द—

(९९) (२०) अश्वकर्णी कन्द, (२१) सिंहकर्णी कन्द, (२२) मुसंढी कंद, (२३) हरी हल्दी—इस प्रकार अनेक तरह की साधारण वनस्पतियां होती हैं।

(१००) सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीवों का एक ही भेद है। भिन्न २ प्रकार की दृष्टि से सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं किन्तु स्थूल जीव तो लोक के अमुक भाग में ही हैं।

(१०१) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि एवं अनन्त हैं किंतु एक एक जीव की आयुस्थिति की अपेक्षा से वे सादि एवं सान्त हैं।

(१०२) वनस्पति काय के जीवों को जघन्य आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट आयुस्थिति दस हजार वर्षों की है।

(१०३) वनस्पति कायिक जीवों की कायस्थिति, उसी २ योनि में जन्म धारण करता रहे तो कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक अनंत काल तक की है।

टिप्पणी—लील फूल, निगोद इत्यादि अनन्त काय के जीव की अपेक्षा से अनन्त काल कहा है।

(१०४) वनस्पति कायिक जीव के, अपनी काय को छोड़कर दुबारा उसी काय में जन्म धारण करने के अन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति अनन्त काल तक की है।

(१०५) वनस्पति कायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(१०६) इस तरह संक्षेप में तीन प्रकार के जीव कहे हैं। अब तीन प्रकार के त्रसों के विषय में कहता हूँ।

(१०७) अग्निकाय, वायुकाय और द्वीन्द्रियादिक चलते फिरते बड़े जीव—ये तीन भेद त्रस जीवों के हैं। अब इनमें से प्रत्येक के उपभेद गिनाता हूँ उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो।

टिप्पणी—यहां पर अग्नि एवं वायु कायिक जीवों को एक खास अपेक्षा से त्रस कहा है, यद्यपि ये दोनों वस्तुतः स्थावर ही हैं।

(१०८) अग्निकाय के जीव (१) सूक्ष्म, और (२) स्थूल ये दो प्रकार के होते हैं। और उन दोनों के पर्याप्त एवं अपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।

टिप्पणी—पर्याप्त जीव उन्हें कहते हैं कि जिन्हें, जिस योनि में जितनी पर्यायें मिलनी चाहिये उतनी सब मिली हों और जो जीव उन्हें पूर्णरूप से प्राप्त किये विना ही मर जाते हैं उन्हें अपर्याप्ति जीव कहते हैं। पर्यायें ६ प्रकार की हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन।

(१०९) स्थूल पर्याप्त अग्निकायिक जीव अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—(१) अङ्गारा, (२) राखमिश्र अग्नि, (३) तप्त धातु की अग्नि, (४) अग्नि ज्वाला (५) भड़का (विछिन्न शिखा)—

(११०) (६) उल्कापात की अग्नि, (७) बिजली की अग्नि—आदि अनेक भेद हैं। सूक्ष्म पर्याप्त अग्निकाय के जीव केवल एक ही प्रकार के हैं।

(१११) सूक्ष्म अग्निकायिक जीव सब लोक में व्याप्त हो रहे हैं किंतु स्थूल तो लोक के केवल अमुक भाग में ही व्याप्त हैं। अब उनका चार प्रकार का कालविभाग बताता हूँ।

(११२) प्रवाह की अपेक्षा से तो सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु भिन्न २ आयु की स्थितियों की अपेक्षा से वे आदि-अन्त सहित हैं।

(११३) अग्निकाय के जीवों की जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट असंख्य काल तक की है।

(११४) अग्निकाय के जीवों की कायस्थिति (इस काय को न छोड़े तब तक की आयु) कम में कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक असंख्य काल तक की है।

(११५) अग्निकायिक जीव के, अपनी काय को छोड़ कर दुबारा उसी काय में जन्मधारण करने के अन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति असंख्य काल तक की है।

(११६) अग्निकायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(११७) वायुकायिक जीव (१) सूक्ष्म, और (२) स्थूल—ये दो प्रकार के होते हैं। और उन दोनों के (१) पर्याप्त, (२) अपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।

(११८) स्थूल पर्याप्त वायुकायिक जीवों के पांच भेद हैं:—(१) उत्कलिक (रह रह कर बहे वे) वायु, (२) आंधी, (३) घनवायु (जो घनोदधि के नीचे बहती है), (४) गुञ्जावायु (स्वयं गुंजने वाली है), और (५) शुद्ध वायु।

(११९) तथा संवर्तक वायु इत्यादि तो अनेक प्रकार की वायुएं हैं और सूक्ष्म वायु तो केवल एक ही प्रकार की है।

(१२०) सूक्ष्म वायुकायिक जीव तो समस्त लोक में व्याप्त हैं किन्तु स्थूल तो अमुक भाग में ही विद्यमान हैं। अब उनका चार प्रकार का कालविभाग कहता हूँ।

(१२१) प्रवाह की अपेक्षा से ये सभी जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु भिन्न २ आयुओं की स्थिति के कारण वे सादि एवं सांत हैं।

(१२२) वायुकाय के जीवों की जघन्य आयु स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्षों तक की है।

(१२३) वायुकायिक जीवों की कायस्थिति (इस काया को न छोड़े तब तक) की कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक असंख्य काल तक की है।

(१२४) वायुकायिक जीव के, अपनी काय को छोड़ कर दुबारा उसी काय में जन्मधारण करने के अन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति असंख्य काल तक की है।

(१२५) वायुकायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(१२६) बड़े त्रसकाय के (द्वीन्द्रियादिक) जीव चार प्रकार के होते हैं (१) द्वीन्द्रिय, (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय, और (४) पंचेन्द्रिय।

(१२७) द्वीन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त तथा (२) अपर्याप्त—ये दो तरह के होते हैं। अब मैं उनके उपभेद कहता हूँ, उन्हें सुनो।

(१२८) (१) करमिया (विष्ठा में उत्पन्न कृमि आदि), (२) अणासिया, (३) सौमंगल, (४) मातृवाहक, (५) वांसीमुखा, (६) शंख, (७) छोटे २ शंख-सीपियां।

(१२९) (८) घुन, (९) कौड़ियां, (१०) जालक, (११) जोंक और (१२) चंदनिआ।

(१३०) इस तरह द्वीन्द्रिय जीवों के अनेक भेद होते हैं और वे सब लोक के अमुक अमुक भागों मे रहते हैं।

(१३१) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि एवं अनन्त हैं किंतु आयुष्यस्थिति की अपेक्षा से वे आदि-अन्त सहित हैं।

(१३२) द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट आयु १२ वर्षों तक की कही है।

(१३३) द्वीन्द्रिय जीवों की काय स्थिति (उसी काय को न छोड़ें तब तक की) कम में कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक की है।

(१३४) द्वीन्द्रिय जीव अपनी काय को छोड़ कर फिर द्वीन्द्रिय शरीर धारण करे उनके बीच का जघन्य अन्तराल अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट अनंतकाल तक का है।

(१३५) द्वीन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों प्रकार के होते हैं।

(१३६) त्रीन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त—ये दो तरह के होते हैं। अब मैं उनके उपभेद बताता हूँ, उन्हें सुनो।

(१३७) (१) कुंथवा, (२) कीड़ी, (३) चांचड़, (४) उकलीया, (५) तृणाहारी, (६) काष्ठाहारी, (७) मालुगा और (८) पत्ताहारी।

(१३८) (९) कपास के बीज में उत्पन्न जीव, (१०) तिन्दुक, (११) मिंजका, (१२) सदावरी, (१३) गुल्मी, (१४) इन्द्रगा और (१५) मामणमुंडा आदि अनेक प्रकार के हैं।

(१३९) ये सब समस्त लोक में नहीं किन्तु उसके अमुक भाग में ही रहते हैं।

(१४०) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि और अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से आदि-अन्त सहित हैं।

(१४१) त्रीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट ४९ दिन की होती है।

(१४२) त्रीन्द्रिय की कायस्थिति, उसी काय को न छोड़े तब तक की, कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक संख्यात काल तक की है।

(१४३) त्रीन्द्रिय जीव अपने एक शरीर को छोड़कर फिर दुबारा उसी योनि में शरीर धारण करे तो उसके बीच के अन्तराल का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१४४) त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

(१४५) चतुरिन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त, और (२) अपर्याप्त— ये दो प्रकार के होते हैं। अब मैं उनके उपभेद कहता हूँ, उन्हें सुनो।

(१४६) (१) अंधिया, (२) पोतिया, (३) मक्खी, (४) मच्छर, (५) भौंरा, (६) कीड़ा, (७) पतंगिया, (८) ढिंकण, (९) कंकणा—

(१४७) (१०) कुकुट, (११) सिंगरोटी, (१२) नंदावृत्त, (१३) विच्छू, (१४) डोला, (१५) झिंगुर, (१६) चीरली, (१७) अँखफोड़ा,।

(१४८) (१८) अच्छील, (१९) मागध, (२०) रोड, (२१) रंगविरंगी तितलियां, (२२) जलकारी, (२३) उपधि जलका, (२४) नीचका, और (२५) ताम्रका।

टिप्पणी—भिन्न २ भाषाओं में इनके जुदे २ नाम हैं।

(१४९) इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों के अनेक भेद कहे हैं। ये सब लोक के किसी अमुक भाग में ही रहते हैं।

(१५०) प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सभी जीव अनादि एवं अनंत हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से वे आदि-अन्त सहित हैं।

(१५१) चतुरिन्द्रिय जीव की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट आयु ६ महीने की है।

(१५२) चतुरिन्द्रिय जीवों की कायस्थिति (उस काय को न छोड़े तब तक की स्थिति) कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक संख्यात काल तक की है।

(१५३) चतुरिन्द्रिय जीव अपना शरीर छोड़कर फिर उसी काय में जन्में तो उसके बीच के अन्तराल का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१५४) ये चतुरिन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों तरह के होते हैं।

(१५५) पंचेन्द्रिय जीव ४ प्रकार के होते हैं:—(१) नारकी, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देव।

(१५६) रत्नप्रभादि सात नरकभूमिओं होने से सात प्रकार के नरक कहे हैं उन भूमिओं के नाम ये हैं:—(१) रत्नप्रभा, (२) शर्करा प्रभा, (३) वालुप्रभा।

(१५७) (४) पंकप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा (७) तमः तमस् प्रभा (महातमप्रभा)। इस प्रकार इन भूमिओं में रहनेवाले नारकी सात प्रकार के हैं।

(१५८) वे सब लोक के एक विभाग में स्थित हैं। अब मैं उनका ४ प्रकार का कालविभाग कहता हूँ:—

(१५९) प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सभी अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से आदि एवं अन्त सहित हैं।

(१६०) पहिले नरक में आयु की जघन्य स्थिति १० हजार वर्षों की और उत्कृष्ट स्थिति एक सागर की है।

(१६१) दूसरे नरक में आयु की जघन्य स्थिति एक सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति तीन सागर की है।

(१६२) तीसरे नरक में आयु की जघन्य स्थिति तीन सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति सात सागर की है।

(१६३) चौथे नरक में आयु की जघन्य स्थिति सात सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति दस सागर की है।

(१६४) पाँचवे नरक में आयु की जघन्य स्थिति दस सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति सत्रह सागर की है।

(१६५) छट्ठे नरक में आयु की जघन्य स्थिति सत्रह सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागर की है।

(१६६) सातवें नरक में आयु की जघन्य स्थिति बाईस सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है।

(१६७) नरक के जीवों की जितनी जघन्य अथवा उत्कृष्ट आयु होती है उतनी ही कायस्थिति होती है।

टिप्पणी—नरक एवं देवगति की पूर्ण आयुष्य भोग लेने के बाद अन्तराल सिवाय दूसरे ही भव में उस गति की प्राप्ति नहीं होती इसी लिये इन दोनों की आयुस्थिति तथा कायस्थिति समान कही है।

(१६८) नारकी जीव अपने शरीर को छोड़ कर उसीको फिर धारण करे-इसके अन्तराल का जघन्य प्रमाण अंतर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१६९) इन नरक के जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

(१७०) तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव, दो प्रकार के कहे हैं:—(१) संमूर्छिम पंचेन्द्रिय और (२) गर्भज पंचेन्द्रिय।

(१७१) इन दोनों के दूसरे ३-३ भेद हैं:—(१) जलचर, (२) स्थलचर, और (३) खेचर (आकाश में उड़नेवाला)। अब क्रम से इन सबके भेद कहता हूँ—उन्हें तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(१७२) जलचर जीवों के ये ५ भेद हैं:—(१) मछली, (२) कछुआ (३) ग्राह, (४) मगर, और (५) सुसुमार (मगरमच्छ आदि)।

(१७३) ये समस्त जीव समस्त लोक में नहीं किन्तु उसके अमुक भाग में ही स्थित हैं। अब उनके कालविभाग को चार प्रकार से कहता हूँ।

(१७४) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से ये सादि-सान्त हैं।

(१७५) जलचर पंचेन्द्रिय जीवों की आयु कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक एक पूर्व कोटी की कही है।

टिप्पणी—एक पूर्व में सत्रह लाख करोड़ और ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे एक करोड़ पूर्व की स्थिति को एक पूर्व की कोटी कहते हैं।

(१७६) उन जलचर पंचेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक पृथक् पूर्व कोटी की है।

टिप्पणी—पृथक् अर्थात् २ से लेकर ९ तक की संख्या।

(१७७) जलचर पंचेन्द्रिय जीव अपनी काया छोड़कर उसी काया को फिर धारण करें उसके अन्तराल का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का एवं उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१७८) स्थलचर पंचेन्द्रिय जीव (१) जो पगवाले हों वे चौपद तथा (२) परिसर्प—ये दो प्रकार के हैं। चौपद के ४ उपभेद हैं उन्हें तुम सुनो:—

(१७९) (१) एक खुरा (घोड़ा, गधा आदि), (२) दो खुरा (गाय, बैल आदि), (३) गंडीपदा (कोमल पद-वाले जैसे हाथी, ऊँट आदि) तथा (४) सनखपदा (सिंह, बिल्ली, कुत्ता आदि)।

(१८०) परिसर्प के दो प्रकार हैं, (१) उरपरिसर्प और (२) भुजपरिसर्प। उरपरिसर्प उन्हें कहते हैं जो छाती से रेंग कर चलते हैं (जैसे, सांप आदि) तथा भुजपरि-सर्प वे हैं जो हाथों से रेंग कर चलते हैं जैसे छिपकली, साँढा आदि)। इनमें से प्रत्येक के अनेकों अवांतर भेद-प्रभेद हैं।

(181) ये सब स्थलचर पंचेंद्रिय जीव सर्वत्र लोक में व्याप्त नहीं है किन्तु उसके अमुक भाग में ही स्थित हैं। अब मैं उनका कालविभाग चार प्रकार से कहता हूँ—।

(182) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयु की अपेक्षा से ये सादि-सान्त हैं।

(183) स्थलचरजीवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रम से अन्तर्मुहूर्त एवं तीन पल्यों की है।

टिप्पणी—पल्य यह काल का अमुक प्रमाण है।

(184) स्थलचर जीवों की कायस्थिति (निरन्तर एक ही शरीर धारण करते रहने की) जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति ३ पल्यसहित दो से लेकर ९ पूर्व कोटि तक की है।

(185) वे स्थलचर जीव अपना एक शरीर छोड़ कर दूसरी बार वही शरीर धारण करें उसके बीच के अन्तराल की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट स्थिति अनंतकाल तक की है।

(186) खेचर जीव चार प्रकार के हैं—(१) चमड़े के पंखवाले (चिमगादड़ आदि), (२) रोम पक्षी (चकवा, हंस आदि), (३) समुद्गपक्षी (जिन पक्षियों के पंख ढंके हुए सन्दूक जैसे हों। ऐसे पक्षी मनुष्यक्षेत्र के बाहर रहते हैं); और (४) वितत पक्षी (सूप सरीखे पंखवाले)।

(187) ये समस्त लोक में नहीं किन्तु लोक के अमुक भाग में ही रहते हैं। अब मैं उनका काल विभाग चार प्रकार से कहता हूँ।

(१८८) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयु की अपेक्षा से वे सादि एवं सान्त हैं।

(१८९) खेचर जीवों की आयुस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त की तथा अधिक से अधिक एक पल्य के असंख्यातवें भाग जितनी है।

(१९०) खेचर जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तमुहूर्त की है और उत्कृष्ट कायस्थिति एक पल्य के असंख्यातवें भाग सहित दो से नौ पूर्व कोटी तक की है।

(१९१) खेचर जीव अपनी काया छोड़ कर उसी काया को फिर धारण करें उसके बीच का अन्तराल कम से कम अन्तर्मुहूर्त का और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का है।

(१९२) उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

(१९३) मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, (१) सम्मूर्छिम मनुष्य और (२) गर्भज मनुष्य। अब मैं उनके उपभेद कहता हूँ सो तुम सुनो।

(१९४) गर्भज (मातापिता के संयोग से उत्पन्न) मनुष्य तीन प्रकार के कहे हैं—(१) कर्मभूमि के, (२) अकर्मभूमि के, और (३) अन्तरद्वीपों के।

टिप्पणी—कर्मभूमि अर्थात् जहां असि, मसि (वाणिज्यकर्म) कृषि आदि कर्म करके जीविका पैदा की जाय। अन्तरद्वीप अर्थात् चूल-हिमवंत और शिखरी इन दो पर्वतों पर ४-४ दाढ़े हैं और प्रत्येक दाढ़ा में सात २ अन्तरद्वीप हैं। वहाँ पर भोगभूमि की तरह जुग-लिया मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

(१९५) कर्मभूमि के १५ भेद हैं. (पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पांच महाविदेह), अकर्मभूमि (भोगभूमि) के ३० भेद हैं—(५ हेमवत, ५ हैरण्यवत, ५ हरिवास, ५ रम्यकवास, ५ देवकुरु, ५ उत्तर कुरु) और ५६ अन्तरद्वीप हैं। ये सब मिल कर एक सौ एक जाति के गर्भज मनुष्य कहे हैं।

(१९६) सम्मूर्छिम मनुष्य भी गर्भज मनुष्य जितने ही (अर्थात् १०१) प्रकार के कहे हैं। ये सब जीव लोक के अमुक भाग में ही विद्यमान हैं, सर्वत्र व्याप्त नहीं है।

टिप्पणी—मातापिता के संयोग बिना ही, मनुष्य के मलों से जो जीव उत्पन्न होते हैं उन्हें सम्मूर्छिम मनुष्य कहते हैं। गर्भज मनुष्य की तरह उसके पर्याप्त तथा अपर्याप्त—ये दो भेद नहीं होते।

(१९७) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि एवं अनन्त हैं किंतु आयुष्य की अपेक्षा से आदि एवं अन्त सहित हैं।

(१९८) गर्भज मनुष्यों की आयुस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त की तथा अधिक से अधिक तीन पल्य कही है।

टिप्पणी—सम्मूर्छिम मनुष्य की आयुस्थिति जघन्य एवं उत्कृष्ट केवल एक अन्तर्मुहूर्त की है। कर्मभूमि के मनुष्य की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट आयुस्थिति एक करोड़ पूर्व की होती है। यहाँ तो सर्व मनुष्यों की अपेक्षा से उपरोक्त स्थिति लिखी है।

(१९९) गर्भज मनुष्यों की कायस्थिति कम से कम अन्तर्मुहूर्त की तथा अधिक से अधिक तीन पल्यसहित पृथक् पूर्व कोटी की है।

टिप्पणी—कोई जीव सात भव में जो १-१ पूर्व कोटी की तथा आठवें भव में ३ पल्य की आयु प्राप्त करे इस दृष्टि से उपरोक्त प्रमाण

लिखा है। मनुष्ययोनि संकलना रूप से सात या आठ भवों तक अधिक से अधिक चालू रह सकती है और उस परिस्थिति में उतनी आयुस्थिति भी हो सकती है।

(२००) गर्भज मनुष्य अपनी काया छोड़ कर फिर उसी योनि में जन्मधारण करे तो इन दोनों के अन्तराल का प्रमाण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त का अथवा अधिक से अधिक अनन्त काल तक का है।

(२०१) गर्भज मनुष्यों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों ही भेद हैं।

(२०२) सर्वज्ञ भगवान ने देवों के ४ प्रकार बताये हैं। अब मैं उनका वर्णन करता हूँ सो तुम ध्यानपूर्वक सुनो। (१) भवनवासी (भवनपति), (२) व्यंतर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

(२०३) भवनवासी देव १० प्रकार के, व्यंतर देव ८ प्रकार के, ज्योतिष्क देव ५ प्रकार के, तथा वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं।

(२०४) (१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुवर्णकुमार, (४) विद्युतकुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) दिग्कुमार, (८) उदधिकुमार, (९) वायुकुमार, और (१०) स्तनितकुमार—ये १० भेद भवनवासी देवों के होते हैं।

(२०५) (१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४ गन्धर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत, (८) पिशाच—ये आठ भेद व्यंतर देवों के हैं।

(२०६) (१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) ग्रह, (४) नक्षत्र, (५) प्रकीर्णक (तारे) ये ५ भेद ज्योतिष्क देवों के हैं। अढाई द्वीप के ज्योतिष्क देव हमेशा गति करते रहते हैं। अढाई द्वीप बाहर के जो ज्योतिष्क देव हैं वे स्थिर हैं।

(२०७) वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं (१) कल्पवासी, और (२) अकल्पवासी (कल्पातीत)।

(२०८) कल्पवासी देवों के १२ प्रकार हैं :—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) महेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक, (६) लांतक।

(२०९) (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत। इन सब स्वर्गों में रहनेवाले देव १२ प्रकार के कल्पवासी देव कहाते हैं।

(२१०) (१) ग्रैवेयक और (२) अनुत्तर ये दो भेद कल्पातीत देवों में है। ग्रैवेयक ९ हैं :—

(२११) ग्रैवेयक देवों की तीन त्रिक (तीन तीन की श्रेणी) हैं, (१) ऊपर की, (२) मध्यम की और, (३) नीचेकी, प्रत्येक त्रिक के (१) ऊपर (२) मध्य और (३) नीचली—ये तीन तीन भेद हैं। (इस तरह ये सब मिलाकर ९ हुए) (१) निचली त्रिक के नीचे स्थान के देव, (२) निचली त्रिक के मध्यम स्थान के देव, और (३) निचली त्रिक के ऊपरी स्थान के देव।

(२१२) (४) मध्यम त्रिक के नीचे स्थान के देव, (५) मध्यम त्रिक के मध्यम स्थान के देव, और (६) मध्यम त्रिक के ऊपरी स्थान के देव ।

(२१३) (७) ऊपर त्रिक के नीचे स्थान के देव, (८) ऊपर की त्रिक के मध्यम स्थान के देव, और (९) ऊपर की त्रिक के ऊपर स्थान के देव—ग्रैवेयक के देवों के ये ९ भेद कहे हैं। और (१) विजय, (२) वैजयंत, (३) जयंत और (४) अपराजित ।

(२१४) और (५) सर्वार्थसिद्धि—ये पांच अनुत्तर विमान हैं। इनमें रहनेवाले वैमानिक देव इस प्रकार से ५ प्रकार के हैं।

(२१५) ये सब देवलोक के अमुक भाग में ही अवस्थित हैं सर्वत्र व्याप्त नहीं हैं। अब मैं उनका कालविभाग चार प्रकार से कहूँगा।

(२१६) प्रवाह की अपेक्षा से तो ये सब देव अनादि अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से सादि-सांत हैं।

(२१७) भवनवासी देवों की आयुस्थिति कम से कम दस हजार वर्षों की और उत्कृष्ट स्थिति एक सागर से कुछ अधिक कही है।

(२१८) व्यंतर देवों की आयुस्थिति कम से कम दस हजार वर्षों की तथा अधिक से अधिक एक पल्य की है ।

(२१९) ज्योतिष्क देवोंकी आयुस्थिति जघन्य एक पल्य के आठवें भाग की तथा उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष सहित एक पल्य की है ।

(२२०) सौधर्म स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक पल्य की तथा दो सागर को है।

(२२१) ईशान स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १ पल्य तथा २ सागर से कुछ अधिक की है।

(२२२) सनत्कुमार स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २ सागर तथा ७ सागर की है।

(२२३) महेन्द्र स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २ सागर से कुछ अधिक तथा ७ सागर से कुछ अधिक की है।

(२२४) ब्रह्मलोक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः ७ सागर की तथा १० सागर की है।

(२२५) लांतक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १० सागर की तथा १४ सागर की है।

(२२६) महाशुक्र स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १४ सागर की तथा १७ सागर की है।

(२२७) सहस्रार स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १७ सागर की तथा १८ सागर की है।

(२२८) आनत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १८ सागर की तथा १९ सागर की है।

(२२९) प्राणत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः १९ सागर की तथा २० सागर की है।

(२३०) आरण स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २० सागर की तथा २१ सागर की है।

(२३१) अच्युत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २१ सागर की तथा २२ सागर की है।

(२३२) प्रथम ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २२ सागर की तथा २३ सागर की है।

(२३३) द्वितीय ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों का जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २३ सागर की तथा २४ सागर की है।

(२३४) तृतीय ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २४ सागर की तथा २५ सागर की है।

(२३५) चौथे ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २५ सागर की तथा २६ सागर की है।

(२३६) पांचवे ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २६ सागर की तथा २७ सागर की है।

(२३७) छट्ठे ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २७ सागर की तथा २८ सागर की है।

(२३८) सातवें ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २८ सागर की तथा २९ सागर की है।

(२३९) आठवें ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २९ सागर की तथा ३० सागर की है।

(२४०) नौवें ग्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः ३० सागर की तथा ३१ सागर की है।

(२४१) (१) विजय (२) वैजयंत (३) जयंत (४) अपराजित—इन चारों विमानों के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रमशः ३१ सागर तथा ३३ सागर की है।

(२४२) पांचवें सर्वार्थसिद्धि नामक महाविमान में सब देवों की आयुस्थिति पूरे ३३ सागर की है। इससे अधिक या कम नहीं है।

(२४३) देवों की जितनी जघन्य अथवा उत्कृष्ट आयुस्थिति है उतनी ही उनकी कायस्थिति सर्वज्ञ भगवान ने कही है।

टिप्पणी—देवगति की आयुष्य पूर्ण होते ही दूसरा भव देवगति में नहीं होता। देव होने के बाद अन्य गति में जाना पड़ता है।

(२४४) देव अपनी काया छोड़कर उस काया को फिर पावें इस अन्तराल का प्रमाण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त का अथवा उत्कृष्ट अनंतकाल तक का है।

(२४५) उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

(२४६) इस तरह रूपी तथा अरूपी—इन दो प्रकार के अजीवों, तथा संसारी एवं सिद्ध इन दो प्रकार के जीवों का वर्णन किया।

(२४७) मुनि को उचित है कि यह जीव एवं अजीव संबंधी विभाग को ज्ञानी पुरुष के द्वारा बराबर समझे—समझकर उस पर दृढ़ प्रतीति लावे और सर्व प्रकार के नय निक्षेप (विचारों के वर्गीकरण) द्वारा बराबर घटाकर ज्ञानदर्शन की प्राप्ति करे और आदर्श चारित्र में लीन हो।

(२४८) इसके बाद बहुत वर्षों तक शुद्ध चारित्र को पालन कर निम्नलिखित क्रम से अपनी आत्मा का दमन करे।

(२४९) (जिस तपश्चर्या द्वारा पूर्वकर्मों तथा कषायों का क्षय होता है ऐसी दीर्घ तपश्चर्या की रीति बताते हैं) वह

संलेखना (आत्मदमन करनेवाली) तपश्चर्या कम से कम ६ महीने की, मध्यम रीति से एक वर्ष की और अधिक से अधिक १२ वर्षों तक की होती है।

(२५०) प्रथम चार वर्षों तक पांच विगय (घी, गुड़, तैल, दही, दूध) का त्याग करे और फिर बाद के चार वर्षों तक भिन्न २ प्रकार की तपश्चर्या करे।

(२५१) नौवें तथा दसवें वर्ष—इन दोनों वर्षों तक उपवास एवं एकान्तर उपवास के पारणा के बाद आयंबिल करे और ग्यारहवें वर्ष के पहिले ६ महीने तक अधिक तपश्चर्या न करे।

(२५२) ग्यारहवें वर्ष के अन्तिम ६ महीनों में तो छठ, आठम आदि कठिन तपश्चर्याएं धारण करे और बीच बीच में उसी संवत्सर में आयंबिल तप भी करे।

टिप्पणी—आयंबिल अर्थात् रसविहीन भोजन मात्र एक ही बार ग्रहण करना।

(२५३) वह मुनि बारहवें वर्ष के प्रारंभ तथा अन्त में एक सरीखा तप करे (प्रथम आयंबिल, बीच में दूसरा तप और उस वर्ष के अन्त में आयंबिल करे उसे कोटी सहित आयंबिल तप कहते हैं) और बीच २ में मासखमण या अर्धमास खमण जैसी छोटी मोटी तपश्चर्याएं करके इन बारह वर्षों को पूर्ण करे।

टिप्पणी—ऐसी तपश्चर्याएं करते समय बीच में अथवा तपश्चर्या के पीछे मृत्यु आने का अवसर हो तब मृत्यु पर्यंत का अणसण धारण

करना होता है जिसकी विधि आगे लिखी है। उस समय शुभ एवं शांति भाव रखना जरूरी है।

(२५४) (१) कांदर्पी, (२) आभियोगी, (३) किल्विषिकी, (४) आसुरी आदि अशुभ भावनाएं मृत्यु समय आकर जीव को बहुत कष्ट देती हैं और वे सब दुर्गति की ही कारणभूत हैं।

(२५५) जो जीव मिथ्यादर्शन (असत्य प्रेमी) में लीन, आत्म-घात करनेवाले अथवा नियाण (निदान-तप की सांसारिक भोगोपभोग की इच्छा) करते हैं और उक्त तीन प्रकार की भावनाओं में मृत्युप्राप्त होते हैं उन आत्माओं को बोधिलाभ होना बहुत २ दुर्लभ है।

टिप्पणी—बोधिलाभ अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति।

(२५६) जो जीव सम्यग्दर्शन में लीन, निदानरहित और शुक्ल लेश्याधारी होते हैं और इन्हीं की आराधना करते हुए मृत्यु प्राप्त होते हैं उन जीवों को (दूसरे जन्मों में भी) बोधिबीज की बड़ी आसानी से प्राप्ति हो जाती है।

(२५७) जो जीव मिथ्यादर्शन में लीन, कृष्ण लेश्याधारी और निदान करते हैं और ऐसी भावना में मृत्यु प्राप्त होते हैं ऐसे जीवों को बोधिलाभ होना अति अति दुर्लभ है।

(२५८) जो जीव जिन भगवान के वचनों में अनुरक्त रहकर भाव-पूर्वक उन वचनों के अनुसार आचरण करता है वह पवित्र (मिथ्यात्व के मेल से रहित) एवं असंक्लिष्ट (रागद्वेष के क्लेशरहित) होकर थोड़े ही समय में इस दुःखद संसार को पार कर जाता है।

टिप्पणी—जिन अर्थात् रागद्वेष से सर्वथा रहित परमात्मा।

(२५९) जो जीव जिन वचनों को यथार्थ रीति से जान नहीं सकते हैं वे बिचारे अज्ञानीजीव बहुत बार बालमरण तथा अकाममरण को प्राप्त होते हैं।

(२६०) (अपने दोषों की आलोचना कैसे ज्ञानी सत्पुरुषों के पास करनी चाहिये उनके गुण बताते हैं) जो बहुत से शास्त्रों के रहस्यों का जानकार हो; जिनके वचन समाधि (शान्ति) उत्पन्न करनेवाले हों, और जो केवल गुण का ही ग्रहण करते हों—ऐसे ज्ञानीपुरुष ही दूसरों के दोषों की आलोचना करने के योग्य हैं।

(२६१) (१) कंदर्प (कायकथा का संलाप), (२) कौत्कुच्य (मुख द्वारा विकार भाव प्रकट करने की चेष्टा), (३) मौखर्य (हँसीमजाक अथवा किसी का निंदाव्यंजक अनुकरण) तथा कुकथा एवं कुचेष्टाओं से दूसरों को विस्मित करनेवाला जीव कांदर्पी भावना का दोषी है।

(२६२) रस, सुख, अथवा समृद्धि के लिये जो साधक वशीकरण आदि के मन्त्र अथवा मंत्र-जंत्र (गंडे ताबीज़ आदि) करता है वह आभियोगी भावना का दोषी है।

टिप्पणी—कांदर्पी तथा आभियोगी आदि दुष्ट भावना करनेवाला यदि कदाचित देवगति प्राप्त करे तो वह हीन कोटि का देव होता है।

(२६३) केवलीपुरुष ज्ञान, धर्माचार्य, तथा साधु साध्वी एवं श्रावक श्राविका की जो कोई निन्दा करता है तथा कपटी होता है वह किल्बिषीकी भावना का दोषी है।

(२६४) निरन्तर जो गुस्से में भरा रहता है, मौका आने पर जो शत्रु का सा आचरण करता है—ऐसे २ अन्य दुष्ट कार्यों में प्रवर्तनेवाला जीव आसुरी भावना का दोषी है।

टिप्पणी—निमित्त शब्द का अर्थ निमित्तशास्त्र भी होता है और वह एक ज्योतिष का अंग है। उसको झूंठ मूंठ देखकर जो कोई जनता को ठगता फिरता है वह भी आसुरी वृत्ति का दोषी है।

(२६५) (१) शस्त्रग्रहण (शस्त्र आदि से आत्मघात करना), (२) विष (द्वारा आत्मघात करना), (३) ज्वलन (अग्नि में जल मरना), (४) जलप्रवेश (पानी में डूब मरना) अथवा (५) अनाचारी उपकरण (कुटिल कार्यों) का सेवन करने से जीवात्मा अनेक भवपरंपराओं का बंध करता है।

टिप्पणी—अकालमरण से जीवात्मा मुक्त होने के बदले दुगुना बंध जाता है।

(२६६) इस प्रकार भवसंसार में सिद्धि को देनेवाले ऐसे उत्तम इन छत्तीस अध्ययनों को सुन्दर रीति से प्रकट कर केवलज्ञानी भगवान ज्ञातपुत्र आत्मशान्ति में लीन हो गये।

टिप्पणी—जीव और अजीव इन दोनों के विभागों को जानना जरूरी है उनको जानने के बाद ही नारकी एवम् तिर्यंच गति के दुःख और मनुष्य एवं देवगति के सुखदुःखपूर्ण इस विचित्र संसार से छूटने के उपाय को अजमाने की उत्कट अभिलाषा प्रकट होती है। ऐसी उत्कट अभिलाषा के बाद आत्मा का समभाव उस उच्चकोटि को पहुँच

जाता है जहाँ वह दुःख में भी सुख, वेदना में भी शांति का अनुभव करने लगता है। परम प्रगाढ़ सन्तोष की भावनाएँ उसके हृदय समुद्र में हिलोरे मारने लगती हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ—

इस प्रकार 'जीवाजीवविभक्ति' संबंधी छत्तीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

ॐ शान्तिः! ॐ शान्ति!! ॐ शान्ति!!!